हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की मध्यमा परीक्षा में
निश्चित सफलता प्रदान कराने वाली पुस्तक

अशोक हिन्दी मध्यमा गाइड

रचियता
श्री शिवप्रसाद शास्त्री, एम० ए०
श्री कृष्णानन्द एम० ए०, साहित्यरत्न
श्री मोहनलाल 'रत्नाकर' साहित्यरत्न
श्री कृष्णदेव शर्मा एम० ए०

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की मध्यमा परीक्षा में
निश्चित सफलता प्रदान कराने वाली पुस्तक

अशोक हिन्दी मध्यमा गाइड

सं० २०२६ संस्करण (१९७२ के लिए)

लेखक

प्रो० कृष्णदेव वर्मा

प्रो० शिवप्रसाद शास्त्री

प्रो० नरेन्द्र एम. ए.

प्रो० कृष्णानंद एम. ए

प्रकाशक

प्रकाशकीय

आज हमें आपकी प्रिय 'अशोक हिन्दी मध्यमा गाइड' का नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार संस्करण प्रकाशित करते हुए अतुल हर्ष का अनुभव हो रहा है।

'अशोक हिंदी मध्यमा गाइड' को छात्र समुदाय ने अब तक जिस स्नेह से अपनाया है, निस्सन्देह हमारे लिए वह संजीवनी है, जो हमें बल एवं शक्ति प्रदान कर आपकी सेवा में सतत सलग्न रहने की प्रेरणा देती रही है। उसी प्रेरणा से यह संशोधित सस्करण का भी निर्माण हुआ है। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यदि हमें उनका यह सहयोग प्राप्त होता रहा तो हम इसे भविष्य में अधिक से अधिक उपयोगी और आकर्षक बनाने में अपनी ओर से कुछ भी नहीं उठा रखेंगे।

नये पाठ्यक्रम की 'अशोक हिन्दी मध्यमा गाइड' अब आपके सामने है यह कैसी है, इसे अपनी कसौटी पर कसिए और अपने सुझाव हमारे पास भेजिए ताकि अगले संस्करण में हम उनका समावेश कर आपको अधिक संतुष्ट कर सकें।

अन्त में हम अपने सामान्य लेखक सर्वश्री कृष्णदेव शर्मा, नरेन्द्र एम.ए., शिवप्रसाद शास्त्री, एव कृष्णानन्द का आभार स्वीकार करते हुए उनका अभिनन्दन करते हैं तथा परीक्षार्थियों के साफल्य-लाभ की कामना करते हैं।

—प्रकाशक

विषय-सूची

प्रथम-पत्र

(५।१६)

तैयार करने की विधि

इस पत्र में निम्नलिखित पुस्तकें पाठ्यक्रम में नियत है—

१—ब्रजमाधुरी सार	५० अंक
२—नवीन सूर संग्रह	२५ अंक
३ – नवीन तुलसी संग्रह	२५ अंक
	कुल योग १०० अंक

प्रश्नों की दृष्टि से अंक विभाजन

१—व्याख्येय अंश	७० अंक
२—आलोचनात्मक प्रश्न	३० अंक

कविता की व्याख्या ७० अंक की पूछी जायगी। उस अवस्था में आलोचनात्मक प्रश्न २ या ३ ही आते हैं। आलोचनात्मक प्रश्न प्राचीन कवियों पर ही पूछे जाएँगे। प्रश्नों का अनुपात परीक्षक की इच्छा पर निर्भर है। वह घटा-बढ़ा भी देता है।

व्याख्येय अंशों वाले प्रश्न में विकल्प पर्याप्त रहता है। इसलिए छात्रों को पर्याप्त सुविधा रहती है। जैसे कि ८ व्याख्येय अंश पूछने पर आपको केवल ४ की व्याख्या करनी होगी और ६ पूछने पर ३ की, इसलिए छात्रों को इस प्रश्न में पर्याप्त सुविधा रहती है। वे विचार कर इनको भली प्रकार ठीक-ठीक लिख सकते हैं।

व्याख्या का प्रकार

व्याख्या का अर्थ पद्य का सरलार्थ मात्र नहीं होता। कविता का सरलार्थ, भावार्थ, कवि का मुख्य तात्पर्य कविता का प्रकार, उसमें लिखने वाला विशेष प्रभाव, चमत्कारपूर्ण अंश काव्य सम्बन्धी तत्व और पद्य का महत्व आदि सभी कुछ व्याख्या में आ जाता है। इससे व्याख्येय भाग का स्पष्टीकरण हो जाता है और कोई बात शेष नहीं रहती। इसलिए छात्रों को व्याख्या करते समय नीचे लिखे मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

कवि निर्देश सम्बन्धी अवतरण— व्याख्यारम्भ से पहले पद्य के रचयिता और उस पुस्तक का जिससे कि पद्यांश पूछा गया है, नाम देना चाहिए। हो सके तो यह प्रकरण भी देना चाहिए जहाँ से पद्य लिया गया है, जिस पद्य संग्रह में से दिया गया हो तो उस पुस्तक का निर्देश करना चाहिए, जिस पुस्तक में संग्रह किया गया हो। इसके पश्चात कवि का वक्तव्य, वक्ता और श्रोता का निर्देश करना चाहिए। यदि कथा चल रही हो तो पहले समाप्त हुए कथा सूत्र से सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। तब दिए गए अवतरण का सरलार्थ देना चाहिए। सरलार्थ के पश्चात वास्तविक तात्पर्य स्पष्ट करना चाहिए। तब भावार्थ लिखकर कविता का स्वरूप बतलाना चाहिए कि उत्तम हैं या साधारण, किसी वाद से सम्बन्ध हो तो उसका भी निर्देश करना चाहिए, अलंकार हो तो उसका भी निर्देश करें, यही उत्तम व्याख्या होती है और अंक भी अधिक मिलते हैं।

कभी-कभी कविता का शब्दार्थ कुछ और होता है भावार्थ और, तब पहले शब्दार्थ देकर बाद में भावार्थ देना चाहिए। नवीन कविताओं में प्रायः भावार्थ विशेष गम्भीर होता है। उसका स्पष्टीकरण अंक प्राप्ति के लिये आवश्यक है।

परीक्षार्थियों की सफलता आलोचनात्मक प्रश्नों पर बहुत कुछ निर्भर रहती है, क्योंकि ऐसे प्रश्न ३० से ४० अंक तक के रहते हैं। यह प्रश्न किसी विशेष कविता के सम्बन्ध में कवि के दृष्टिकोण या काव्य-कौशल के सम्बन्ध में होते हैं। इसके प्रकार निम्नलिखित हैं—

१. तुलसी संग्रह के आधार पर तुलसी की भावुकता पर भली-भाँति प्रकाश डालिए।

२. 'रत्नाकर' ने भ्रमरगीत के घिसे-पिटे विषय को ही मौलिकता प्रदान की है, इस कथन का विवेचन कीजिए।

३. सूरदास प्रेम-माधुर्य के अमर कवि हैं, स्पष्ट कीजिए.

उपर्युक्त प्रश्नों को देखने से परीक्षार्थी भली प्रकार समझ गए होंगे कि आलोचनात्मक प्रश्नों में कितनी विविधता होती है। कुशल परीक्षार्थी का कर्तव्य यह हो जाता है कि उत्तरों का साँचा प्रश्न के अनुसार तैयार करे, इसके लिए परीक्षार्थियों को नीचे लिखे मार्ग का आलम्बन करना चाहिए।

१. पाठ्यक्रम में नियत सभी पुस्तकों का एक बार भली-भाँति अध्ययन करना भी आवश्यक है।

२. गाइड में दी हुई कवियों पर आलोचनाओं को भली प्रकार समझ ले और विशेष बातों को तो कण्ठस्थ कर ले।

३. विशेष प्रवृत्ति वाले कवियों की काव्यगत विशेषताओं और शैलियों को स्मरण करना परीक्षा की दृष्टि से आवश्यक है।

४. आलोचनात्मक प्रश्नों के लिए कुछ उपयोगी उद्धरण कण्ठस्थ कर लें, क्योंकि इनके बिना उत्तर निर्जीव होंगे और अपूर्ण भी रहेंगे। मूल पुस्तक पढ़ने का समय रखने वाले छात्र कम से कम गाइड में दिया हुआ पूर्ण विषय तैयार कर लें तो उन्हें सफलता निश्चय मिलेगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

ब्रजमाधुरी सार

प्रश्न १—"और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया" इस उक्ति को ध्यान रखते हुए नन्ददास के काव्य के गुण-दोष का विश्लेषण कीजिए।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २०१०)

उत्तर—नन्ददास कृष्ण-भक्ति-शाखा और 'अष्टछाप' के सूरदास के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ कवि थे। ये बहुत विद्वान थे। इनकी रचनाओं में सर्वत्र इनका वैदुष्य प्रकट होता है। इनकी कुछ पाण्डित्य-पूर्ण रचनाएँ भी हैं जिनमें 'अनेकार्थमाला' प्रसिद्ध है। पूरे पद्यों में शब्द के विभिन्न अर्थ गिनाए गए हैं। इसी प्रकार की अन्य रचना 'नाम माला' है, जिसमें वस्तुओं के नाम गिनाने के साथ-साथ साहित्यिक सामग्री भी गिनाई गई है।

नन्ददास जी की विशेषता, उनके उक्ति-वैचित्र्य, तार्किकता, भाषा-सौष्ठव आदि के कारण है। इनकी रचनाओं में अतीव माधुर्य विद्यमान है। उनकी 'रास पञ्चाध्यायी' बहुत ही सुन्दर रचना है जिसमें भाव-व्यंजना के साथ-साथ प्रकृति वर्णन भी सुन्दर है। रूप-माधुर्य के वर्णन में धारा-प्रवाह इतना है कि मानो रूपामृत की धारा ही निरन्तर बह रही है। 'रास-पञ्चाध्यायी' के आरंभ में शुकदेव का वर्णन देखिए—

नीलोत्पल-दल-स्याम अंग नव जोवन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख कमल, मनों अलि अवलि विराजै।
सुन्दर भाल विसाल दिपति जनु निकट निसाकर।
कृष्ण भक्ति प्रतिबिम्ब तिमिर को कोटि दिवाकर।
कृपा-रंग-रस अयन नयन राजत रतनारे।
कृष्ण-रसामृत पान-अलस कछुक घमारे।

\+ \+ \+

उन्नत नासा, अधर बिम्ब, सुक छवि छीनी॥
तिन बिच अदभुत भांति लसत कछु इक मसि भीनी।

यद्यपि यह रूपवर्णन प्राचीन परम्परा के समान ही है तथापि इसमें अद्भुत चमत्कार और सजीवता है।

प्रकृति-वर्णन से नन्ददास जी कई काम लेते हैं। उदाहरणार्थ मुख्य हैं:—

१—वातावरण की सृष्टि, २—भावोद्दीपन, ३—भावव्यंजना के लिए आश्रय। वातावरण की सृष्टि के लिए रास क्रीड़ा के पूर्व चन्द्रोदय का वर्णन देखिये —

ताही छिन उडुराज उदित रस रास सहायक।
कुमकुम मंडित बदन प्रिया जनु नागरि नायक।
कोमल किरन अरुन मानों बन व्याप रही त्यों।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों।।
फटिक-छटा सी किरन कुंज रध्रन जब आई।
मानहु वितन वितान सुदेश तनाव तनाई।
मन्द मन्द चल चारु चन्द्रमा अति छवि पाई।
झलकत है जनु रमा रमन पिय कौतुक आई।।

भावोद्दीपन की योजना भी उपर्युक्त पंक्तियों में है।

प्रकृति के माध्यम से भाव-व्यंजना का उदाहरण देखिये। श्रीकृष्ण ने मुरली बजाई, गोपियाँ मंत्र-मुग्ध-सी वन में भागी चली आईं, पर उन्हें कृष्ण नहीं मिले। इस पर प्राकृतिक उपादानों से पुकार-पुकार कर गोपियाँ कहती हैं—

हे चन्दन, दुख दमन, सब की जरनि जुड़ावहु।
नन्द नंदन जनबंदन चंदन हमहु बतावहु।।

इन पंक्तियों में चन्दन का यौगिक अर्थ किस रूप में दिखाया है। क्योंकि यह आनन्ददायक और शीतल है, इसलिए 'चन्दन' है। अतः इससे विरह-जन्य संताप की निवृत्ति सर्वथा सम्भव है।

नन्ददास की प्रकृति कृष्ण के साहचर्य से हँसती-रोती है। कृष्ण का सामीप्य ही लताओं को हरी-भरी और पुष्पित करता है। नन्ददास की गोपियों को प्रकृति का प्रत्येक उपकरण सजीव और बोलता दिखाई देता है। तभी तो वे प्रत्येक फूल और यमुना से पूछती हैं:

हे चम्पक, हे कुसुम तुम्हें छवि सब तें न्यारी।
नैकु बताउ जु देउ जहां हरि कुंज बिहारी।।

प्रकृति के उपकरणों को वे व्युत्पत्ति के साथ उपस्थित करते हैं—

'हे अशोक, हरि सोक, लोकमनि पियहि बताबहु,
अहो पनस, सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु

पुष्टि-मार्ग एवं श्रीकृष्ण-चरित्र में मुरली का बड़ा महत्व है। वह योगमाया की प्रतीक है जो कि जीवात्मा रूपी गोपियों का मानो हरण करती है। उसका प्रभाव सूरदास से लेकर रसखान तक सभी कृष्ण कवियों ने वर्णित किया है। नन्ददास का वर्णन उनमें विशेष आकर्षण रखता है। मुरली के स्वरूपवर्णन में ही प्रभाव का वर्णन करते हुए नन्ददास कहते हैं—

तब लीन्ही कर कमल जोग माया सी मुरली।
अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरन सुर जुरली॥
जाकी धुनि तें निगम अगम प्रगटहिं बड़नागर।
नाद ब्रह्म की जानि मोहिनी तब सुख सागर॥

मुरली के स्वर का जादू दार्शनिक रूप में देखिए—

मोहन-मुरली नाद स्रवन कीनों सब किनहूं।
जथा जथा विधि रूप, तथा बिधि परस्यौ तिनहूं॥
तरनि किरन ज्यों मनि पषानु सबहिन के दरसे।
सूरज काँति मनि बिना नही कहूं पावक दरसे॥

सूर्यकान्तमणि पर सूर्य-किरणों का प्रतिविम्ब किस प्रकार दाह-शक्ति उत्पन्न करता है, इससे नन्ददास ने आकर्षण की गहनता सूचित की है।

नन्ददास व्यापारों के शब्द-चित्र और मुद्रा का वर्णन करने में भी सिद्ध-हस्त हैं। नीचे लिखे शब्दों से रासलीला का प्रत्यक्ष आनन्द ले सकते हैं—

नूपुर कंकन किंकनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग, उपंग चंग एकै सुर जुरली।
मृदुल मधुर टंकार, ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार, भंवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पटकनि,चटकनि करतारिन कीं।
लटकनि, मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की॥

इस वर्णन में वस्तुवर्णन एवं व्यापार-वर्णन का वैचित्र्य दोनों ही देखने योग्य हैं। साथ ही नाद-सौन्दर्य की रागात्मकता भी विशेष दर्शनीय एवं श्रवणीय है।

नन्ददास की दूसरी प्रसिद्ध रचना 'भ्रमर गीत' है। यद्यपि इसका विषय सूरदास के 'भ्रमरगीत' से पृथक् नहीं है तथापि इसमें कुछ मौलिकता है। उक्ति-वैचित्र्य, दार्शनिक वाद-विवाद और वक्रोक्तियों के कारण उसमें सरसता आ गई है। व्यंग्य-विनोदि का भाव भी प्रखर है। कवि ने इसके द्वारा पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों का भी प्रभावशाली प्रतिपादन किया है।

नन्ददास का कलापक्ष—भाव-भूमि में तो सूरदास भले ही नन्ददास से पहले दर्जे पर हों किन्तु जहाँ तक कलापक्ष का प्रश्न है, वहाँ नन्ददास कुछ आगे बढ़े दिखाई देते हैं। नन्ददास की भाषा सूर किसी स्वाभाविक एवं बोल-चाल की न होकर साहित्यिक है। वह संस्कृत की कोमल पदावली से संपुटित एवं परिष्कृत है। उसमें भाव-व्यंजना और प्रस्तुत रस की अभिव्यक्ति के योग्य क्षमता है। माधुर्य एवं प्रसाद का विशेष प्रयोग है और उस पर नन्ददास को असाधारण अधिकार है। उसमें प्रबन्ध-रचना की योग्यता आ गई है। 'भ्रमर-गीत' में तो नन्ददास ने नये ही छन्द की सृष्टि की है। दो चरण रोला के और शेष दो चरणों में दोहा रखा गया है। अन्त में एक टेक के रूप में अधूरी पंक्ति दी है जो कि चरणों की ध्वनि को अधिक समय तक गुँजाती रहती है।

अलंकारों के प्रयोग में नन्ददास किसी से पीछे नहीं हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

वृत्यनुप्रास एवं छेकानुप्रास की संसृष्टि—

मानहुं वितन सुदेस तनाव तनाई,

इस में श्रुत्यनुप्रास और उत्प्रेक्षा की भी सुन्दर योजना है।

उत्प्रेक्षा की छटा—**नीलोत्पल दल स्याम अंग नवजोबन भ्राजै**
कुटिल अलग मुख-कमल, मनो अलि अवलि विराजै।

इसी में उपमा का सौंदर्य भी मिल सकता है।

उदाहरण अलंकार—**मोहन मुरली नाद स्रवन कीनों सब किनाहूं :**
जथा-जथा विधि रूप, तथा विधि परस्यौ तिनहूं।

निरुक्ति अलंकार—**हे असोक हरि सोक, लोक मन पियहि बतावहु।**

रूपक अलंकार—**"यह उज्ज्वल रसमाल, कोटि जतनन करि पोई।**
सावधान होइ पहिरौ, इहि तोरौ मति कोई॥

अप्रस्तुतप्रशंसा—**तरनि अकास प्रकास तेज मय रह्यौ दुराई।**
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यौ जाई॥

जिनकी वे आँखें नहीं, देखे कब वह रूप।
तिन्हें सांच क्यों ऊपजै परे कर्म के कूप॥

इस प्रकार नन्ददास के काव्यों में विविध अलंकारों की सहज स्वाभाविक छटा देखी जा सकती है।

नन्ददास की कविता वास्तव में अति सरस और सम्पूर्ण कला मण्डित सिद्ध होती है। उसका शब्द-चयन अत्यन्त मधुर, भावमय और समर्थ है, एक-एक शब्द छँटा हुआ और फिट किया हुआ प्रतीत होता है। अतः किसी ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है :—

'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'

प्रश्न २ :—नन्ददास के 'भ्रमर-गीत' या 'भंवरगीत' की विशेषताओं का सोदाहरण प्रतिपादन कीजिये।

उत्तर :—भारतीय काव्यों में 'भ्रमर-गीत' की परम्परा एक उपालंभ काव्य के रूप में अत्यन्त प्राचीन है। डॉ० हरिवंशलाल शर्मा ने इस प्रकार की परम्परा का आरम्भ कालिदास के 'शाकुन्तलम्' नाटक से स्वीकार किया है। वहाँ अपने पति दुष्यन्त को शकुन्तला के प्रति आसक्त देखकर उस की पहली पत्नी हंसपादिका उपालंभ देते हुए पति के मनकी तुलना भंवरे के साथ करती है। उसके वाद प्राकृतों और अपभ्रंशों में भी इस परम्परा का सामान्य रूप मिलता है। हिन्दी में उपालम्भ काव्यों के इस रूप का प्रथम परिचय कृष्ण-भक्त कवि सूरदास के 'सूरसागर' में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। सूरदास और नंददास आदि समस्त कृष्ण भक्त कवियों के 'भंवर' या 'भ्रमर' गीतों का आधार श्रीमद्भागवत् पुराण का दशम स्कन्ध ही है। वहाँ भी भ्रमर का उल्लेख मिलता है और भ्रमर को देख कर कृष्ण के हरजाईपन का चित्रण गोपियां उद्धव के समक्ष करती हैं। पर भागवत् के भ्रमर-प्रसंग और कृष्ण-भक्तों के भ्रमर गीतों के प्रसंग में मौलिक अन्तर यह है कि वहां तो इस प्रसंग का वर्णन गोपियों का ध्यान कृष्ण की ओर से हटाने के लिए किया गया है और वहां से हटा कर निराकार ब्रह्म की ओर लगाने को कहा गया है। वहां उद्धव इस बात में सफल भी हो जाते हैं, पर कृष्ण-भक्तों ने इस प्रसंग को कृष्ण-प्रेम का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए ही किया है। प्रेम-भक्ति की ज्ञान-योग पर विजय ही इन का उद्देश्य है। इसी कारण इस प्रसंग

का प्रायः सभी ने वियोग शृंगार के चित्रण का माध्यम बनाया है। इन के द्वारा 'भंवर-गीत' या 'भ्रमर-गीत' प्रसंग का एक परोक्ष उद्देश्य भी है और वह है—निर्गुणवाद का खण्डन। खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति समूचे भक्ति काव्य में पाई जाती है। अन्तर बस इतना ही है कि अक्खड़ और अनपढ़ होने के कारण निर्गुणवादी सन्तों ने स्पष्ट रूप से अपना मत प्रतिपादित करने के लिए अनिच्छित एवं अन्यों के मतों का खण्डन किया, जब कि इन सगुणवादियों ने खण्डन के लिए कोई न कोई बहाना खोज लिया।'

ऊपर यह कहा जा चुका है कि हिन्दी काव्य के क्षेत्र में 'भ्रमर गीत' परम्परा के प्रथम कवि सूरदास ही हैं। उनके बाद प्रायः सभी कृष्ण-भक्त-कवियों ने न्यूनाधिक रूप से इस परम्परा का पालन किया। रीतिकाल में भी सामान्यतया इस परम्परा का उल्लेख मिलता है। आधुनिक काल के प्रथम चरण ही नहीं बल्कि द्विवेदी युग के दूसरे चरण तक यह परम्परा देखी-पढ़ी जा सकती है। आधुनिक काल को छोड़कर प्राचीन कवियों में कृष्ण-काव्य-कारों और विशेष करके 'भ्रमर-गीत' लिखने वालों में सूरदास के बाद अष्ट-छाप के सबसे छोटी आयु के कवि नन्ददास के 'भंवर-गीत' का विशेष महत्त्व माना जाता है। नन्ददास के 'भंवर-गीत' का मूल आधार भी भागवत् पुराण ही है और वर्ण्य-विषय उद्धव-गोपी सम्वाद के द्वारा प्रत्यक्षतः वियोग शृंगार का चित्रण करना ही है। सूरदास के समान नन्ददास के कृष्ण भी गोकुल-बिहारी, नट-नागर, रास रचैया और इस कारण ब्रज की गोपियां ही नहीं, अन्य सब के भी प्राण वल्लभ हैं। अतः अपने पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय की मूल भावना और सिद्धान्तों के अनुसार नन्ददास ने इसमें कृष्ण को साक्षात् भगवान बताकर हर प्रकार से उनका अनुग्रह प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की है।

जब हम निरपेक्ष भाव से नन्ददास के 'भँवर-गीत' पर विचार करते हैं तो सबसे पहली बात हमारे सामने यह आती है कि उसका उद्धव गोपियों को ज्ञान-योग का उपदेश देने के उद्देश्य से ही मथुरासे चल कर ब्रजभूमि तक आया है :

"ऊधव का उपदेश सुनो व्रजनागरी।
रूप-सील लावण्य सबै गुन आगरी॥

प्रेम-धुजा रस रूपिनी, उपजावत सुखपुंज।
सुन्दर स्याम विलासिनी, नव वृन्दाबन कुंज
सुनो ब्रजनारी ॥

इस पद्य के पढ़ने से नन्ददास की गोपियों के अन्य अनेक गुणों का भी पता चल गया है कि आगे चलकर जिनका आभास उनके व्यक्तित्त्व में स्पष्ट देखने को मिलता है। वह यह कि नन्ददास का उद्धव तो बुद्धिवादी और तार्किक है ही नहीं, उसकी गोपियां भी इस कला में विशेष निपुण हैं। तर्क के साथ-साथ सूरदास की गोपियों के व्यक्तित्त्व में दर्शनिकता की पुट भी विशेष रूप से देखी जा सकती है। सूरदास के उद्धव तो गोपियों की प्रत्येक बात के मौन श्रोता मात्र वन करके रह जाता है, पर यहाँ वह बात नहीं। यहां का उद्धव केवल उत्तर ही नहीं देता, बल्कि अपने मत के प्रतिपादन के लिए गोपियों की बातों और मत का खण्डन भी करता है। इस कारण नन्ददास के 'भंवर-गीत' में एक विशेष प्रकार की, स्पष्ट सम्वादात्मकता की योजना हो गई है। इस तर्क पूर्ण सम्वादात्मकता और उत्तर-प्रत्युत्तर का एक उदाहरण देखिए। उद्धव अपने मत का तर्कपूर्ण प्रतिपादन करते हुए कहते हैं।

"जो उनके गुन होय वेद क्यों नेति बखानै ?
निरगुन सगुन आत्म रुचि ऊपर सुख सानै ॥
वेद-पुरानिन खोजिकै, पायौ कितहूं न एक।
गुनहिं के गुन होहिं ते, कहौ अकासहिं टेक ॥
सुनो व्रज नागरी ॥

उद्धव की यह तर्कपूर्ण वात गोपियों के गले नहीं उतरती। अतः वे भी उसी तर्क का आधार बना कर कहती है :

"जो उनके गुन नाहिं, और गुन भाए कहां तें।
बीज बिना तरुन जायै मोहि तुम कहौ कहाँ तें ॥
वा गुन की परछांह री माया-दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भये, अमल बारिमिली कीच।
सखा सुनु स्यामके ॥

इसके अतिरिक्त नन्ददास के 'भ्रम-रगीत' को पढ़कर यह स्पष्टतः आभास मिलने लगता है, कि यहाँ कवि अपनी बात कहने के लिए स्वयं तैयार होकर सामने

आ जाता है। सूरदास आदि में यह बात देखने को नहीं मिलती। वहाँ कवि स्वयं पृष्ठभूमि में ही रहता है। नन्ददास के 'भंवर-गीत' का महत्त्व एक इस दृष्टि से भी स्वीकारा जाता है कि इन्होंने अपने पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों का प्रतिपादन विशेष रूप से और प्रयत्न पूर्वक किया है। यों सूरदास का 'सूरसागर' भी अपने 'भ्रमर-गीत' प्रसंग में सिद्धान्तों के अनुरूप ही रचा गया है, पर वहाँ वह प्रखरता और स्पष्टता नहीं है कि जो नन्ददास में विद्यमान है। इसके साथ-साथ नन्ददास की गोपियों का व्यंग्य-विनोद का भाव भी सूरदास आदि अन्य कवियों की तुलना में अधिक तीखा तथा सप्राण है। एक उदाहरण देखें :

"कोउ कहै, रे मधुप तुम्हें लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारा स्याम कूबरी नाथ कहावै॥
यह नीची पदवी हुती, गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयौ, दासी-जूठन खाय।
मरत कह बोल कों॥"

इससे भी कहीं अधिक तीखे व्यंग्य का भाव निम्नलिखित पद्य में देखने को मिलता है। यहाँ विशुद्ध और गुणातीत प्रेम-भाव के दर्शन भी होते हैं :

"कोउ कहै, हो मधुप स्याम जोगी तुम चेला।
कुबजा-तीरथ जाय कियो इन्द्रिन कौ मेला॥
मधुवन सुधि बिसराय कै, आयो गोकुल माँहि।
इहाँ सबै प्रेमी बसैं, तुम्हरो गाहक नाँहि॥
पधारौ रावरे॥"

प्रबन्धात्मकता भाव नन्ददास के 'भंवर-गीत' की एक अन्य विशेषता है। जहाँ सूरदास ने एक ही भाव को उनके पदों में वर्णित करके एक सूत्रता का प्रायः उल्लंघन किया है, अतः उसमें प्रबंधात्मकता नहीं आने पाई, वहाँ नन्ददास में भावों का विकास क्रमशः होता गया है। अतः उसमें एक अविच्छिन्नता है, जो सामान्य पाठक के लिए कहीं अधिक उपयोगी है।

नन्ददास के 'भंवरगीत' की अभिव्यक्ति-शैली का भी अपना ही महत्त्व है। कवि ने सूरदास के समान राग-रागनियों या गेयतासम्पन्न पदों की शैली को न अपना कर विभिन्न छन्दों के मायाजाल की योजना से एक नव्य कथन-शैली को दर्शन दिया है। नन्ददास ने रोला और दोहे जैसे छन्दों का मिश्रण तो

किया ही है, प्रत्येक पद्य के अन्त में एक 'टेक' भी लगाई है। 'टेक' के दो परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। एक तो इसके कारण इनके पदों में गेयता का समावेश हो गया है और दूसरे इससे प्रवाह और प्रभाव-शक्ति भी बढ़ गई है। वैयक्तिक तत्त्वों का समावेश भी इसमें हो गया है। अभिव्यक्ति-शैली के समान नन्ददास के 'भंवर-गीत' की भाषा का भी अपना एक विशेष महत्त्व और लालित्य है। नन्ददास काफी पढ़े-लिखे और काव्य-शास्त्र के विद्वान थे। संस्कृत का भी उन्हें विशेष ज्ञान था। अतः उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का समावेश स्वतः ही हो गया है। इसी प्रकार संस्कृत के प्रभाव के कारण उनकी पदावली या पद-योजना में भी एक विशेष बहाव तथा लालित्य आ गया है। नन्ददास की भाषा के सौंदर्य-बोध को सभी विद्वान आलोचक मुक्तभाव से स्वीकार करते हैं। उसमें रागात्मकता और नाद-सौंदर्य भी विशेष दर्शनीय है। यहाँ पर इस प्रकार एक उदाहरण प्रस्तुत कर देना उचित होगा :—

'ताही छिन इक भंवर कहूंते उड़ि तहं आयो।
ब्रजबनितन के पुंज माँहि गुंजत छवि-पायो॥
चढ़यो चहत पग-पगनि पर अरुन कमलदल जानि।
मन मधुकर ऊधो भयो, प्रथमहि प्रगट्यौ आनि।
मधुप को भेष धरि॥"

इन मुख्य बातों के अतिरिक्त हमारे विचार में नन्ददास के 'भंवरगीत' में शास्त्री-तर्क दृष्टि भी अधिक है। इसी कारण उसमें सूरदास जैसी तल्लीनता और मुखर अनन्यत्व का भाव नहीं आ पाया। कवि ने अपनी बात कहने के लिए अनेक प्रकार के अलंकारों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। बात कहने की भंगिमा में एक विशेष प्रकार का दबाव है, जो पाठक के मन को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। वक्रोक्ति, उक्ति-वैचित्र्य, जिज्ञासा, उत्सुकता और तन्मयता के भाव भी उसमें यथेष्ठ मात्रा में विद्यमान हैं। कहीं-कहीं कवि ने भावाभिव्यक्ति के लिए सहज मनोविज्ञान का आश्रय भी लिया है, परिणाम स्वरूप एक अन्तर्द्वन्द्व की झलक वहाँ स्वतः ही मिलने लगती है। उद्धव के चरित्र में जो विवशता का भाव अन्त में जाकर उभर पाता है, वहाँ हमारी उपरोक्त बातों का स्वतः ही समर्थन हो जाता है। सहज मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व में सम्पन्न एक उदाहरण देखिए :—

"करुनामयी रसिकता है तुम्हारी सब झूठी।
जब ही ज्यों नहिं लखौ तबहि लौं बांधी मूठी।।
मैं जान्यौ ब्रज जायकै, तुम्हरो निर्दय रूप।
जो तुमको अवलम्ब ही, बाको मैलौ कूप।।
कौन यह धर्म है।।"

अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि यद्यपि नन्ददास के 'भंवर-गीत' में सूरदास के 'भ्रमर-गीत' जैसी मार्मिकता तो नहीं आ पाई, फिर भी उपरोक्त अनेक गुणों और विशेषताओं के कारण निश्चय ही उसका अपना विशेष महत्त्व है। कृष्ण-भक्तिका अन्य कोई भी कवि नन्ददास तक नहीं पहुंच सका। कला और भाव दोनों पक्षों की दृष्टियों से नन्ददास का 'भंवर-गीत' निश्चय ही सफल और सार्थक है।

प्रश्न ३—स्वामी परमानंद दास के व्यक्तित्त्व का सामान्य परिचय देते हुए उनके काव्य की विशेषताएं बताइये।

उत्तर—स्वामी वल्लभाचार्य के परम-प्रमुख शिष्य और बेटे गोस्वामी विट्ठलदास ने अपने पिता के चार प्रमुख शिष्यों और चार अपने प्रमुख शिष्यों को लेकर पुष्टि मार्ग या मत के अनुसार अष्टछाप की स्थापना की थी। 'अष्ट-छाप' के उन कवियों में भक्ति-भावना और पुष्टिमार्गीय स्थापनाओं की दृष्टि में स्वामी परमानन्द दास का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यह गोस्वामी वल्लभाचार्य के परम शिष्य थे। इस दृष्टि से इन्हें सूरदास जी का गुरु भाई कहा जाता है, जो कि उचित ही है। जहाँ तक इनके जन्म और भक्ति-मार्ग से पूर्व के जीवन का सम्बन्ध है, उसका कोई विश्वस्त और सम्पूर्ण व्योरा अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका जो थोड़ा बहुत जीवनवृत्त उपलब्ध है, उसका प्रमुख आधार 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' नामक चरित्र ग्रन्थ ही है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार परमानन्द दास कान्य कुब्ज ब्राह्मण थे और कन्नौज के निवासी थे। मिश्र बन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु बिनोद' में इसका रचना काल सम्वत् १६०६ के आसपास स्वीकार किया है। काल-गणना और भक्तिकाल के अन्तर्गत कृष्ण-भक्ति शाखा के अन्य कवियों आदि के अस्तित्व और स्थिति की दृष्टियों से उपरोक्त स्थिति एवं रचना-काल उचित ही प्रतीत होता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य का असीम स्नेह और कृपा-भाव परमा-

नन्द दास को विशेष रूप से प्राप्त था। कहा जाता है कि जब ये अपनी कविता का सस्वर गायन किया करते थे, तो महाप्रभु वल्लभ सुनकर प्रेम विभोर हो जाया करते थे। उसमें तल्लीनता का विशेष भाव दिखाई देता है।

परमानंद दासजी का पद, दानलीला, ध्रुव-चरित्र आदि इनके रचे काव्य उपलब्ध हो चुके हैं। 'परमानन्द सागर' नाम से इनकी एक अन्य रचना भी मानी जाती है, पर वह अभी तक उपलब्ध नहीं हो पायी। इनकी रचनाओं के मूल अध्ययन में स्पष्ट हो जाता है कि इनके वर्ण्य विषयों में प्रेम-भक्ति और वात्सल्य-भाव की ही प्रधानता है। प्रेम और वात्सल्य का इन्होंने अत्यन्त सजीव सुन्दर, सचित्र और प्रभावी वर्णन किया है। इनकी उपलब्ध रचनाओं के अध्ययन के आधार पर जब हम इनके काव्य का विवेचन करते हैं, तो इनकी निम्नलिखित मान्यताएँ और विशेषताएँ हमारे सामने आती हैं।

मान्यताएँ और विशेषताएँ—परमानन्द दास भगवान कृष्ण के परम भक्त और प्रेमी थे। अतः कृष्ण की क्रीड़ा भूमि व्रजके साथ इनको अगाध प्रेम था। उसकी तुलना में यह मुक्ति को भी तुच्छ और हेय समझते थे।इस से सम्बन्धित इनका निम्नलिखित पद्य देखिए :

"कहा करौं बैकुंठहिं जाय ।
जहं नहिं नंद जहं न जसोदा, जहं नहिं गोपी ग्वाल न गाय ।
जहं नहिं जल जमुना कौ निरमल, और नहिं कदमन की छाय ।
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वालिनी, व्रज रज तजि मेरी जाय बलाय ।।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि नंद-यशोदा का वेटा कृष्ण और उस की भक्ति ही कवि का सर्वस्व है। भक्ति का आधार प्रेम है, अतः उसमें विरह-भाव का आ जाना प्रायः अनिवार्य है। गोपाल-कृष्ण व्रजवासियों को अनेक प्रकार की लीलाएं दिखाने के बाद कुछ दिन के लिए मथुरा चले जाते हैं। व्रजवासियों की प्रतीक्षा की घड़ियां समाप्त होने को ही नहीं आतीं। कवि की आत्म-चेतना उस विरह भाव का अनुभव कर के एकाएक गुहार उठती है :

"व्रज के बिरही लोग बिचारे ।
बिनु गोपाल ठगे-से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे ।।
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ-सकारे ।
जो कोई कान्ह-कान्ह नहिं बोलत, आँखिन बहत पनारे ।

यह मथुरा काजर की रेखा जो निकसे ते कारे ।
'परमानन्द' स्वामी बिन् ऐसे, ज्यो चंदा बिनु तारे ।।

ध्यान देने की वात यह है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने विरह-व्याकुलता में मथुरा को काजर की रेखा या कोठरी, और वहां के सभी निवासियों को 'कारे' अवश्य कहा है। 'कारे' शब्द तन-मन दोनों की कृष्णता का परिचायक है और प्रेम में धोखा देने की स्थिति का द्योतन करता है। इस प्रकार परमानंद के काव्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसने अपनी काव्य परम्पराओं की समस्त रूढ़िओं का निर्वाह सहज भाव से किया है।

प्रेम और विरह-भाव के साथ-साथ परमानंद की कविता में वात्सल्य रस का भी परिपाक हुआ देखा जा सकता है। वात्सल्य के अन्तर्गत बाल-लीलाओं का वर्णन आता है। वाल-लीला-वर्णन वास्तव में कृष्ण भक्तों और कवियों का मूल आधार और सर्वस्व है। स्वरूप-वर्णन भी इसी वाल-लीला-वर्णन और वात्सल्य भाव के अन्तर्गत आता है। इसका एक उदाहरण देखिए :-

"माई री, कमलनैन स्याम सुन्दर, झुलत है पलना ।
बाल-लीला गावति, सब गोकुल की ललना ।।
अरुन तरुन कमल नाल-मनि जस जोती ।
कुंचित कच मकराकृत लटकत गज मोती ।
अंगुठा गहि कमल पानि मेलत मुख माहीं ।
अपुनो प्रतिबिम्ब देखि पुनि-पुनि मुसकाहीं ।।
जसुमति के पुन्य पुंज बार–बार लाले ।
'परमानंद' प्रभु गोपाल सुत-सनहे पाले ।।"

विशेष दर्शनीय वात यह है कि परमानंद दास के सभी प्रकार के वर्णनों में एक सहज स्वाभाविक नवीनता और सरलता है। अतः सामान्य पाठक भी वहां भाव की गहराई में पैठ करके रस-स्नात हो सकता है। चित्रमयता और भाव-सौन्दर्य-चित्रण का गुण भी कवि की वाणी में यथेष्ट रूप से विद्यमान है। कवि तो भक्त-प्रवण हृदय से कृष्ण के भजन, भक्ति और प्रेम को पूर्व जन्मों के पुण्यों का प्रताप ही मानता है। वह उस के वाल-स्वरूप के पूज्य को सर्वाधिक महत्व देता है। उसका तन-मन उस पर न्योछावर है :

"आये मेरे नंदनंदन के प्यारे ।
माला तिलक मनोहर बानो, त्रिभुवन के उंजियारे ।।
प्रेम-समेत बसत मन-मोहन, नैकहुं टरत न टारे ।
हृदय-कमल के मध्य विराजत, श्री व्रजराज-दुलारे ।।
कहा जानौं कौन पुन्य प्रगट भयौ, मेरे घर जो पधारे ।
'परमानंद' प्रभु करि निछावरि, बार-बार हौं वारे ।।"

उनकी कवितामें कहीं-कहीं सामान्य दार्शनिकता का पुट भी देखा जा सकता है। दार्शनिक प्रतिबिम्बवाद की झलक इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है :

" कबहु ं निबिड़ तिमिर आलिंगन, कबहु ंक पिक सुर गावै ।
कबहु ंक संभ्रम 'क्वासि-क्वासि' कहि-कहि संगहि उठि धावै ।।"

इसी कारण कवि कृष्ण को चिन्तामणि के समान सब प्रकार की मनोकामनाएं पूर्ण करने वाला मानता है। तभी तो वेद, नारद, सुक सननन्दनादि सभी उसी का गान गाते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अपने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के अनुसार इसी सर्वशक्तिमान भगवान कृष्ण की कृपा प्राप्त करना चाहता है। उस की कृपा प्राप्त करना ही कवि के भावपक्ष का सम्बल है।

जहां तक परमानन्ददास के कलापक्ष का सम्बन्ध है, सहजता और सरलता उसके प्रमुख गुण हैं। कवि आलंकारिकता के विशेष चक्कर में पड़ा भी नहीं दिखाई देता। वैसे स्वभावोक्ति, उल्लेख, अनुप्रास, यमक, उपमा, और कहीं-कहीं उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की सहज छटा उनके काव्य में देखी जा सकती है। उपमा का एक उदाहरण देखिए कितना स्वाभाविक है।

' बिनु गोपाल ठगे-से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे ।"

कहीं-कहीं कवि ने व्यंग्यात्मक लाक्षणिकता से भी काम लिया है। जैसे—"यह मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे" आदि पद में । इसी प्रकार 'चरन-सरोज बंदौं, स्यामघन गोपाला' आदि पद में रूपककी सहज योजना हुई है। 'कमल नैन मन-मोहिनी मूरति, मन-मन चित्र बनावै,' आदि पद्य-भाग में अनुप्रास, यमक और पुनरुक्ति प्रकाश आदि अलंकारों की छटा भी देखी जा सकती है।

काव्य की भाषा में व्रज भाषा के स्वाभाविक और सहज रूप की पूर्णतया रक्षा हुई है। कृत्रिमता समूचे काव्य में कहीं भी दिखाई नहीं देती। एक स्वाभाविक प्रवाह, संगीतात्मकता, चित्रमयता, नाद एवं ध्वनि-सौन्दर्य आदि सभी भाषाई गुण विद्यमान हैं। कहावतों, मुहावरों और लोकोक्तियों आदि की बोझलता वहां कतई नहीं है। भक्त-हृदय की सभी प्रकार की सरलता उनके काव्य में स्पष्टतः देखी सुनी जा सकती है। पद-योजना में वर्ण और शब्द-मैत्री आदि का सर्वत्र यथेष्ठ ध्यान रखा गया है। एक उदाहरण देखें:—

"जो मूरति ब्रह्मादिक-दुर्लभ, सो प्रगटे हैं आय।
सिव, नारद सुक-सनकादिक मुनि मिलिबे कों करत उपाय।
ते नन्दलाल धूरि-धूसरि बपु रहत गोद लपटाय।
रतन-जड़ित पौढ़ाय पालने,बदन देखि मुसकाय।
झलौ लाल, जाऊं बलिहारी, 'परमानन्द' जसु गाय।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि परमानन्ददास के काव्य का कलापक्ष भी सभी दृष्टियों से पुष्ट है विषयानुकूल सरस-सबल है। उसमें पाठक के मन को प्रभावित करने की निश्चय ही एक विशेष शक्ति विद्यमान है। अतः श्री वियोगी हरि ने निम्नलिखित पदों में इनको जो अपनी श्रद्धाँजली अर्पित की है, वह उचित ही प्रतीत होती है:

"व्रज-रस मधुकर मत, भक्त, भावुकता-भूषन
कविता रस-संबलित, नहिं जामें कछु दूषन॥
नित रहित प्रेम में रंगभंगी, व्रजबल्लभ के पास।
सुचि अष्टछाप की भक्ति कवि, श्री परमानंददास॥

प्रश्न ४—"प्रेम और भक्ति का जैसा सजीव और सुन्दर चित्र रसखान ने खींचा है, कदाचित ही वैसा किसी अन्य ने खींचा हो।" इस वाक्य की सविस्तार विवेचना कीजिए। (मध्यमा परीक्षा सं० २०१०)

अथवा

"रसखान वास्तव के रसखान ही थे।" इस कथन को समीक्षा कीजिए।

अथवा

कृष्ण-काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए रसखान के काव्य-सौष्ठव का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर—कृष्ण भक्ति-शाखा में सूरदास, नन्ददास आदि अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए हैं किन्तु रसखान कवि ऐसे हैं जिनके बिना इस शाखा का पूर्ण-विकास नहीं दिखाई देता। मुसलमान होते हुए भी भारतीय संस्कृति के प्रति इतना अनुराग, श्रीकृष्ण के प्रति ऐसी दृढ़ लगन, भाषा पर ऐसा अधिकार, सभी आश्चर्य के विषय हैं और इनसे रसखान का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा उठ जाता है।

रसखान 'यथा गुण तथा नाम' थे। उनकी कविता आदि से अन्त तक रस से भरी है। कृष्ण-भक्त-कवियों में उनका स्थान निराला है और निरालापन है अपनी भावव्यंजना और शैली की दृष्टि से। पर उनके काव्य में जो यह रस की खान आस्वादन के लिये मिलती है, उसका मूल कारण क्या है ? इस संबंध में उनके अतीत की एक झाँकी देखनी होगी।

रसखान कौन थे इस सम्बन्ध में या तो गोस्वामी गोकुलनाथ की 'दो सौ वावन वैष्णव की वार्ता' से प्रकाश पड़ता है या स्वयं रसखान द्वारा 'प्रेम-वाटिका' में दिये दोहों से कुछ सामग्री मिलती है। वार्ता के अनुसार रसखान पठान थे और बादशाही कुल से सम्बन्ध रखते थे। दिल्ली नगर में रहते थे और किसी वनिए के पुत्र पर आसक्त थे। वाद में वैष्णवों से कृष्ण का चित्र देखकर ब्रज में आ गये। वहाँ गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य बन गये। परन्तु अब अनेक विद्वानों ने उक्त घटना को मात्र किम्बदन्ति कह कर अप्रमाणित सिद्ध कर दिया है !

रसखान ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छाँड़ि रसखान॥
प्रेम निकेतन श्रीवनहिं आइ गोवर्धन धाम।
लह्यौ सरन चित चाहि के जुगुल स्वरूप सलाम॥

इनसे इतना तात्पर्य निकलता है कि रसखान तत्कालीन बादशाही वंश से सम्बन्ध रखते थे और उस समय दिल्ली में राज्य हथियाने के लिए झगड़े चल रहे थे। रसखान विरक्त होकर वृन्दावन में आकर श्री राधा-कृष्ण के शरणागत हो गये। इससे उनका समकालीन शासकीय जाति मुगलों के वंश से ही सम्बन्ध सिद्ध होता है। यह भी प्रसिद्ध है कि रसखान दिल्ली से हज-यात्रा के

लिए चले। पहला पड़ाव मथुरा में डाला। घूमते हुए वहाँ के प्रमुख मन्दिर के सामने पहुंचे। कृष्ण की मूर्त्ति को देखा तो देखते ही रह गये। बस हज का ध्यान छोड़ कर कृष्ण भक्ति में खो गए। यह बात कुछ स्वाभाविक अवश्य प्रतीत होती है। उनके लौकिक प्रेम के सम्बन्ध में भी—

"तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहनी-मान।
प्रेम देव की छबिहिं लखि, भये मियां रसखान।।

यह दोहा पर्याप्त प्रकाश डालता है। इससे ज्ञात होता है कि उनका प्रेम बनिये के लड़के पर न होकर किसी सुन्दरी से था, जो कि रूपगर्विता थी और इनके प्रणय को स्वीकार न करती थी। कृष्ण के सौन्दर्य में मन लगते ही इन्होंने उसे ठुकरा कर उसका मान-मर्दन कर दिया। परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि गोवर्धन-धाम में जाने पर ही रसखान पूर्ण रूप से राधा-कृष्ण के हुए थे। 'अन्तःसाक्ष्य' तो यह बतलाता है कि दिल्ली में रहते हुए ही उन पर कृष्ण-भक्ति का रंग चढ़ गया था। 'प्रेम वाटिका' का कुछ भाग और कृष्ण-सम्बन्धी कुछ सवैये वे लिख ही चुके थे। उनका निम्नलिखित दोहा—

'अरपी श्री हरिचरन-जुग, पदुम-पराग निहार।
विचरहिं या में रसिकवर, मधुकर निकर अपार।

यह भी सिद्ध करता है कि सम्पूर्ण अथवा कुछ 'प्रेम वाटिका' वृन्दावन पहुंचने से पूर्व ही लिखी जा चुकी थी। ब्रज में पहुंचने पर तो उन्होंने वह भगवान को समर्पित की थी। पर ये सब विचार ही हैं। अभी तक अन्तिम रूप से इनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

सम्प्रदाय—रसखान ने कौन से सम्प्रदाय की दीक्षा ली, यह इनके दोहों से स्पष्ट नहीं होता। न ही उन्होंने किसी सम्प्रदाय की ओर संकेत किया है। यों भी सभी कृष्ण-भक्तिपरक सम्प्रदायों की भक्ति प्रेमलक्षणा थी। पर जहाँ तक उनका काव्य देखने से पता चलता है। उसमें पुष्टि मार्ग की ओर झुकाव था और नारदीय भक्ति मार्ग के कुछ तत्त्व भी उनमें थे, क्योंकि पुष्टि मार्ग के उपास्य गोपाल कृष्ण हैं जो कि रासविहरी हैं। सूर आदि पुष्टि-मार्गीय कवियों ने कृष्ण की बाल-क्रीड़ा और शृंगारी लीलाओं का विस्तृत वर्णन किया है। रसखान के भी विषय ये दोनों ही हैं। दान-लीला, मानलीला, मुरली-महिमा, राधा के प्रति अनुराग, गोपियों की प्रीति आदि का सूर ने

विस्तार से वर्णन किया है। रसखान ने भी इनका विस्तृत वर्णन किया है। हाँ, भ्रमरगीत के पचड़े में ये नहीं पड़े हैं। वियोग-शृंगार का वर्णन उन्होंने थोड़ा ही किया है। साथ ही अनन्यता, स्मरण, कीर्तन, दास्य आदि नवधा भक्ति के अंग इनमें बहुत कुछ पाये जाते हैं। रसखान का रुझान वास्तव में वेद पुष्टि-मार्ग की ओर ही अधिक था। वैसे तो ये रस की खान कृष्ण के दीवाने थे जो कि सम्पूर्ण सम्प्रदायों का ही मंतव्य था।

काव्य—इनकी रचनाएँ 'सुजान रसखान' और 'प्रेम वाटिका' ये दो ही हैं। इनमें 'सुजान रसखान' में १५६ पद्य हैं। इनमें कुछ दोहे और सोरठे हैं। शेष सवैये और घनाक्षरी हैं। 'प्रेम वाटिका' में १६५२ दोहे हैं, जिनमें प्रेम की व्याख्या की गई है।

काव्य-विषय—इनकी दोनों ही रचनाओं में प्रेम और भक्ति का निरूपण किया गया है। इनकी भक्ति प्रेमलक्षणा थी, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उस प्रेम के भी तीन भेद हैं—१. वात्सल्य भाव में परिवर्तित, २. शुद्ध कृष्ण विषयक भाव जो भक्ति भाव की पुष्टि करता है, ३. शृंगारी रति-भाव जो शृंगार-रस की सिद्धि करता है। इनमें पहला उन पद्यों में है जो कि कृष्ण के बाल रूप के प्रति वात्सल्य प्रकट करते हैं। जैसे—

धूरि भरे अति शोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरै अंगना, पग पैंजनी बाजती पीरी कछौटी।
वा छवि को 'रसखानि' बिलोकत वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों ले गयो माखन रोटी॥

इसके अतिरिक्त—

अपनो सो ढोटा सम सबको ही जानत हैं,
दोऊ प्रानी सब ही के काज नित आवहीं॥

आदि पद्य इसी रस से सम्बन्ध रखते हैं। इसके पश्चात् प्रेम को देखा जाये तो वास्तव में उसकी अति विस्तृत और व्यापक व्यंजना इन्होंने की है। दान-लीला, मानलीला, आदि का भी विशद वर्णन इनके काव्य में मिलता है। यह पहले लौकिक प्रेम का पूरा-पूरा आनन्द उठा चुके थे। इसके पश्चात् अलौकिक प्रेम के मार्ग पर चले तो उसमें भी पूर्ण-रूप से मग्न हो गए। इन्होंने 'प्रेम-वाटिका' में प्रेम की परिभाषा यों लिखी है—

जेहि बिनु जानै कछुहि नहिं जान्यो जात बिसेस
सोइ प्रेम जेहि जानि कै, रहि न जात कछु सेस ।।

उसे भी उन्होंने लौकिक और अलौकिक दो भेदों में विभक्त किया है। अलौकिक प्रेम की व्याख्या करते हैं।

इक अंगी बिनु कारनहिं, इक रस सदा समान ।
बनै पियाहि सर्वस्व जो, साईं प्रेम बखान ।
डरै सदा चाहै कछु, सहै सबै जो होय ।
रहै एक रह चाहि कै, प्रेम बखानी सोय ।।

उनका प्रेम भगवान् का ही भावात्मक रूप है—

प्रेम हरी को रूप है, ज्यों हरि का रूप स्वरूप ।
एक होइ द्वै में लसै ज्यों सूरज अरु धूप ।।

राधा और कृष्ण इस प्रेम के परिपालक हैं—

प्रेम अयनि श्री राधिका, प्रेम बरन नन्द नन्द ।
प्रेम बाटिका के दोऊ, माली मालिन द्वन्द्व ।।

यह तो हुई प्रेम की सैद्धान्तिक व्याख्या । अब प्रेम की अनुभूति के कुछ चित्र देखिये । कृष्ण के प्रति प्रेम की अनुभूतियाँ अनेक रूप में हैं । कहीं तो उनके सौन्दर्य को लेकर प्रेमानुभूति का वर्णन है, कहीं मुरली के प्रभाव को लेकर और कहीं शृंगारी रूप में । सौन्दर्य को लेकर प्रेम का रूप देखें :—

सोहत हैं चंदवा सिर मोर के जैसिये सुन्दर पाग कसी है ।
तैसिये गोरज भाल विराजति, जैसी हिये बनमाल लसी है ।।
रसखानि विलोकत बौरी भई, दृग मूंदि के ग्वारि पुकारी हंसी है ।
खोलि री घूंघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैननि मांझ बसी है ।।

भक्ति—पहले लिखा जा चुका है कि रसखान की भक्ति प्रेमलक्षणा है। साथ ही उसमें नवधा भक्ति के प्रायः सभी अंग भी वर्तमान हैं । जैसे अनन्य भाव :—

सेस, सुरेस, दिनेस, घनेस गनेस, महेश, नरेस मनाओ ।
कोउ भवानी भजौ मन की सब आस सबै विधि जाओ पुराओ ।
कोउ रमा भजि लेउ महाधन, कोउ कहुं मन वाँछित पाओ ।
पै 'रसखानि' वही मेरो साधन और त्रिलोक रहो कि नसाओ ।

यहाँ "और त्रिलोक रहा कि नसाओ" में "और देव सब रंक भिखारी, देखे बहुत घनेरे" की गूँज है।

दृढ़ अनुराग—कंचन के मन्दिरनि दीठी ठहरात नाहीं,
सदा दीप माल लाल मानिक उजारे सों।
और प्रभुताई मैं कहा लो बखानौं प्रति-
हारन की भीर भूप टरत न द्वारे सौं।
गंगा जी में न्हाइ, मुक्ताहल हू लुटाइ,
वेद बीस बेर गाइ ध्यान कीजत सकारे सों।
ऐसे ही भये तो कहा कीन्हों रसखानि जो पै
चित्तदै न कीनी प्रीति पीत पटवारे सों।

स्थिरचित्तता

"रसखान, गुविन्दहिं यौं भजिए जिमि नागरि कौ चित गागरि में।

दृढ़ विश्वास एवं योगक्षेम समर्पण—

द्रोपदि औ गनिका, गज, गीध, अजामिल सों कियो सो न निहारो।
गौतम गेहनी कैसे तरी, प्रहलाद को कैसे हर्यो दुख भारो।।
काहे को सोच करे 'रसखानि' कहा करिहै रविनन्द विचारो।
कौन की संक परी हैं जु माखन चाखन हारो है राखन हारो।।

कीर्तन — बैन वही उनको गुन गाय।
श्रवण — औ कान वही उन बैन सों सानी।
दास्य — हाथ वही उन गात सों सानी।
आत्म निवेदन—

जान वही उन प्रान के संग और मान वही जु करे मनमानी।

भक्त के हृदय में सदा प्रभु के चरणों और सेवा की कामना है—

मानस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन,
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरिको जु धर्यो कर छत्र पुरन्दर कारन,
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

भक्त सदा प्रभु के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर रहता है। भगवत्प्रेम के कारण जगत् की बड़ी से बड़ी विभूति प्रभु की साधारण वस्तु की तुलना में तुच्छ प्रतीत होती है।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहुं सिद्धि नवौं निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
रसखानि कबौं इन आँखिन ते, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कौटिक हौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।

रसखान प्रभु की शरण में आकर ब्रह्म की खोज में भटकने लगे हैं। किन्तु उसका दीदार उन्हें कहाँ हासिल हुआ—

ब्रह्म मैं ढूंढत पुरानन गायन, वेदरिचा सुनि चौगुने चायन
देख्यो सुन्यो कबहूं कहूं न, वह कैसे स्वरूप औ कैसे सुभायन।
ढूंढ़त ढूंढ़त ढूढ़ि फिर्यो रसखानि बतायौ न लोग लुगायन,
देख्यो दुर्यो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन।

रसखान भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्ण रूप से रंग गये हैं। अब वे गंगा एवं शंकर सभी की महिमा गाते हैं। यवन होकर भी पुनर्जन्म का विश्वास आप 'मानुष हौं' में पा चुके हैं।

हरि और हर की एकता को वे मानते ही नहीं वरन् उसमें एकता भी कर दिखाते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि रसखान प्रेम और भक्ति के रंग में रंगे हुए थे। भाषा के वे जादूगर थे। इनके प्रेम-रस में भीग कर सवैये भी रस की खान बन गये। भाषा के माधुर्य को देखते हुए पद्माकर औक मतिराम जैसे कोई-कोई कवि ही उसकी तुलना में खड़े हो सकते हैं। उन्होंने अपने नाम की निम्नलिखित व्युत्पत्ति यथार्थ ही की है—

'त्यों रसखानि जु हैं रसखानि सु है रसखानि।"

प्रश्न ५—"घनानन्द ने प्रचलित काव्य प्रणाली की लीक छोड़ी" यह कहाँ तक सत्य है। पक्ष अथवा विपक्ष में सकारण उत्तर दीजिये।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००६)

उत्तर—रीतिकाल की परम्परा से मुक्त कवियों में, जिन्होंने रीति काव्य की बँधी परिपाटी से मुक्त होकर काव्य रचना की, घनानन्द सर्वश्रेष्ठ थे। उन्होंने सर्वप्रथम लक्षणा-व्यंजना के उस सशक्त क्षेत्र की ओर अपनी लेखनी बढ़ाई, जिधर रीतिकालीन कवियों ने झाँका भी न था। उन्होंने प्रेम की गम्भीर अनुभूति का वर्णन किया है और उस प्रकार किया है कि उसके सामने उनसे पूर्ववर्ती रीतिकालीन कवियों का वियोग-वर्णन सर्वथा उपहास योग्य लगता है।

घनानन्द बादशाह मुहम्मदशाह रंगीला के मीर मुन्शी थे और कायस्थ थे। दरबार की एक 'सुजान' नाम की नर्तकी से इनका बहुत प्रेम था। एक दिन दरबारियों के बहकाने से बादशाह ने इन्हें गाने को बाध्य किया। पर इन्होंने न गाया। जब इन्हीं के कहने से सुजान को बुलाया गया तो इन्होंने बादशाह की ओर पीठ करके और सुजान की ओर मुंह करके गाया। गाने से प्रसन्न होकर भी अपनी ओर पीठ करने के दुर्व्यवहार को बादशाह न सह सका और इन्हें अपने राज्य से निकाल दिया। घनानन्द ने सुजान को भी साथ चलने को कहा पर उसने स्वीकार नहीं किया। इससे इनका हृदय बहुत खिन्न हो गया। ये तुरन्त वृन्दावन चले गये और वहाँ निम्वार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए।

घनानन्द प्रेमी जीव तो थे ही, अतः सुजान को वे भूल न सके। उसकी प्रणय वंचना से उनका मन उधर से विरक्त हुआ और कृष्ण में अनुरक्त हो गया। निम्वार्क सम्प्रदाय की उपासना भी माधुर्य-भाव की होती है। अतः कृष्ण-भक्ति में भी उन्हें प्रेम-भाव ही प्रधान मिला। अतः शृंगारीय एवं भक्तिपरक दोनों ही कविताएँ प्रेम-प्रधान हैं।

इनका देहान्त नादिरशाही में हुआ है जबकि धन न पाने पर सिपाहियों ने इनका एक हाथ काट दिया। इसका समय संवत् १७४६ और १७९६ के मध्य है।

रचना—इनकी रचनाएँ 'कृपाकन्द निवन्ध', 'रस केलि बल्ली', 'सुजान सागर' और 'बानी' नाम से विख्यात हैं। इनकी रचनाओं के विषयों में शृंगार और भक्ति हैं। शृंगार में इन्होंने सुजान नाम से अपनी प्रेयसी को पुकारा है और भक्ति के पद्यों में श्रीकृष्ण को सुजान नाम से सम्बोधित किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति की तल्लीनता में भी रसखान 'सुजान' को भुला न सके।

काव्य कौशल—घनानन्द प्रेम के कवि थे। उनका हृदय प्रेम की अनुभूति से परिपूर्ण था। अतः उनकी कविताओं में इस कोमलतम भाव की गम्भीरतम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। इनके लिए उन्होंने लक्षणा-व्यंजना के टेढ़े मार्ग का आश्रय लिया है जो कि पूर्ववर्ती कवियों से सर्वथा अस्पष्ट था। रीतिकाल के कवियों की कविता तो एक बँधी लीक पर चली है जिससे स्वतन्त्र होकर चलने का साहस कोई नहीं कर पाया। सीधे शब्दों में शृंगार के विभाव आदि गिनाने में ही उनकी प्रतिभा की इतिश्री हो गई। अनुभावादि अभिधेय तत्त्वों

के निरूपण में उन्हें कुछ सफलता भी मिली है। संयोग और वियोग के गीत भी उन्होंने गाये हैं किन्तु वियोग की गम्भीर अनुभूति तक उनकी दृष्टि नहीं पहुंची। देव तो अपने लक्षण ग्रन्थ 'शब्द रसायन' में यहाँ तक बहक गये कि व्यंग्य या ध्वनि काव्य को अधम एवं अभिधा को उत्तम काव्य लिख बैठे, जिससे कि भारत की प्राचीन काव्यशास्त्रीय दीर्घ परम्परा पर पानी ही फिर गया।] उन कवियों ने वियोग शृंगार का वर्णन किया तो, पर ऊपरी उछल-कूद में लग कर स्वयं विरहिणी को उपहास की पात्री बना दिया। एक वियोगिनी के संताप का वर्णन देखिए—

औंधाई सीसी सुलखि, विरह अगिन बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटो छुयौ न गात॥

क्या कमाल है! विरहिणी का शरीर था या किसी वर्कशाप की भट्टी! विरह व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए जरा हमारे घनानन्द की वाणी की बानगी भी देखिए—

मेरोई जीव जु मारत मोहि तो, प्यारे कहा तुम सौं कहनो है।
आंखिन हूं यह बानि तजी, कछु ऐसोई भोगनि को लहनो है॥
आस तिहारिए ही 'घन आनन्द' कैसे उदास भयो रहनो है।
जानि कै होत इतै पै अजान जो, तौ बिन पावक ही दहनो है॥

ऊपर लिख चुके हैं कि इन्होंने भावाभिव्यक्ति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया है। वियोग में आँखों की विकलता का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

जिनको नित नीकै निहारति हौं, तिनको अंखियन अब रोवति हैं।
पल पांवड़े पाइनि चाइनि सों अंसुवानि की धारनि धोवती हैं॥
'घन आनन्द' जान सजीवनि को सपने बिन पायेहि खोवति हैं।
न खुली मुंदी जानि परै, दुख ये, कछु होइ जगै पर सोवति हैं॥

यहां "सपने बिन पायेहि खोवति हैं" इस उक्ति में जो गम्भीर अनुभूति है, उसे रसिक गण ही अनुभव कर सकते हैं।

लाक्षणिक वक्रता में विशेषण-विपर्यय भी होता है। इसका भी घनानन्द ने अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। जैसे—

"उघरी सुहाग की नीकी घरी"

इसमें सुहाग की 'घरी उखड़ी' की यह विशेषता का क्रम है जिसमें विपर्यय किया गया है ।

"कबहुं वा बिसासी सुजान के आंगन मों अंसुवानि को लै बरसो ।"

इसमें 'बिसासी' में विपरीत लक्षरण है, जिसका लक्ष्यार्थ 'विश्वासघाती' है । इसका इन्होंने बहुत स्थानों पर प्रयोग किया है ।

घनानन्द की उक्ति की मार्मिकता इस दोहे में किस प्रकार प्रकट हुई है—

मोसे अनपहचानि को, पहचानै हरि कौन ।
कृपा कान मधि नैन ज्यों त्यों पुकारि मधि मौन ।।

कितना अनोखा भाव है ! प्रभु अपनी करुणामयी दृष्टि में ही कान लगाए हुए हैं । इस कारण आँखों से ही पुकार सुन लेते हैं । उधर भक्त भी मन की पुकार में मौन-मग्न है । ! कैसा विरोध है । पुकार भी और मौन भी ? भाव यह है कि उनकी जैसी मौन पुकार है उसी प्रकार भगवान् भी कृपा दृष्टि से ही उस पुकार को भी सुन लेते हैं । कैसा अद्भुत सामंजस्य है !

कालिदास ने बादल का यक्ष को सन्देश लेकर यक्षिणी के पास अलका पुरी में भेजा था, न जाने वह गया था कि नहीं और सन्देश भी ले गया या नहीं, क्योंकि उनके पास सन्देश का वैज्ञानिक साधन तो न था, पर घनानन्द का सन्देश, वाहक बादल अवश्य ले गया होगा—

परकाजहिं देह को धारे फिरो, 'परजन्य' जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सब ही विधि सज्जनता सरसौ ।
'घन आनन्द' जीवन दायक हो, कछु मेरियौ पीर हिए परसौ ।
कबहूं वा विसासी सुजान के आंगन मों असुवानि को लै बरसौ ।।

कालिदास ने मेघ को उच्च कुलज और उच्च पदाधिकारी एवं शक्तिशाली जानकर दूत बनाया था, पर घनानन्द यहां भी उसे आत्मिक गुणों के आधार पर ही दूत बनाते हैं । क्योंकि यह पर्जन्य है, दूसरों के उपकार के लिए ही शरीर धारण किये हुए है । वह भला धोखा क्यों देने लगा ? निरुक्ति द्वारा उसके आदर्श का स्मरण भी करा दिया है । इसके अतिरिक्त उसमें बड़ा गुण है कि समुद्र के खारे पानी को भी पी सकता है तो इन आँसुओं के थोड़े से खारे पानी को क्यों न पियेगा । फिर वह तो 'जीवन दाता' (जल दाता)

है, इसलिए कवि की पीड़ा को क्यों न समझेगा। फिर उसे साधारण-सा काम सौंपा है—

"कबहूं वा बिसासी सुजान के आंगन पों असुवानि को लै बरसौ।

घनानन्द विरह की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण करने में असाधारण रूप में सफल हुए हैं। इसके कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे—

'जिनकौं नीत निको निहारति हों, तिनको अंखियां अब रोवति हैं।
पल पाँवड़े पाइनि चाइनिसों, अंसुवानि की धारनि धोवति हैं॥
'घन आनंद' जान संजीवनि को, सपने बिन पायेहि खोवति हैं।
न खुली मुंदि जानि परे, दुख ये कछु होई जगं, पर सोवति हैं॥

इसमें नेत्रासंग—आँख मिलना, संकल्पावस्था जागरण आदि अवस्थाएँ एक साथ ही सूचित कर दी हैं।

विरह में विरहिणी को पति की उपेक्षा कितनी अखरती है। सच्चे प्रेम में तो प्रिय की कृपाकांक्षा ही चाही जाती है। घनानन्द भी उसी को प्रकट करते हैं—

मो बिन जो तुम्हें और रुचि तो रुचैं, न तुम्हें बिन मोहि जियौ जू।
सूल भयौ गुन यौं जिहि अंग की, दीप सों बानि बियोग दियौ जू॥
काहि कहों घन आनंद प्यारे तौ हठ कौन पै आपु लियौ जू।
हाय सुजान सनेही कहाइ कै क्यों मोह जनाई के द्रोह कियौ जू॥

इसमें आत्म-समर्पण का असाधारण भाव प्रकट किया गया है। प्रेम बलिदान चाहता है पर त्याग करने पर भी यदि प्रिय की कृपा न हो तो सहन-शक्ति का अन्त हो जाता है।

"राजी हैं हम भी उसी में, जिसमें तेरी रजा है" की अभिव्यक्ति देखिए—

"अब तो सब सीस चढ़ाई, जु कछू मन भाई सु कीजिए।
'घन आनन्द' जीवन प्रान सुजान तिहारिये बतान कीजिए जू।"

चिरकाल से विरहिणी के लिए प्रिय के चरणों की धूल प्राणों का आधार बनी रही है। पथिकों के साथ प्रिय को सन्देश भेजने की बात भी साहित्य-जगत् के लिए कोई नई नहीं है। यहां भी प्रिय चरणों की धूल लाने के लिए पवन से विनय की गई है जो कि सबसे बड़ा पथिक है और दुर्गम स्थानों तक

भी पहुंच सकता है। धन्य है घनानन्द की सूझ को !

इस प्रकार सिद्ध है कि घनानन्द का भावपक्ष अत्यन्त उच्चकोटि का है। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से उस भाव लोक को देखा है, जिसे देखने की चेष्टा उनके समकालीन कवियों ने भूलकर भी न की थी। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि घनानन्द का कलापक्ष निर्बल है। वह भी भावपक्ष की भाँति प्रबल है। भाषा उसकी सशक्त है, उसमें प्रवाह है। लालित्य की खोज में, शब्द योजना में सरसता ही नहीं है बल्कि भावानुकूल नाद-माधुर्य भी है। जैसे—

"जगत के प्रान, ओछे बड़े तो समान,
घन आनंद निधान सुखदानि, दुखियानी, दै।'

में 'प्रान, समान, निधान' में मृदंग की सी ध्वनि सुनाई देती है। स्थान-स्थान पर अलंकारों की सुन्दर योजना है, जैसे—

लाटानुप्रास—

'मेरी मनोरथ हू पुरवौ, तुम ही मो मनोरथ पूरनकारी।'

अर्थापत्ति—

"मेरोई जीय सो मारतु मोहि तौ, प्यारे कहा तुम सो कहनो है"

विभावना व विशेषोक्ति—

"जानि कै होत इतै पै अजान जौ, तो बिन पावक दहनो है।"

विनोक्ति—

"सुख में मुख चन्द बिना निरखै नख ते सिख लौं बिख पागनि है।"

निरुक्ति—

'परकाजहिं देह को धारि फिरो, 'परजन्य' जथारथ ह्वै दरसौ॥"

रूपक एवं उल्लेख—

रसिक रँगीले, भली भाँतिन छबीले 'धन आनन्द' रसीले सरे महासुख सार हैं।
कृपा-धन-धाम स्याम सुन्दर सुजान मोद-मूरित सनेही बिना बूझै रिझावार हैं।
चाह आलबाल, औ अबांह के कलपतरु कीरति मदक प्रेम सागर अपार हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अलंकार इनमें पाए जाते हैं। छन्दों में घनानन्द को सवैयों में सर्वाधिक सफलता मिली है।

इन उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही घनानन्द विशेष रूप से प्रेम के कवि

कहे जाते हैं। उनकी कविता समझने के लिए निम्नलिखित गुण ठीक ही आवश्यक बताये हैं।

नेही महा, ब्रज भाषा प्रवीन, और सुन्दरताई के भेद को जानै।
आगे वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप की ठानै।
चाह के रंग में भीज्यो हियो, बिछुरैं मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछन्द सदा रहै, सो घन जू के कवित्त बखानै॥

प्रश्न ६—"घनानन्द वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं" इस उक्ति की समालोचना कीजिये।

उत्तर—यह सत्य है कि घनानन्द की वाणी का प्रादुर्भाव प्रेम की पीर को लेकर हुआ है इनके काव्य का स्रोत "वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान" की उक्ति को ही माना जा सकता है।

कहा जाता है कि यह सुजान नामक नर्तकी पर आसक्त थे। एक बार इनकोबादशाहसे दरबार में सुजान के सम्मुख गाना पड़ा। उसकेसम्मुख तन्मय होकर ये गाते रहे। इस तन्मयता में इनको यह भी ध्यान न रहा कि बादशाह की ओर पीठ करके गाना बे-अदबी है। बादशाह इनके गायन पर प्रसन्न होता हुआ भी इस बे-अदबी को सहन न कर सका। घनानन्द को राज्य से निकल जाने की आज्ञा दे दी। इन्होंने अपनी प्रेमिका सुजान को अपने साथ चलने के लिए कहा, परन्तु उसने इनके प्रेम को ठुकरा दिया, फिर भी इनकी प्रेमज्वाला तनिक भी मन्द न हुई। इनका मन-पतंग उसकी रूप-शिखा की स्मृति में जलता और विह्वल होता रहा—इन्हीं प्रेमानुभूतियों की विशद अभिव्यंजना इनके काव्यों में हुई है। इनके वर्णनों में लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की प्रेमाभिव्यक्ति हुई है। सुजान के सौंदर्य में इनको ब्रह्म का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। सुजान को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है—

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरिये जू।
निरधार अधार दै धार मंझार, दई गहि बाँह न बोरिये जू॥
'घन आनन्द' आपके चातक को गुन बाँधि के मोह न छोरिए जू।
रस प्याय के ज्याय बढ़ाय कै आस, बिसास में यों बिसन घोरिए जू।

प्रेमी अपनी प्रेमिका को स्मरण दिलाने के लिए समय-समय पर पत्र-

व्यवहार करता है, उसका संदेश चाहता है। उससे मिलने की इच्छा प्रकट करता है।

ऐरे वीर पौन तेरो सबै ओर गौन बारी,
तोसों और कौन मनों ढरकोही बानि दै।
जगत के प्रान न ओछे बड़े तो समान,
'घन आनन्द' निधान सुखदानि दुखियानि दै
जानि उजियारे गुण भारे अंत मोह प्यारे,
अब ह्वै अमोहि बैठे पीठि पहिचान दै।
विरह बिथा की मूरि आँखिन में राखौ पूरि,
धूरि तिन पायन की हाहा नैकु आनि दै।

प्रेमी को अपनी प्रेमिका के पैरों की धूलि भी यदि किसी प्रकार से मिल जावे तो वह अपने को धन्य समझता है। जायसी की नागमती तो अपने तन को जला कर राख के रूप में पवन के द्वारा अपने प्रियतम तक पहुंचाने की अभिलाषा रखती है। उस वियोगिनी ने भी पवन से यही प्रार्थना की थी—

"यह तन जारौं राख करि, कहौं कि पवन उड़ाय।
वह मारग तहूं जा पड़े कन्त धरे जहँ पाव॥"

वियोग अवस्था में स्मृति, स्तब्धता, रोमांच, अश्रु, जड़ता, प्रलय आदि अनुभाव उठते रहते हैं जिनका चित्रण घनानन्द ने बड़ी ही मार्मिक शैली में किया है। प्रेमी स्मरण करके चित्र लिखना चाहता है, परन्तु आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी है, अगर पत्र लिखता है तो आंसू उस पर ढुलक कर वह जाते हैं। पत्र लिखना भी उसके लिए एक विकट समस्या बन जाती है—

लिखैं कैसे पियारे प्रेम पाती,
लगै अंसुवन झरी वै टूक छाती।

प्राकृतिक व्यापारों का चित्रण संयोग शृंगार की अवस्था में आनन्द उत्पन्न करने वाले और वियोगावस्था में दुःख की अनुभूति कराते हैं। सूर की गोपिकाएँ कृष्ण के वियोग में प्रकृति-व्यापारों में विलोम भावों का अनुभव करती है। संयोगावस्था में जो लता-विटप आंखों में हर्ष और उल्लास उत्पन्न कर रहे थे, परन्तु वियोग की दशा में ज्वाला सरीखे दिखाई पड़ते हैं। घनानन्द जी की भी

वियोग की दशा में प्रकृति के व्यापारों में विरुद्धता दिखाई पड़ती है।—

जरावे नीर तो फिर को सिरावै ?
अमी मारै कहौ जू को जिवावै ?
जु चन्दा ते झरैं अंगारे।
चकोरन की कहो गति कौन प्यारे।

सच्चे प्रेम का पथिक कभी भी अपने प्रिय के प्रति अप्रिय बात की सम्भावना नहीं करता, चाहे वह उसको प्राप्त हो या न हो। वह अपनी मंगल-कामना का मंत्र उसके लिए जपता रहता है। अमंगल भावना उसके हृदय में घुसने नहीं पाती है। उसकी यही शुभाभिलाषा होती है कि उसका प्रियतम जैसे भी हो, सुखी रहे। सदा साथ रहने की तीव्र अभिलाषा प्रेमी के हृदय के झरोखे से अपने घूँघट के पट खोल कर झाँकती रहती है। कब वह दिन आवे जब बिछुड़े साजन से गलबहियाँ डाल कर मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो—

सदा सुख है हमें तुम साथ आछैं,
लगी डोलैं छबीले छांह पाछैं।
तुम्हें देखैं तुम्हैं भेंटैं भले ही,
जगैं सोवैं उठैं बैठैं चलैं ही।।

प्रेम दशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। हिन्दी का अन्य श्रृंगारी कवि इनके समान प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशाओं का वर्णन नहीं कर सका है। ऐसी अवस्था में भाव पक्ष प्रधान है, हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

ऐसा प्राय: देखा गया है कि प्रेमी कभी-कभी यह कल्पित कर लेता है कि उसका प्रियतम उसकी ओर संकेत कर रहा है, या उसको अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहा है। प्रेमी की कल्पना साकार होकर मुखरित हो उठती है। नायिका द्वारा दिये गए वचन का कितना सुन्दर आभास घनानन्द ने दिया है—

'रुचि के वे राजा जान प्यारे हैं आनंदघन,
होत रहा हेरे रंक ! मान लीनो मेल सो।'

संयोग और वियोग दोनों प्रकार के श्रृंगार का वर्णन किया है फिर भी वियोग श्रृंगार की अन्तर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है। प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति अधिकतर विरोधाभास द्वारा की गई है।

घनानन्द जी का वियोग वर्णन स्वाभाविक, प्राकृतिक और स्वस्थ है, उसमें

फूहड़पन या अश्लीलता के छींटे नहीं हैं। उसमें संयतता, गम्भीरता और भावों का शिष्ट माधुर्य है।

प्रश्न ७—देव का परिचय देते हुए उनकी रचनाओं और उनके महत्व पर प्रकाश डलिए।

उत्तर—देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था, आप इटावा के निवासी थे जहाँ कि आपके वंशधर अभी तक विद्यमान हैं। इनका जन्म सम्वत् १७३० में हुआ था, क्योंकि अपने प्रथम ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है—

सुभ सत्रह सौ छियालिस चढ़त सोरहा वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता भाव-विलास सहर्ष।

इनको हित हरिवंश जी का शिष्य बताया गया है, पर यह असंगत है। गोस्वामी हित हरिवंश सोलहवीं शताब्दी में हुए हैं।

इन्हें कोई गुणग्राही आश्रयदाता न मिला जो कि आजीवन इनका आदर करता। इसका प्रमाण इनका स्थान-स्थान पर भटकना और इनकी रचनाओं को विभिन्न व्यक्तियों को सुनाया जाना है उन्हीं के संकेतों के आधार पर पता चला है कि 'भाव-विलास' औरंगजेब के बड़े पुत्र आजमशाह को सुनाया गया था। इसके बाद भवानीसिंह वैश्य, कुशलसिंह, टिकैतराय, उदोतसिंह, अकबर अली खां आदि अनेक आश्रयदाताओं के पास रहे। परन्तु किसी से भी इनका मन न मिला। इसके पश्चात् ये राजा भोगीलाल के पास गये और सम्भव है, उन्होंने इनका अच्छा आदर किया। इस देश-देशान्तरों के भ्रमण का इन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया और उसके अनुभवों के आधार पर 'जाति विलास' की रचना की। इसमें सभी प्रान्तीय स्त्रियों के वेश और अंग-प्रत्यंग-विन्यास आदि का अच्छा वर्णन किया है।

देव रीति-काल के कवियों में सबसे अधिक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थ ७२,५२ और २७ कहे जाते हैं। पता भी अब तक २७ का ही चला है। वस्तुतः ये एक रचना के ही पद्य उलट-फेर करके दूसरे क्रम से संग्रह कर देते और उसका नया नाम रख देते थे। इस प्रकार इनकी कई रचनाएँ तो नाम मात्र को ही भिन्न हैं।

इनके ग्रन्थ श्रृंगार भक्ति और नीति विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। रस-विलास और भाव–विलास इनके अच्छे सरल ग्रन्थ हैं। भाव-विलास, रस-विलास

भवानी विलास, कुशल विलास, जाति विलास इनके रस अलंकार,नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। काव्य रसायन (शब्द रसायन) लक्षण, वृत्ति एवं अलंकार आदि का अच्छा ग्रन्थ है। सभी बातों का निरूपण पद्य में ही होने से भली प्रकार विवेचन नहीं होने पाया है। यह अभिधा को सबसे उत्तम काव्य मानते हैं और नायिकाओं में भी स्वकीया को ही श्रेष्ठ स्वीकारते हैं।

सभी रीतिकाल कवियों कि भाँति देव ने भी कृष्ण की ही आराधना का भाव प्रकट किया है, क्योंकि रीतिकालीन शृंगारी ग्रन्थों के उदाहरणों के विषय राधा-कृष्ण ही थे।

बारम्बार आश्रयदाताओं की ओर से अभिलषित सम्मान न पाने के कारण इनका उधर से कुछ विरक्त हो जाना स्वाभाविक था, अतः भक्ति के साथ नीति और विरक्ति के पद भी लिखे हैं।

देव प्रतिभाशाली कवि थे। अभिलषित अर्थ को बड़े विस्तार से कहना चाहते थे। जहाँ उन्हें सफलता मिलती, वहाँ तो दूर की कौड़ी ले आते थे। उस समय उनकी रचना अति सरस हो जाती थी।

कहते हैं कि सदा पहल करने वाला धोखा खाता है। प्रेम के लिए आँखें ही सदा दौड़ती हैं। पर "लालच बुरी बलाय" रूप की धारा में पड़े पीछे उबरना कहाँ सम्भव है।

धार मैं धाय धंसी निरधार ह्वै जाय फंसी उकसी न अंधेरी।
री ! अंगराय गिरी, गहि फेरे फिरी न, घिरी नहिं घेरी॥
'देव' कछू अपनो बस ना रस-लालच लाल चिते भई चेरी।
वेगि ही बूड़ि गई पंखियां, अंखियां मधु की मखियां भई मेरी।

आँखें जहाँ रूप में फँसीं कि मन उसी पर न्यौछावर हुआ।

रहिमन मन महाराज के, दृग सो आहिं दिवान।
देखी जाहि रीझे नयन, मन तेहि हाथ बिकान।।

तैराक कूदने के समय आगा पीछा देख ले तो आगे भी संभल सकता है। पर बिना विचारे कूद पड़े तो आगे जाकर हाथ पैर फूल जाते हैं। मन प्रेम के समुद्र में कूद तो पड़ा पर आगे चलकर पता लगा कि इसमें तैरना तो टेढ़ी खीर है। पर अब उपाय क्या है ? तैरो या डूब कर मरो। प्रेम की महिमा निराली है, इसकी अनुभूति लोक से न्यारी होती है :

प्रेम-पयोधि परो गहि रे, अभिमान को फेन रह्यो गरि रे मन।
कोप-तरंगनि सो बहि रे पछिताय पुकारत क्यों बहि रे मन।।
देव जू लाज जहाज तें कूदी रह्यो मुख मूंदि सजौं रहि रे मन।
जोरत तोरत प्रीति तुही, अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन।।

पर संसार उसे बावला और पागल कहता है। भला वास्तव में कौन गलती पर है—

रैन सोई बिनु इन्द्र दिनेस, जुन्हाई है धाम घनो विषघाई,
फूलनि सेज सुगंध दुकूलनि, सूल बैठे तनु तूल ज्यौं ताई।
बाहर भीतर भ्वै हरेऊ न रह्यौ परै 'देव' सु पूछन आई।
हौंही भुलानी कि भूले सबै, कहैं ग्रीष्म सों सरदागम माई।।

प्रेम की जब पराकाष्टा हो जाती है तब प्रिय की प्रत्येक वस्तु अति प्रिय लगने लगती है, मन उसको अपने से सर्वथा अभिन्न कर लेना चाहता है। कृष्ण से प्रेम होने पर मन की लगन इतनी तीव्र हुई है कि प्रिय के श्याम वर्ण को अपने सारे शरीर में रमा लिया है। इससे दो कार्य सिद्ध हुए, एक तो यह है कि प्रिय का सदा के लिए सान्निध्य हो गया, दूसरा यह कि प्रिय का साक्षात् संगम न हुआ तो न सही, उसके वर्ण का तो शरीर से मिलन हो ही गया—

'देव' मैं सीस बसायो सनेह कै, भाल मृगम्मद बिन्दु कै राख्यो।
कंचुकी मैं चूपयो करि चोवा, लगाय लियौ उर सों अभिलाखै।।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार के चाख्यौ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ।।

जब प्रेम दृढ़ हो जाता है तो लोक निन्दा आदि की कोई चिन्ता नहीं होती—

कोऊ कहौं कुलटा, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, अलकिनी कुनारी हौं।
कैसो नर लोक, परलोक बर सोकनि मैं,
लीन्हीं मैं सलीक, लोकनि तें न्यारी हौं।।
तन नाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान कि जाउ, टेक टरति न टारी हौं।

वृंदावन बारी बनवारी की मुकुटबारी,
पीत पट बारी वाही मूरति पै वारी हौं ।।

देव रीतिकालीन कवि थे। उन्होंने रीति-ग्रन्थ की परम्परा में बँध कर काव्य रचा था। इसके अन्तर्गत नायिका भेद में ऊषा वर्णन देखियेगा। जिसको खण्डिता नायिका की उक्ति ने क्या विलक्षण रूप दे दिया है—

वा चकई को भयो चित चीतो, चितौति चहूं दिसि चावसों नाची।
ह्वै गई छीन छपाकर की छवि, जामिनि जोन्ह मनो जम जांची।।
बोलत बैरी बिहंगम, 'देव' सुबैरिन के घर संपति सांची।
लोहू पियौ जु बियोगिनी को सु कियो मुख लाल पिसाचिनी प्राची।।

वैराग्य भक्ति—

पहले हम लिख आये हैं कि देव ने वैराग्य और भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले पद्य भी लिखे हैं। उनमें मन को अधिक कोसा गया है।

मनुष्य का मन ही उसे बन्धन या मुक्ति दिलाता है। अस्तु, देव अपने मन को फटकारते हैं कि मैं पहले ही तुझे कुमार्ग की ओर जाने से रोक देता, काश कि मुझे पता होता कि तू ऐसा निकलेगा।

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषय के संग,
एरे मन मेरे, हाथ पांव तेरे तोरतो।।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सो निहारि हारि बदन निहोरतो।।
चलत न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावननि मारि मुंह मोरतो।।
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौं बाँधि,
राधा वर विरुद के वारिधि में बोरतो।।

देव के हृदय में घनश्याम के प्रेम का श्याम समुद्र उमड़ आया है, जिसके प्रभाव से सब ओर श्याम ही श्याम हो गया है—

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमंग आयो,
तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक संग में।
कारे कारे कागद लिखे ज्यों कारे आखर,
न्यारे करि बाँचै कौन, नाचे चित भंग में।

आँखन में तिमिर, अमावस की रैनि अरु,
जंबू रस बूंदि जमुना जल तरंग में।
यों ही मन मेरौ मेरे काम को न रह्यो 'देव'।
श्याम रंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंग में।

कृष्ण प्रेम के हृदय में उमड़ आने से सारे ही आन्तरिक विकार प्रेम की बाढ़ में कुछ बह गये और कुछ डूब गये—

'देव' घनस्याम-रस बरस्यों अखण्ड धार,
पूरन अपार प्रेम-पूर न सहि पर्‌यो।
वित-बन्धु बूड़े मद-मोह-सुत बूड़े देखि,
अहंकार मीत मरि मुरझि मही पर्‌यौ।
आसा, त्रिसना-सी बहू बेटी लै निकसि भौजी,
माया-मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्‌यौ॥
गयौ नहिं हेरो, लयौ तन में बसेरो नेह,
नदी के किनारें मन मन्दिर ढहि पर्‌यौ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव में भावाभिव्यक्ति, वर्णन कौशल एवं उक्ति-वैचित्र्य सभी कुछ था। सभी रसों का परिपाक दिखाने की ओर उनका ध्यान रहा है। उनकी इन बातों को देखकर श्री बालादत्त मिश्र जैसे व्यक्तियों ने उन्हें इतना चढ़ा दिया कि सूर और तुलसी भी नीचे कर दिये। देव को नभ-मण्डल बनाकर सूर आदि को उसमें चमकने वाले ग्रह दिखलाया, पर यह अत्युक्ति मात्र है। देव से तो बिहारी भी बढ़े-चढ़े हैं।

साहित्य में थोड़ें शब्दों में अधिक से अधिक भाव प्रकट करना ही अधिक उत्तम समझा जाता है। इस बात में देव सर्वथा असफल रहे हैं। सवैया और कवित्त सदृश बड़े छन्दों में भी पूरा भाव व्यक्त नहीं कर सके। वे मजमून तो बड़ा पेचीदा बांधते थे, पर आगे उनके पास शब्द समाप्त हो जाते थे और भाव अधूरा ही रह जाता था। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्य देखिए—

गुरुजन-जावन मिल्यौ न, भयो न दृढ़ दधि'
मथ्यौ न विवेक रई 'देव' जो बनायगो।
माखन मुकुट कहां छाड्यो भुगुति जहाँ,
नेह बिनु सिगरी सबाद खेह नायगो॥

डूबलेखत बच्यो मूल कच्यौ सच्यौ लोभ भांड़े,
तच्यौ क्रोध आंच पच्यौ मदन सिरायगौ ।
पायो न सिरावन सलिल छिमा छींटन सो,
दूध सो जनम बिन जाने उफनायगौ ।।

यहाँ देव ने एक लम्बा रूपक बाँधने की चेष्टा की है। पर अन्त में 'दूध सो जनम बिन जाने उफनायेगो' लिखकर उस पर पानी फेर दिया है। क्योंकि 'सो' उपमावाचक शब्द है। फिर 'उफनायगो' दूध का धर्म होने से ही रूपक का साधक है, उपमा का नहीं। जीवन पक्ष में उफनने का अर्थ 'व्यर्थ जाना' ही लगेगा पर इसके लिए खींचतानी करनी होगी।

प्रस्तुत संग्रह में देव के उत्तम-उत्तम पद्य ही छाँटे गये हैं। अतः इस प्रकार के उदाहरण बहुत नहीं मिल सकते। पर अन्य पद्यों में यह देखा जा सकता है कि कितना विस्तार करके तब अर्थ पूरा हो पाया है।

अस्तु, देव प्रतिभाशाली कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। वे बहुश्रुत थे। दार्शनिक तत्त्व एवं आध्यात्मिक सामग्री को देखकर यह सिद्ध हो जाता है। उनके पद्यों में अलंकार की भरमार है। एक-एक पद्य में कई-कई अलंकार हैं। उदाहरण के लिए 'फटिक सिलानी' आदि पद्य में उत्प्रेक्षा, सामान्य उपमा, तद्गुण, प्रथम प्रदीप, उत्प्रेक्षा-प्रतीप का संकर, उदात्त अलंकार हैं, व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है। सवैया इन के काफी सुन्दर है। 'बरुनी बघम्बर में' आदि सवैया में सांगरूपक बहुत सुन्दर बना है।

इनकी भाषा सरल है। शब्दों की तोड़-मरोड़ भी की गई है। तथापि जहाँ अलंकार लाने का प्रयास नहीं है, वहाँ अच्छी सरसता है। इस प्रकार देव कवि अपने काव्य-कौशल से हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

प्रश्नन ८— भाव, भाषा एवं कवित्व की दृष्टि से देव और बिहारी की तुलना कीजिए। उदाहरण अपेक्षित है।

अथवा

देव और बिहा ी के काव्य-सौष्ठव की तुलना कीजिए।

अथवा

भाव भाषा शैली की दृष्टि से बिहारी और देव की तुलनात्मक आलोचना कीजिए।

(मध्यमा परीक्षा सं० २०१९)

उत्तर—रीति काल में बिहारी और देव दोनों ऊँचे दर्जे के महाकवि हुए हैं। दोनोंका काव्य सुन्दर है। दोनों ही रीति परम्परा को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पालने वाले कवि हैं। दानों की रचनाएँ मुख्य रूप से शृंगार रस से सम्बन्ध रखती हैं। दोनों भावनाओं के आश्रय में रहते हैं। दोनों ही अपने आश्रयदाताओं से सन्तुष्ट प्रतीत होते हैं। दोनों ही वृद्धावस्था में भक्ति की ओर मुड़े हैं। दोनों की ही रचनाओं को शृंगार, नीति और भक्ति में विभक्त कर सकते हैं। दोनों में ही उक्ति-वैचित्र्य विद्यमान है। दोनों ही आचार्य की उपाधि से विभूषित किये जा सकते हैं। तथापि दोनों में निम्नलिखित अन्तर है—

१. देव कवि वियोग में निपुण हैं और बिहारी संयोग में। वियोग में उनकी वैसी अनुभूति नहीं पाई जाती जैसी कि देव की पाई जाती है। बिहारी ने एक विरहिणी के संताप का वर्णन इस प्रकार किया है—

औंधाई सीसी सुलखि, विरह अगिनि बिलगात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटो छुयो न गात।

यहाँ विरहिणी का संताप उपहासपूर्ण हो कर रह गया है। एक स्थान पर उसकी इतनी दुर्बलता दिखाई है कि साँसों के कारण छः-सात हाथ ऊँची उठ जाती है।

इत आवति चलि जात उत, चली छः सातक हाथ।
लगी हिंडोरे सी रहै, चढ़ी उसासनु साथ।

इसी प्रसंग में देव का आलंकारिक विरह-वर्णन देखिए—

कंत बिन बासर बसत लागे अतक से
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।
सान धरे सार से चंदन घनसार लागे
खेदन लागे खरे मृगमद लागे चहकन।
फाँसी से फुलेल लागे, गाँसी से गुलाब अरु
गाज अरगजा लागे चोवा लागे चहकन।
अंग-अंग आगि ऐसे केसर को नीर लागे
चीर लागे जरन, अबीर लागे दहकन।

देखिए भला, संताप-वर्णन कितना स्वाभाविक है। इस प्रकार एक स्थान पर संताप के कारण विरहिणी को चन्द्रमा के सम्बन्ध में सहसा भ्रम हो गया

है कि उसे शीतकर क्यों कहते हैं ?

हौं ही बौरी विरहबस, कै बौरी सब गांव।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर नांव ।।

अब इसी से मिलता हुआ देव का सवैया देखिए—

रैन सोई दिन, इन्दु दिनेस, जुन्हाई है धाम घनौ विषघाई ।
फूलनि सेज, सुगन्ध दुकूलनि, सूल उठे तन तूल ज्यौं ताई ।।
बाहर भीतर ब्वै परेऊ न रह्यो परै 'देव' सू पूंछन आई ।
हौं ही भुलानि कि भूले सवै, कहै ग्रीष्म सों सरदागम माई ।।

२. देव का भ्रमणजन्य अनुभव विशेष वढ़ा हुआ था, बिहारी का संकुचित ।

३. विहारी का प्रकृति-वर्णन कहीं-कहीं स्वतन्त्र भी है, देव का उद्दीपन के रूप में ही है। जैसे--

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध।
ठौर-ठौर झौंरत झंपत, झौंर झौंर मधु अन्ध ।।

अव देव की वानगी देखिए—

सुनि कै धुनि चातक मोरनि की चहु ओरन कोकिल कूकनि सौं ।
अनुराग भरे हरि बागिनि में सखि रागनि राग अचूकनि सों ।।
कवि 'देव' घटा उनई जु नई वन भूमि भई दल दूकनि सों ।
रंगराति हरी हहराती लता झुकि जाति समीर के झूकनि सों ।।

इसमें यद्यपि प्रकृति-वर्णन व्यापक है, किन्तु वह अभिसार-गमन के लिए संकेत का साधन मात्र है।

४. देव स्वकीया नायिका को ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं और उसी के शृंगार का वर्णन करते हैं। विहारी का शृंगार परकीया विषयक है। इस प्रकार देव का शृंगार स्वच्छ है, बिहारी का वासनात्मक और कलुषित ।

५. बिहारी समास शैली में निपुण हैं। वे दोहा जैसे छोटे छन्द में भी अभिलिषित अर्थ को कुशलतापूर्वक प्रकट कर लेते हैं। उनके इतने अर्थ-गाम्भीर्य-सम्पूर्ण है कि कुण्डलियां लगाकर भी दूसरे कवि पूरा अर्थ प्रकट नहीं कर पाये ।

६. देव के ग्रन्थ ७५ से २७ तक कहे जाते हैं किन्तु इनमें मौलिकता नहीं है। क्योंकि एक ही ग्रन्थ के पद्य क्रम-भेद से रखकर दूसरा नाम दे दिया गया है। विहारी ने एक विहारी सतसई लिखी है किन्तु उसी में इतनी सफलता मिली है कि देव को इतने ग्रन्थों से भी नहीं मिली।

७. रूप-वर्णन में देव का वातावरण संशिष्ट है, विहारी का स्वतन्त्र। सफलता दोनों को पर्याप्त मिली है।

८. उक्ति-वैचित्र्य में दोनों ही वढ़े-चढ़े हैं तथापि विहारी थोड़े से शब्दों में वहुत वड़ी चोट कर पाते हैं जवकि देव के सवैये और कवित्त पढ़ने के बाद पाठक को थोड़ा-सा ही अर्थ हाथ लगता है।

९. आचार्यत्व की दृष्टि से कुछ लोग देव को विहारी से वढ़कर वताते हैं। किन्तु इसमें कोई सार नहीं है क्योंकि एक तो आचार्यत्व की दृष्टि से रीति-काल का कोई कवि सफल नहीं रहा है। दूसरी बात यह है कि जितनी सफलता देव को मिली है, उतनी बिहारी को भी मिली है, बल्कि कई ग्रन्थों में जिन साहित्य सम्बन्धी तत्त्वों का देव ने प्रतिपादन किया है, बिहारी ने उन्हें ७०० दोहों के भीतर ही उदाहरण रूप में प्रतिपादित कर दिया है। अन्तर इतना ही है कि देव ने उनके लक्षण लिखे हैं, बिहारी ने केवल उदाहरण दिये हैं। वैसे केवल लक्षण लिखने के कारण आचार्यत्व की दृष्टि से विहारी के काव्य पर विचार करना संगत भी प्रतीत नहीं होता।

१०. व्यापक ज्ञान के क्षेत्र में दोनों ही बराबर हैं। बिहारी ने अपने दोहों में वैद्यक, ज्योतिष, दर्शन आदि का परिचय दिया है। देव ने भी दर्शन, नीति आदि का परिचय दिया है।

११. भाषा-सौष्ठव में किसी को कम अधिक नहीं कह सकते। शब्दों में तोड़-मरोड़ दोनों ने की है। विहारी की भाषा में दोष निकालने के लिए संक्रोक शव्द का उदाहरण दिया गया है कि संक्रान्ति शव्द संक्रोक वनता है। वास्तव में यह संक्रमण शव्द से वना है।

सारांश में दोनों प्रतिभाशाली कवि हैं। आलोचक चाहे किसी को चढ़ा दे चाहे गिर दे। कोई किसी क्षेत्र में बढ़ जाता है तो कोई दूसरे में। इससे एक को छोटा और दूसरे को बड़ा नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न ९—"ब्रज भाषा में सरलता तथा विशुद्धता पर रत्नाकर जी ने विशेष ध्यान रखा। ओज और प्रसाद इनकी कविता में विशेष रूप से पाये जाते हैं।" इस कथन के अनुसार रत्नाकर जी के काव्य का मूल्यांकन कीजिये। (मध्यमा परीक्षा सं० २००५)

अथवा

"वास्तव में रत्नाकर जी के निधन के साथ ही भारतेन्दु काल की अन्तिम आभा लुप्त हो गई।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

अथवा (मध्यमा परीक्षा सं० २००५)

सिद्ध कीजिए कि रत्नाकरजी भारतेन्दु-युग के अन्तिम महाकवि थे।

उत्तर—रत्नाकर जी उन महाकवियों में से थे जो कि द्विवेदी युग के खड़ी बोली आंदोलन के लोकप्रिय होने पर भी ब्रजभाषा की ध्वजा ऊँची किए रहे। यह, सत्यनारायण कविरत्न और वियोगी हरि, ये तीन सज्जन ऐसे थे जिन्होंने कि अंत तक केवल ब्रजभाषा में ही रचना की, जबकि अन्य साहित्यकार खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करके साहित्य क्षेत्र से ब्रजभाषा को सर्वथा अर्धचंद्र देने पर तुले हुए थे। रत्नाकर जी ने ब्रज-मण्डल में घूमकर ब्रजभाषा के प्रकृति-प्रत्ययों का ज्ञान गहनता से प्राप्त किया और ब्रजभाषा को परिष्कृत एवं पुनर्गठित किया। वे ब्रजभाषा के मर्मज्ञ थे।

इनका पूरा नाम जगन्नाथदास रत्नाकर था। इनका जन्म संवत् १९२२ में काशी के एक सम्पन्न वैश्य कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम पुरुषोत्तमदास था। बाल्यकाल में ही इनकी कवित्व-प्रतिभा देखकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आशीर्वाद दिया था कि यह बालक हिन्दी की शोभा बढ़ाएगा। इन्होंने रुचिपूर्वक विद्याध्ययन करके बी० ए० पास की और आवागढ़ राज्य में नौकरी कर ली, और 'जकी' उपनाम से फारसी में कविता का अभ्यास करने लगे। पर कुछ ही दिनों में 'रत्नाकर' उपनाम से हिन्दी में कविता करने लगे और फिर हिन्दी के ही कवि बन गये। यह कलकत्ता में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी बने। उसके बाद अयोध्या के महाराज और उनकी मृत्यु के पश्चात् महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। उसी कार्यकाल में इन्होंने 'गंगावतरण' नामक प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य की रचना की। उनकी अन्तिम

रचना 'उद्धवशतक' है । इसका निर्माण संवत् १९८६ में हुआ । इसके बाद संवत् १९८९ में हृदय रोग से इनका हरिद्वार में स्वर्गवास हो गया ।

रत्नाकर जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

गंगावतरण उद्धवशतक, हिंडोलशतक, हरिश्चन्द्र, शृंगारलहरी, गंगा-लहरी, रत्नाष्टक आदि । विहारी सतसई पर लिखी टीका 'विहारी रत्नाकर' के नाम से प्रसिद्ध है । 'समालोचनादर्श' आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों पर प्रकाश डालती है । यह 'सूरसागर' का सम्पादन भी कर रहे थे पर बीच में मृत्यु हो जाने के कारण काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इस कार्य को अपने हाथों में लिया ।

रत्नाकर जी ब्रज भाषा के प्राचीन परिपाटी वाले कवि थे इन में कवित्व की विलक्षण प्रतिभा थी ही । साथ ही वैदुष्य के कारण इनकी रचनाओं में विशेष प्रौढ़ता आ गई । इनकी रचनाएँ अपने काव्य-कौशल भाव-गाम्भीर्य आदि की दृष्टि से रीति कालीन कवियों की रचनाओं से कम नहीं हैं ।

रत्नाकर जी जिस समय काव्य-क्षेत्र में आए उस समय खड़ी बोली आन्दो-लन पूरे जोर से चल रहा था । ब्रज भाषा के अच्छे-अच्छे भक्त उससे प्रभावित होकर खड़ी बोली के पक्ष में होते जा रहे थे । कुछ कवि न तो ब्रजभाषा का ही मोह छोड़ पाते थे, न खड़ी बोली के आकर्षण से बच पा रहे थे । वे दोनों में ही कविता करने लगे थे । ऐसे समय में रत्नाकर जी, श्री सत्यनारायण कवि-रत्न और वियोगी हरि ये तीनों महारथी ही ऐसे थे जो कि दृढ़तापूर्वक ब्रजभाषा में ही कविता करते रहे ।

रत्नाकर जी की पहली रचना 'गंगावतरण' है । इसमें भागीरथ द्वारा गंगा को पृथ्वी पर लाने की कथा विस्तार से वर्णित है । इसमें रत्नाकर जी का वर्णन चातुर्य, प्रबन्ध-कौशल, संवाद-नैपुण्य आदि गुण प्रत्यक्ष दीखते हैं । यह रचना अति प्रवाहशील और ओजमयी है । ब्रजभाषा के शब्दों में कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों से भाषा और भी चमत्कारपूर्ण हो गई है ।

गंगावतरण में गंगा की धारा का वर्णन देखिए ।

दोउ धार टकराइ, उछरि मुरि पुनि जुरि धावत ।
सेत नील घन पाँति लहरति नभ ज्यों आवति । ।

हलरत लहर दुरंग संग मिलि जुलि मन भाई।
तरुवर ज्यौं चल पत्र बीच ह्वै परति जुन्हई।।

इन पंक्तियों में कवि के सूक्ष्य निरीक्षण शक्ति का भी ज्ञान हो जाता है।

'हरिश्चन्द्र' में सत्यवीर हरिश्चन्द्र की कथा सुन्दर प्रवाहमयी भाषा में वर्णित की गई है। वैसे यह रचना उत्कृष्ट नहीं है। इनके कवित्व की पूरी आभा तो 'उद्धव शतक' में दिखाई देती है। उसमें भाव गाम्भीर्य, उक्ति चातुर्य, सरसता, व्यंग्योक्ति, लाक्षणिक वक्रता, मौलिकता आदि सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। यद्यपि इसका विषय 'भ्रमर-गीत' की वही घिसी-पिटी कथा है जिस पर कि सूर, नन्ददास, तुलसी दास, अष्टछाप के अन्य कवि, आलम आदि दूसरे अनेक कवि भी लिख चुके थे तथापि उसी को अपनी प्रतिभा से मौलिक बना देना इन की ही प्रतिभा का चमत्कार है।

उद्धव का आगमन सुनकर ब्रज में हलचल मच गई। गोपियां दौड़कर कृष्ण का सन्देश और पत्रिका सुनने के लिए नन्द के घर आने लगीं उनकी उत्सुकता का क्या ठिकाना ! कितनी तीव्र उत्सुकता है—

उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पैं,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगी।।

ऊंट समझता है कि विश्व में सबसे ऊंचा मैं हूं। पर जब वह पहाड़ के नीचे होकर गुजरता है तब पता चलता है कि वह तो कुछ भी नहीं है। उद्धव ने जब गोपियो की दशा देखी, उनका सारा अहंकार ढह गया :

दीन दसा देखि ब्रज बालनि की उद्धव कौ
गरिगौ गुमान ग्यान गौरव गुठाने से।
कहै 'रत्नाकर' न आये मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भये सकुचि सिहाने हैं।।
सूखे से, रूखे से, सक बके से, सके से थके
भूले से भ्रमे-से भभरे से, भकुवाने से,
गले से, हले से हूल-हूले से हिये में हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से।।

अस्तु, गोपियों की उत्सुकता बढ़ रही थी। उद्धव ने अपनी ज्ञान-गठरी खोली, लगे अपना माल दिखाने। हाय! क्या सुनने आई थी और यह क्या सुनाने लग गये? यह जले पर नमक छिड़कने लगे हैं। ऐसी स्थिति में कभी धैर्य रह सकता है? गोपियों पर मानो यह निराशा का दूसरा वज्रपात हुआ। यह उपदेश सुनकर —

कोऊ सेद सानी कोऊ दृग भरि पानी रही
कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं!
कोऊ स्याम स्याम कह बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं॥

अस्तु धैर्य धर कर गोपियों ने भी उत्तर देना आरम्भ किया। ठीक है महाराज! अब हमारे गोपाल महाराज बन गये हैं। राजमहलों में रहते हैं। षड्रस भोजन करते हैं, इन्द्रलोक तक राज-कार्य चलाते हैं, अब वे बड़े बन गए हैं। पर यह तो बताओ कि जो आनन्द उन्हें व्रज में मिलता था, वह मथुरा में भी मिलता है? कभी वह माखन मिलता है जो चुरा-चुरा कर खाया करते थे। भाट बढ़ाई तो करते होंगे, पर कभी उन्हें वह दुलार भी मिलता है जो यहां मिला करता था। और राज-काज में अवकाश पाकर—

"जाइ जमुना तट पै कोउ वट छांहि मांहि
पाँसुरी उमाहि क्यौं बाँसुरी बजावै हैं॥"

अब उद्धव की खबर ली जाने लगी। प्राचीन काल में राजा लोग रानियों को समझाने विदूषकों को भेजते थे तो उनकी पिटाई होती थी। गोपियाँ ऐसा तो नहीं कर सकती थीं। क्योंकि उद्धव उनके प्रियतम के सखा थे। पर बातों ही बातों में उन्हें यह मालूम करा दिया। कहती हैं, श्रीमान् जी आप अपना परिचय तो दीजिए। कहते थे कि हम कन्हैया के दूत हैं, बातें करते हो ब्रह्म की। क्या उनके भेदिथे होकर ब्रजवासियों की बुद्धि को चक्कर में डालने आए हो। यह तो प्रेम नगरी है, तुम यह भी नहीं जानते कि क्या उल्टी बात कर रहे हे :

"जैहै न बनि बिगरी वारिधिता वारिध की
बूंदता बिलै है, बूंद विवस बिचारी की।"

प्रेम-मार्ग की मर्यादा भिन्न है। प्रेमी प्रिय से मिलने की चाह रखता हुआ भी अपने अस्तित्व का लोप नहीं चाहता। फिर प्रेम की अनुभूति होगी ही

किसे, जबकि उसका व्यक्तित्व ही लुप्त हो जाएगा। इसलिए गोपियाँ कृष्ण के ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी उनसे अभिन्नता को ठीक नहीं समझतीं। क्योंकि जब समूह इकाई के लिए अपने अस्तित्व को नहीं मिटाता, तब भला इकाई ही क्यों अपनी हस्ती को मिटा दे। क्योंकि इकाई के मिलने से समूह में तो विशेष अन्तर नहीं आता पर इकाई का तो अस्तित्व ही लुप्त हो जायेगा।

यदि तुम्हारा यह उपदेश कुछ काम का हो तो मान भी लें, पर यह तो मूर्खता-पूर्ण और निरर्थक है, उसे मानने से क्या लाभ !

चिन्तामनि मंजुल पंवारि धूरि धरनी में
काँच मन मुकुर सुधारि रखिबौ कहौ।
कहै 'रतनाकर' वियोग आगि सारन कों,
ऊधो हाय हमकौं बयारि भखिबौ कहो॥
रूप रस हीन जाहि निकट निरूपि चुके,
ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चखिबौ कहौ।
ऐसे बड़े विश्व मांहि हेरेहू न पैये जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूंदि लखिबौ कहौ।

बात है भी ऐसी ! भला कोई रत्न को छोड़कर कांच ग्रहण करेगा ? कौन इस पर विश्वास करेगा कि हवा खाकर वियोग की आग बुझ जायेगी। तुम्हारी बातों में तो संगति ही नहीं, आप तो ब्रह्म को रूप-रसहीन कहते हो, आप ही कहते हो कि ध्यान से उसका रस लो। और इससे बढ़कर बात क्या होगी कि जिस को इतने विशाल विश्व में खोज कर भी नहीं पा सकते उसे आँख मूंद कर देखने की बात कहते हो। यह कभी सम्भव हो सकता है !

फिर यदि कुछ क्षण के लिए तुम्हारा ब्रह्म कहीं पकड़ में आ भी गया तो वह हमारे किस काम का ? कृष्ण तो हमारे सौ काम आते थे, वह भला क्या करेगा—

कर बिनु कैसे गैया दुहिहै हमारी वह
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहैं।
कहै 'रतनाकर' बदन बिनु कैसे चाखि,
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहैं॥

देखि सुन कैसे दृग स्रवन बिना ही हाय,
भोरे ब्रजवासिन, की विपति बराइहैं।
रावरे अनूप कोई अलख अनूप ब्रह्म,
उधौं कहौ धौं हमारे कौन काम आइहैं।।

उद्धव ! तुम तो कहते हो कि मुझे योग सिखाने को भेजा था, बातें तुम करते हो वियोग बढ़ाने की ? (योग का अर्थ मिलन है) वाह भई वाह ! आए थे संताप मिटाने, उल्टी बातें करके उसे बढ़ाते क्यों हो ?

समझदार को कहना ही पर्याप्त होता है। उसे सुनकर और समझकर चुप हो जाना चाहिए। पर वह न मानें तो फटकारना पड़ता है। गोपियां ने उद्धव को समझाना चाहा पर उनकी समझ में नहीं आया तो वे चिढ़ गईं। उन्हें कहना ही पड़ा—

'चेरी हैं न ऊधौं काहु ब्रह्म के बबा की हम,
सूधौ कहि देति एक कान्ह की कमेरी हैं।''

कभी-कभी अभिलषित वस्तु पाने के लिए अनचाहा काम भी करना पड़ जाता है, पर यदि उसे करके भी कोई लाभ न हो तो फिर क्यों किया जाए ?

साधि लैहैं जोग के जटिल विधान ऊधो,
बांधि लैहें लंकनि लपेट मृग छाला हूं।
कहै रतनाकर सुमेल लैहैं छार अंग,
झेला लैहैं ललकि घनेरे घाम पाला हूं।।
तुम तो कही औ अनकही लीनी सबै,
अब जो कहौ तौ कछु व्रज बाला हूं।।
ब्रह्म मिलबे तै कहा मिलि है बतावौ हमें,
ताकौ फल जब लौं मिलै न नंदलाला हूं।।

गोपियाँ अपने प्रेम के लिए विख्यात हैं। उनका प्रेम आदर्श बन गया है। गोपियों को स्वयं भी अपने प्रेम के लिए गर्व है। वे कहती हैं—

दौनाचल कौ ना यह छटक्यो कनूका जाहि,
छाई छिगुनी पैं छेम-छत्र जित छायौ है।
कहैं 'रतनाकर' न कूकर वधूवर को,
जाहि रंचै राचै पानि परसि गंवायो है।

यह गरु प्रेमाचल दृग व्रत धारिनि का,
जाके भार भाव उनहूं को सकुचायौ हैं।

कूबरी पर कटाक्ष कराने से रत्नाकर जी भी नहीं चूके हैं। उनकी गोपि
कह ही बैठती हैं कि तुम कूबरी के भेजे हुए हो, कृष्ण के नहीं :—

'रसिक शिरोमनि को नाम बदनाम करौ,
मेरौ जान ऊधौं कूर कुबरी पठाये हो।

वहुत हुआ, ताने भी दे दिये, प्रेम की गुरुता का भी परिचय दे दिया;
तो अपनी दीनदशा का परिचय देना शेष था, उसे किस आलंकारिक रीति
देती हैं, यह भी देखने योग्य है—

विकसित विपिन वसन्तिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिन के अंग पियराने में।
बौरे वृन्दा रसत रसाल वर वारिनि के,
पिक की पुकार है चबाय उमगाने में।
होत पतझार झार तरुनि समूहनि कौ,
बैहरि वतास वै उसास अधिकाने में।
काम विधि काम को कला में मीन-मेष कहा,
ऊधौ नितु बसत बसंत बरसाने में।

एक ही पद्य ने गोपियों की विरहजन्य दशा का उल्लेख कर दिया है उस
और कुछ कहने को नहीं रहा। पर वे जानती हैं, इन बातों को यदि श्रीकृ
सुनेंगे तो दुःखी होंगे। प्रियतम का मनदुखाना क्या उन्हें शोभा देता है? नहीं
प्रेम के मार्ग में व्यथा को चुपचाप-सहना ही सबसे वड़ा कर्त्तव्य है।

उद्धव से कहती हैं कि यहाँ के बारे में अगर कुछ पूछें तो तुम कुछ कह
मत। केवल

'आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछु,
कहिबौ कौ चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ।'

व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए कितना सुन्दर अनुभाव है। उद्धव पूछते
कुछ सन्देश देना हो तो दे दो। परन्तु गोपियाँ क्या संदेश दें? कहती हैं—

नन्द-जसुदा औ गाय गोपिका की कछु,
बात वृषभान भौनहू की जनि कीजियौ।

कहै 'रतनाकर' कहति सब 'हा हा' खाइ।
हयां के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ ।।
आँसू भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै हाय,
व्रज दुःख त्रास की न तांते साँस लीजियौ।
नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस,
स्याम सों हमारी 'राम राम' कहि दीजियौ ।।

कितना त्याग है ? व्यथा को चुपचाप सहना, कोई शिकायत न करना, यह शुद्ध प्रेम का सूक्ष्म लक्षण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नाकर ने विषय यद्यपि वही घिसा-पिटा अपनाया था तथापि अपनी प्रतिभा से उसे सर्वथा मौलिक रूप दे दिया है। उपर्युक्त उद्धरण उनकी उत्कृष्ट भाव भूमि पर भली प्रकार प्रकाश डाल देते हैं।

केवल भाव पक्ष में ही नहीं, रत्नाकर का कला पक्ष भी उच्चकोटि का है। उनकी भाषा में ओज है, प्रभाव है, भाव-प्रकाश-क्षमता है और है स्वाभाविक सरलता। कृत्रिमता के लिए उसमें प्रवेश नहीं है। अर्थ-सौंदर्य को बढ़ाने के लिए इसे अलंकारों से भूषित किया गया है। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की सुन्दर योजना की गई है।

"दीनाचल को ना या छटक्यो कनूका जाहि,
छाइ छिगुनी पै छेम-छत्र छित छायो है।"

इस पद्य में निदर्शना, रूपक, यमक और वृत्यनुप्रास की सुन्दर संसृष्टि है। साथ ही श्रुत्यनुप्रास भी है।

'विकसित विपिन बसंतिकावली को रंग।'

इस कविता में श्लेष, रूपक यमक परिकर और व्यतिरेक अलंकारों का संकर है।

रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में बहुज्ञता का परिचय दिया है। आयुर्वेद, ज्योतिष, दर्शन आदि अनेक विषयों का उन्होंने अनेक स्थानों पर संकेत किया है। भाषा में मुहावरों का प्रयोग उसका सौंदर्य बढ़ा देता है। जैसे—

"तीन गुन पांच तत्व बहिकि बतावत सो,
जैहैं तीन तेरह तिहारि तीन पाँच ह्वै।"

इसमें 'तीन-पाँच करना' और 'तीन तेरह होना' इन मुहावरों का प्रयो किया है। इसी प्रकार—

"आये हो पठाये या छतीसे छलिया के इतै,
बीस बीसे ऊधौ बीर बावन कलाँच ह्वै।"

"बाढ़ै पै रहौगे साढ़े बाइस ही जाँच ह्वै।"

आदि भी देखने योग्य पद्य हैं।

छन्दों में इन्होंने रोला, कवित्त जैसे छन्दों का प्रयोग अधिक किया है। यद्यपि कथा-प्रवाह के लिए कवित्त विशेष उपयुक्त नहीं रहा जो कि 'गंगावतरण' औ 'हरिश्चन्द्र' में रोला छन्द उपयुक्त सिद्ध हुआ है, तथापि विविध भावों की व्य जना करने में बाधा नहीं आई है।

इन सभी बातों से सिद्ध होता है कि रत्नाकर जी ब्रजभाषा के उत्तम कवि थे। द्विवेदी युग में खड़ी बोली के बढ़ते प्रभाव के बीच वे ही अन्तिम योद्धा कवि थे क्योंकि अन्य दो साथियों में श्री सत्यनारायण कविरत्न का युवावस्था में ही स्वर्गवास हो गया था और वियोगी हरि जो विशेष रूप से 'वीर सतसई' से प्रसिद्धि पा गये थे, उनका क्षेत्र राष्ट्रीयता एवं नवीन विषयों की ओर ही रहा और आगे चलकर उन्होंने साहित्य-साधना से हाथ खींच लिया था। ऐसी स्थिति में रत्नाकर जी ही भारतेन्दु की परम्परा बनाये रहे। उनके स्वर्गवास के पश्चात् यह परम्परा लुप्त हो गई। अतः यह कहना ठीक ही है कि रत्नाकर जी के निधन के साथ ही भारतेन्दु-काल की अन्तिम आभा भी नष्ट हो गई।

प्रश्न १—रत्नाकर के भ्रमर गीत की विशेषताएं बतलाइये और नन्ददास के भ्रमर गीत से उनकी तुलना कीजिए।

(मध्यमा परीक्षा सं० २०१६)

उत्तर—सूरदास के बाद यद्यपि अनेकानेक कवियों ने 'भ्रमरगीत' जैसे प्रसंग को उठाया, तथापि उसमें से कोई भी इसके उद्देश्य को पूर्णतया सिद्ध न कर सका अथवा 'भ्रमरगीत' की परम्परा का सफलतापूर्वक निर्वाह न कर सका।

रत्नाकर जी ने अपने काव्य-ग्रन्थ का नाम यद्यपि 'भ्रतरगीत' नहीं रखा तथापि उसका प्रत्येक पद भ्रमर गीत की परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। 'उद्धव-शतक' में यद्यपि भ्रमर का समावेश नहीं है तथापि उसमें हमें सूर के

गोपियों की उक्तियों से मिलने वाली वचन-भंगी के दर्शन होते हैं, वही ब्रज का पुरातन प्रेमसिक्त वातावरण देखने को मिलता है। और साथ ही ग्रन्थ का उपसंहार भी ज्ञान-मार्ग के ऊपर भक्ति-मार्ग के विजय-घोष द्वारा किया गया है। यथा—

कृष्ण का व्रज प्रेम—

ऊधो सुख-सम्पति-समाज व्रज मण्डल के
भूलै हूं न भूलैं भूलैं हमकौ भुलाइवौ।
तथा—प्यारौ नाम गोविन्द गुपाल को विहाइ हाय,
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ कहिहैं कहा।

व्रज का प्रेमसिक्त वातावरण—

गोकुल के गाँव की गली में पग पारत हीं
भूमि के प्रभाव और भरिवै लगै।

गोपियों की वचन-भंगी—

केती मिली मुकति बघू वर के कूबर में,
ऊबर भई जो मधुपुर मैं समानी ना।
तथ — जैहैं प्रान-पट लै सरूप मनमोहन कौ,
तातैं ब्रह्म रावरे अनूप को मिलैहैं हम।
जौपै मिल्यौ तौ धाइ चाय सों मिलैगी पर
जोन मिल्यौ तौं पुनि यहां ही लौटि ऐहैं हम।

ज्ञान पर भक्तिका विजय-घोष—

आए लोटि लज्जित नवाए नैन ऊधो अब
सब सुख-साधन कौ सूधो जतन लै।
× × ×
प्रेम-रस रुचिर विराग, तूमड़ी मै पूरि,
ज्ञान-गूदड़ी में अनुराग सौ रतन लै।
× × ×
गोपी-ताप-तरुन तरनि-किरनावलि के
ऊधव नितांत कांत-मनि बनि पाए हैं।

मौलिक उद्‌भावनाओं अलंकारिक कौशल, नवीन युक्तियों एवं तर्कों द्वारा मनोवैज्ञानिक चित्रोपमता के द्वारा रत्नाकर जी ने इस प्राचीन विषय में नवीनता का संचार कर दिया, उसमें एक नवीन चेतना भर दी। भक्ति और रीति के सुन्दर समन्वय के कारण 'उद्धवशतक' में एक अद्‌भुत आकर्षण आ गया है। विषय की उठान, उसका प्रतिपादन, भावों की गहन अनुभूति, वर्णन की स्वाभाविकता, भाषा की सुबोधता एवं सरलता, रचना-कौशल आदि सभी प्रकार से 'उद्धवशतक' एक श्रेष्ठ ग्रन्थ प्रमाणित होता है—भ्रमरगीत परम्परा का वह एक सफल काव्य ग्रन्थ है। सूर के 'भ्रमर गीत' तथा नन्ददास के 'भंवर गीत' के पश्चात 'भ्रमर गीत' परम्परा की यह एकमात्र सफल रचना है।

नन्ददास के भ्रमर गीत से अन्तर—

'रत्नाकर' जीका'उद्धव-शतक' एक प्रकार से 'भ्रमर गीत' परम्परा की अन्तिम कड़ी माना जाता है। कवि की रचना के नामकरण से यह प्रतीत नहीं होता कि यह काव्य 'भ्ररम गीत' की परम्परा का पालन करने वाला होगा। परन्तु जव हम इसका आद्यान्त अध्ययन करते हैं तो यह इस परम्परा का सशक्त काव्य प्रमाणित हो जाता है। इसके विपरीत नन्ददास का 'भंवर गीत' विकास परम्परा की दृष्टि से दूसरे नम्वर पर आता है उसका नामकरण भी उसके वर्ण्य-विषय को स्पष्ट कर देता है।

'रत्नाकर' जी ने 'उद्धव शतक' में जिस प्रेम और विरह भाव का वर्णन किया है, वह उभय पक्षीय है। उसमें कृष्ण-राधा और गोपियाँ सभी परस्पर प्रेम विरह में आकुल हैं और एक दूसरे के समाचार पाने के लिए उत्सुक दिखाये गये हैं। यमुना में वहकर आये एक कमल को सूँघ कर, उसमें राधा के तन की मुरझाई सुगन्धी पाकर कृष्ण राधा की स्थिति का अनुमान लगाकर केवल व्याकुल ही नहीं हो उठते, बल्कि वेसुध हो जाते हैं। उद्धव अनेक प्रकार के उपचार करके उनको होश में लाता है। अतः प्रेम विरह का उभय पक्षीय वर्णन स्पष्ट है। इसके विपरीत नन्ददास या अन्य पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती इस परम्परा वाले काव्यों में यह बात नहीं मिलती। वहाँ तो कृष्ण ब्रजवासियों के बार-बार संदेश पाने के वाद गोपियों को समझाने के लिए ही उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते हैं। यहाँ उद्देश्य भी उपदेश देना ही है। यह वात नन्ददास के उद्धव के इस कथन

से ही स्पष्ट हो जाती है कि "ऊधो का उपदेश सुनो ब्रज नागरी" इस दृष्टि से रत्नाकर जी के काव्य में अधिक मौलिकता है जब कि नन्ददास ने परम्परा का ही अपने ढंग से निर्वाह किया है। वहाँ सूरदास से आगे कोई मौलिक रचना नहीं मिलती। यह ठीक है कि नन्ददास के 'भंवर गीत' में उद्धव के मुख से ब्रज-वासियों की दशा का वर्णन सुनकर कृष्ण भी व्याकुलता और वेसुधी का अनुभव करते हैं, पर रत्नाकर जैसा तीव्रता का द्विपक्षीय भाव यहाँ नहीं है। इस वारे में नन्ददास का उदाहरण देखें—

"सुनत सखा के बैन नैन भरि आये दोऊ।
विवस प्रेम आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम-प्रति गोपिका, ह्वै रहै साँवल गात।
कल्पतरो रूह साँवरो, ब्रज वनिता भई पात॥
उलहि अंग अंगतें॥"

इसके विपरीत रत्नाकर के श्रीकृष्ण तो व्याकुल-वेसुध हो हीजाते हैं, उद्धव का ज्ञान का गर्व भी चूर-चूर होकर रह जाता है और वह ब्रज की रेती में ही कहीं 'कुटीर' छाने की कल्पना लेकर लौटता है।

'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य में परम्परागत रूप से भ्रमर का प्रत्यक्ष प्रवेश भी नहीं दिखाया है। उनकी गोपियाँ कृष्ण और उद्धव की वृत्तियों को भ्रमर के समान मानकर या कल्पित करके ही इस प्रकार के सम्बोधन करती हैं। इसके विपरीत नन्ददास ने परम्परा का पालन करते हुए उद्धव गोपी-सम्वाद में वड़ी कुशलता से भ्रमर का प्रवेश भी कराया है।

रत्नाकर और नंददास दोनों की गोपियों में तर्क करने की यथेष्ठ शक्ति और वुद्धिमानी विद्यमान है, पर निश्चय ही रत्नाकर की गोपियों का तर्क और वौद्धिकता का भाव अधिक प्रखर तथा मुखर है। रत्नाकर जी के वौद्धिक तर्कों के दो एक उदाहरण देखें:

जैहे बनि-बिगरी न बारिधिता बारिधि की,
बूंदता बिलैहैं बूंद बिबस बिचारी की।"
एते बड़े बिस्व माँहि हैरें हूं न पैयै जाहि
ताहि भृकुटी में नैन मूंदि लखिबौ कहौ।"

इसी प्रकार नन्ददास की गोपियों के तर्क का भी एक उदाहरण देखें। निश्चय ही इसमें रत्नाकर जैसी प्रखरता नहीं मिलती—

"जो उसके गुन नाँहि और गुन भये कहाँ तें।
बीज बिना तरू जामै मोहि तुम कहौ कहाँ तें।"

विरह दशा के वर्णन में दोनों कवियों के काव्यों में समान रूप से प्रखरता पाई जाती है। पर एक अन्तर भी है वह यह कि नन्ददास का विरह-वर्णन प्रभावी और प्रखर होते हुए भी सरल तथा सीधा है, जबकि रत्नाकर ने कहीं-कहीं अतिवादिता से भी काम लिया है। रत्नाकर पर रीति कालीन कवियों के विरह वर्णन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, भक्त कवियों का नहीं।

जहाँ तक कवियों की अभिव्यक्ति-पद्धति का प्रश्न है, एक प्रकार की प्रबन्धात्मकता दोनों में समान रूप से विद्यमान है। फिर भी रत्नाकर में प्रबन्ध भाव की योजना अधिक दिखाई देती है, वहाँ वर्णन और भावों के विकाश का एक क्रम भी विद्यमान है। रत्नाकर जी ने सहज मनोविज्ञान को भी अनेकशः प्रश्रय दिया है। इस कारण भी उनके काव्य में गहनता और चित्रोपमता आदि गुणों का अधिक समावेश हुआ है, जबकि नन्ददास के वर्णन में ये बातें नहीं पाई जातीं। वहाँ कवि का भक्त-हृदय ही प्रखर रूप में अभिव्यक्त हो पाया है। हाँ, नन्ददास की एक अन्य प्रमुख विशेषता अवश्य है कि जो उन्हें अन्य कवियों से अलग कर देती है। वह विशेषता है 'भंवर-गीत' प्रसंग में पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों का साँगोपांग वर्णन। रत्नाकर जी में यह सिद्धान्तवादिता नहीं है,।

रत्नाकर जी का व्यंग्य अत्यधिक तीखा और विनोद का भाव अधिक मुखर तथा प्रखर है। दूसरी ओर नन्ददास की गोपियों के व्यंग्य-विनोद में विवश हृदयता का भाव ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति पा सका है। दोनों का एक-एक उदाहरण देखें। नन्ददास की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

"कोउ कहै रे मधुप तुम्हें लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम कूबरी नाथ कहावै॥
यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी-जूठन खाय॥
मात कह बोल को॥

दूसरी ओर रत्नाकर जी की गोपियाँ भी कम नहीं। वे तो ऐसा तीखा व्यंग्य कसती हैं कि श्रोता का हृदय कचोट उठता है

"ग्यान गुरु-गौरव गुमान भरे फूले फिरौ,
बंचक के काज पै रंजक बनाये हौ।
रसिक सिरोमनि कौ नाम बदनाम करौ,
मेरी जान ऊधौ, कूरकूबरी-पठाये हौ।"

० ० ०

वे तो भये जोगी जाय पाइ कूबरी को जोग,
आप कहैं उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं।"

कृष्ण के प्रति अनन्यता और समर्पण का भाव दोनों काव्यों में समान रूप से देखा-पढ़ा जा सकता है। रत्नाकर जी ने राधा और यशोदा को उद्धव के पास नहीं आने दिया। यदि वे आती भी हैं तो मौन भाव से कृष्ण के लिए क्रमशः बाँसुरी और माखन का उपहार देने के लिए ही यह प्रक्रिया निश्चय ही अधिक प्रभावी और स्वाभाविक है। जबकि नन्ददास में इस प्रकार का वर्णन नहीं मिलता। तात्पर्य यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से रत्नाकर जी अधिक सफल दिखाई देते हैं जबकि भक्ति परम्परा की स्वाभाविकता नन्ददास में अधिक है।

भाषा के दोनों धनी हैं। फिर भी प्रायः विद्वान स्वीकार करते हैं कि रत्नाकर जी की भाषा विशुद्धता की दृष्टि से अधिक संगत, उपयुक्त और प्रभावी है। वे प्रचलित लोकोक्तियों मुहावरों आदि का प्रयोग करने में भी विशेष निपुण हैं और इस निपुणता ने भाषा में प्रभविष्णुता का अधिक समावेश कर दिया है। व्याकरण और भाषा में स्वाभाविक रूप की दृष्टियों से भी रत्नाकर जी अधिक प्रशंसनीय हैं। सभी जानते हैं कि भाषा के शुद्ध और प्राकृतिक रूप के ज्ञान के लिए रत्नाकर जी ब्रज-प्रदेश की काफी दिनों तक खाक छानते रहे थे, अतः भाषा में स्वाभाविकता और निखार आ जाना उचित ही है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि 'भ्रमर गीत' के भक्ति-कालीन उद्देश्य की रक्षा दोनों ने समान रूप से की है। दोनों में युगों का अन्तर है, अतः वर्ण्य विषय में आने वाला अन्तर अपने-अपने युग की देन ही अधिक है। दोनों कवियों की सार्थकता और सफलता असन्दिग्ध है।

प्रश्न ११—सत्यनारायण 'कविरत्न' के 'भ्रमरदूत' की विशेषताएं बताइए।

उत्तर—'भ्रमर गीत' परम्परा में 'कविरत्न' जी का प्रयास नितान्त मौलिक तथा क्रान्तिकारी माने जाने योग्य है। आगरा नगर से कई मील दूर पर निवास करने वाले ग्रामीण कवि ने प्राचीन परम्परा का परित्याग कर जिस नवीनता का मार्ग प्रदर्शन किया, वह प्रशंसनीय है। सत्यनारायण जी के 'भ्रमर दूत' में न तो गोपियाँ हैं, न उद्धव हैं और न सगुण-निर्गुण का विवाद है। केवल माँ है यशोदा, जो गंवारिन है, उसके संदेश में एक पीड़ा है—मानो वह तत्कालीन पराधीन भारत माँ की प्रतीक है—

> **जननी जन्मभूमि सुनियत स्वर्ग हु सों प्यारी।**
> **सौ तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी॥**
> **का तुम्हरी गति-मति भई जो ऐसी बरताव।**
> **किधौं नीति बदली नई, ताकौ पयौ प्रभाव॥**
> **कुटिल विष कौं भयौ॥**

श्रीकृष्ण द्वारिका चले गये। क्यों गये, इसका विवरण आरम्भ में ही कवि ने दे दिया है कि उसमें लोक कल्याण की भावना ही अधिक थी।

'भ्रमर दूत' में प्रिय पुत्र के वियोग में व्यथित यशोदा का अत्यन्त सफल चित्रण किया गया है।

सावन का महीना है। नवीन वनों की पत्तियाँ दिखाई दे रही हैं। तालाब भर चले तो हैं। दादुर बोल रहे हैं। प्राकृतिक सौंदर्य चुआ पड़ रहा है। 'धोये धोये पातन की अनुपम कमनाई' है। चातक-कोयल बोल रहे हैं। इन्द्र-धनुष तथा इन्द्रवधूटियों की शोभा मन्त्र मुग्ध कर रही है। बालिकाएँ हिंडोलों पर झूल रही हैं। मातृ प्रेम सरसावनी मल्हार गा रही हैं। बालक-वृन्द भी भौंरा-चकई खेल रहे हैं, उसी समय यशोदा का हृदय श्रीकृष्ण को स्मरण करता है और वह व्याकुल हो उठती है।

यह माँ का हृदय है। भावना से भरित, स्नेह से पूर्ण।

यशोदा साधारण माँ नहीं है। वह तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति की प्रतीक है, जहाँ नारियों को शिक्षित बनाना पाप समझा जाता है। कवि ने

इस दोष पर कड़ी भर्त्सना करते हुए यशोदा से कहलवाया है—

नारी शिक्षा निरादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेस अवनति प्रचंड पातक अधिकारी।
निरख हाल मेरो प्रथम, लेऊ समुझि, सब कोई।
विद्या बल लहि मति परम अबला सबला होई।
लखौ अजमाइकैं ॥

इन पंक्तियों में प्रगतिशीलता का संदेश है।

सत्यनारायण जी ने भ्रमर का प्रवेश जिस ढंग से कराया है, यहाँ भी उनकी कवि-प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रकृति की संवेदनशीलता भी कवि के चतुर नेत्रों से छिपी नहीं रह सकती है। तत्कालीन राजनीति का सुन्दर और सरस विश्लेषण कवि ने किया है। नेताओं का अभाव, परतन्त्रता सभी दुःखदायी हैं। नारियों में जिस उच्छृङ्खलता ने निवास कर लिया है, उस पर तो सत्यनारायण जी की निम्न पंक्तियां सदैव अमर रहेंगी।

अबकी गोपी मदभरी, अधर चलैं इतराय।
चार दिना की छोकरी, गई ऐसी गरबाय॥
जहाँ देखो तहाँ॥

देशभक्तों की विशाल-विपत्ति का आभास भी अन्तिम पद में मिलता है जो देश के स्वाधीनता-संग्राम में सेनापति रहे हैं और जिनको लक्ष्य की सिद्धि हेतु विदेशों में प्रवास करना पड़ा है। निम्न पद में 'कविरत्न' जी के हृदय की मार्मिक व्यथा भी अन्तर्हित है—

जे तजि मातृभूमि सों ममता, होत प्रवासी।
तिन्हें विदेसी तंग करत दै विपदा खासी॥
नहिं आये-निर्दय दई, आये गौरव जाय।
साँप छछूंदर गति भई, मन ही मन अकुलाय।
रहे सबके सबै॥

इन उदाहरणों से इन की अभिव्यक्ति शैली पर नन्ददास का प्रभाव भी स्पष्ट हो जाता है। भाषा-भावना में वर्ण्य विषय और प्रगीत चेतना के अनुरूप गरिमा विशेष दर्शनीय एवं उल्लेखनीय है।

प्रश्न १२—भ्रमरगीत से क्या तात्पर्य है। अपनी पाठ्यपुस्तक के आधार पर इस परम्परा में आने वाले कवियों के भ्रमरगीतों पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से प्रकाश डालिए **(मध्यमा परीक्षा सं० २०१५)**

उत्तर—यों तो भ्रमरगीत का शाब्दिक अर्थ भ्रमर द्वारा गाया गया गीत है तथापि भ्रमर यहां पर उद्धव के गुण-स्वभाव से साम्यता रखने के कारण उन का प्रतीक है। भ्रमर अपनी मधुकरी वृत्ति के लिए प्रसिद्ध है। वह किसी एक पुष्प पर निर्भर न रहकर अनेक पुष्पों के रसों का आस्वादन करता है, गुनगुनाता है, उन पर मंडराता है और रसपान करने के उपरान्त उसको तुरन्त छोड़ कर किसी और पुष्प पर चला जाता है। वह केवल रंग का ही काला नहीं वल्कि हृदय का भी काला है। यही साम्यता उपालम्भ के रूप में वाग्विदग्ध शैली से कृष्ण और उद्धव के लिए दी गई है इसलिए इसका अर्थ दोनों प्रकार से घटित हो सकता है।—अर्थात् उद्धव द्वारा गाया हुआ गीत अथवा कृष्ण सम्बन्धी गीत जिसका गान गोपियों ने किया है।

भ्रमरगीत उपालम्भ साहित्य का बृहत् कोश है। उपालम्भ का ऐसा महान् काव्य विश्व के साहित्य में दुर्लभ है। यद्यपि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इस में विविधता का अभाव है तथापि वक्रोक्ति, वाग्विदग्ध और प्रतीकों के प्रयोग में यह सर्वथा अद्वितीय है। सर्वप्रथम ब्रजभाषा के सूरदास जी ने भ्रमरगीत की रचना की। सूरदास जी पुष्टि मार्ग के अनुयायी थे जिसमें ईश्वर की अनुकम्पा को विशेष महत्ता दी गई है। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ज" की यही अभिव्यक्ति हमें इस भ्रमरगीत में मिलती है।

नाथपंथी योगी पतंजलि 'योगिक क्रिया' 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः" को लेकर प्राणायाम, आसन आदि बातों पर अधिक बल दे रहे थे जिससे जनता आश्चर्यचकित होकर भागवत धर्म से दूर होती जा रही थी। सूरदास जी ने ज्ञान श्रद्धा को अधिक महत्व दिया। योग की अपेक्षा भक्ति से परमात्मा की प्राप्ति सरलता से हो सकती है, इसी बात का प्रतिपादन कविवर सूरदास जी ने अपने भ्रमरगीत में किया है। भ्रमरगीत का लक्ष्य जहाँ भक्ति का महत्व प्रतिपादित करना है। वहाँ वियोग-शृंगार का वर्णन भी है। परोक्षरूप से निर्गुण वाद और योग-मार्ग का खण्डन इससे हो जाता है।

सूरदास जी का प्रभाव ब्रजभाषा के सभी कवियों पर अक्षुण्ण रूप से पड़ा है। नन्ददास जी ने सूरदास जी की ही पद्धति से कुछ हटकर अपना भ्रमरगीत लिखा। उसमें सम्वादात्मकता तो है ही सही, तर्क और बौद्धिक तत्त्वों का भी पर्याप्त समावेश हुआ है। साथ ही पुष्टि मार्ग के सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से भी यह अपना अलग महत्व रखता है। अष्टछाप के अन्य कवियों में भी भ्रमरगीत के ढंग के अनेक पद्य मिलते हैं। आगे चलकर ब्रज भाषा में दो और भ्रमरगीत लिखे गये हैं। जिसका विषय उद्धव-गोपी संवाद है। रीतिकालीन कवियों में भी यह परम्परा देखी जा सकती है। भारतेन्दु ने भी परम्परा का सामान्य पालन किया है। जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'उद्धवशतक' लिखा तो स्वर्गीय सत्यनारायण जी ने अपना "भ्रमरगीत" लिखकर भ्रमरगीत की परम्परा को आगे बढ़ाया। आगे चलकर खड़ी-बोली में कवि सम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इस कड़ी को जोड़ने का प्रयास "प्रियप्रवास" नामक काव्य में किया है।

विषय की दृष्टि से केवल सत्यनारायण जी के "भ्रमरदूत" को छोड़कर शेष सभी भ्रमरगीतों में समानता है। कृष्ण भगवान गोकुलवासियों को सान्त्वना देने के लिए अपने सखा उद्धव को चुनते हैं। उद्धव जी उनको योग और ज्ञान की शिक्षा देते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि वे कृष्ण को भूलकर उस अनन्त परमात्मा की भक्ति करें जिसकी कोई रूप-रेखा नहीं है। परन्तु इसके उत्तर में गोपियों का सगुण-भक्ति के लिए प्रत्युत्तर अकाट्य है। उद्धव का ज्ञान-गर्व नष्ट हो जाता है और वे भी सगुण मधुरा भक्ति के उपासक बन जाते हैं। यही कथानक सभी भ्रमरगीतों में मिलता है। सत्यनारायण कवि-रत्न ने अपने 'भ्रमरगीत' को एक प्रकार से भारत माता की पुकार बना दिया।

शैली की दृष्टि से इन सबमें पर्याप्त अन्तर है। सूरदास जी में भावपक्ष प्रधान है, कलापक्ष पर उन्होंने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। हृदय से निकली हुई बातें सीधे हृदय में चुभ जाती हैं। वे उद्धव को निरुत्तर और मौन कर देती हैं। उद्धव के पास उनको समझाने की शक्ति नहीं रहती है। गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं :—

निर्गुण कौन देश को वासी ?

हे उद्धव ! पहले हम ब्रजवनिताओं की हालत तो देखो। हम सबकी वैसी

हो अवस्था उनके वियोग में हो चुकी है, जैसे पानी के विना मछली की होती है। हम सब कृष्ण के प्रेम में सारे संसार को छोड़ चुकी हैं। हमारे हृदय के अन्दर माखन चोर गड़ गये हैं, हम उनको निकालने में असमर्थ हैं।

गोपियाँ फिर उद्धव की मीठी-मीठी चुटकियाँ लेती हैं और उद्धव मौन होकर उनकी प्रेम-विह्वलता में निमग्न रहते हैं। अन्त में वे उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि वे उनका संदेश कृष्ण भगवान् तक पहुंचा दें :—

ऊधो मन नाहीं दस बीस

एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराधै ईस।

भ्रमरगीत में सूरदास जी ने मैथिल-कोकिल विद्यापति और जयदेव की कोमल-कान्त गेय पद्धति का अनुसरण किया है। उनमें संगीत का माधुर्य और भावों की ऊँची उड़ान है। गीत की पद्धति के सभी गुण—संक्षिप्तता, सरलता, भावों का एकीकरण आदि इसमें मिलते हैं।

नन्ददास जी का भ्रमरगीत अधिक "सरस-उक्ति युक्त" है। व्रजभाषा की स्वाभाविक मिठास के साथ-साथ संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का इसमें समावेश है। सगुण और निर्गुण के विषय में उद्धव और गोपियों द्वारा शास्त्रीय संवाद दिखाये गये हैं। सूर की गोपियाँ विह्वल होकर आँखों से सलिल की धारा बहाती हैं परन्तु नन्ददास की गोपियां अधिक गम्भीर, संयत और विदुषी हैं। वे व्रजनारी, रूप और शील की खान हैं; रसरूपिणी और सुखपुंज हैं उद्धव अवसर की खोज में हैं कि उपयुक्त समय पर कृष्ण का सन्देश दिया जाये :—

सोचत ही मन मैं रह्यो, कब पाऊ एक ठाऊं।

जिस समय उद्धव जी उनको निर्गुणोपासना के लिए कहते हैं कि ईश्वर निराकार, निर्गुण और अजन्मा है, वेद और पुराण में कहीं भी उसका स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता है तो उसके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते ?
बीज विना तरु जमै मोहि, तुम कहौ कहाँ ते ?
जा गुण की परछांइ री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच।
सखा सुन स्याम के।

उद्धव-गोपी संवाद चलता ही रहता है कि एक भ्रमर गुँजार करता हुआ आ पहुंचा और वह ब्रजवनिताओं के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसके चरणकमलों पर चढ़ने लगा। गोपियों ने समझा कि यही उद्धव मधुप का वेश धारण करके आया है। गोपियाँ मधुप को बार-बार संकेत करके व्यंग्य बाणों की चोट करती हैं और अन्त में विह्वल होकर "हा करुणामय नाथ हो, केवल कृष्ण मुरारी" कह कर रो पड़ती हैं। इस प्रेमलक्षणा भक्ति को देखकर उद्धव अपनी ज्ञान-गीता भूल गये और उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा :—

ज्ञान जोग सब कर्म तें, प्रेम परे है सांच।
हौं यहि पटतर देत हौं, हीरा आगे कांच।
विषमता बुद्धि की।

नन्ददास जी की ब्रजभाषा संस्कृतगर्भित और परिमार्जित है। उन्होंने रोला और दोहे के छन्दों का सम्मिश्रण करने की शैली को अपनाया है जो इन से पूर्व किसी भी कवि की कृति में दिखाई नहीं पड़ती है। संगीतात्मकता का अभाव होते हुए भी शब्द-चयन और उनका प्रयोग भावों की सरसता को तनिक भी कम नहीं होने देता। यही इनकी प्रमुख विशेषता है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धवशतक' भी भ्रमरगीत की एक कड़ी है। विषय का प्रतिपादन और भावों का वैविध्य न होने पर भी ब्रजभाषा का लालित्य देखने योग्य है। लोकोक्तियों का प्रयोग करने में रत्नाकर जी सिद्ध-हस्त हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा और अनुप्रासों की छटा कवित्त के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती है। उद्धव के पहुंचने पर गोपियों की प्रेम-विह्वलता का चित्रण कितना मनोरम और स्वाभाविक बन पड़ा है :—

भेजे मन-भावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गांवनि में पावन जबै लगी।
कहै "रतनाकर" गुवालिनि की झौरि झौरि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवन तबै लगी॥
उझकि उझकि पद कंचनि के पंजनि पैं,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगी।
हमकौं लिख्यौ है कहा हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगी॥

यद्यपि भ्रमरगीत की परम्परा में सत्यनारायण रचित 'भ्रमर दूत' और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा रचित 'प्रियप्रवास' भी आते हैं, तथापि विषय वैविध्य के अतिरिक्त इनमें पर्याप्त मौलिकता और नवीनता है। आधुनिक युग का प्रभाव इन काव्यों पर स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। बीच के अन्य कवियों के 'भ्रमरगीत' साधारण कोटि के और अनुकरण की प्रवृत्ति के परिचायक हैं। अतः उन सब का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

व्याख्या भाग

नन्ददास

नीलोत्पल दल स्याम अंग नव जोबन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख कमल मनों अलि-अवलि विराजे।
सुन्दर भाल बिसाल दिपति जनु निकर निसाव र।
कृष्ण भक्त प्रतिबिम्ब तिमिर कों कोटि दिवाकर।

प्रसंग—यह पद 'ब्रजमाधुरीसार' में संगृहीत नन्ददास के 'रास पंचाध्यायी' काव्य के आरम्भ से लिया गया है। रास-क्रीड़ा का वर्णन आरम्भ में श्रीमद्-भागवत में होने और भागवत के मुख्य आचार्य शुकदेव जी के होने के कारण कवि उनकी स्तुति करता हुआ उनके स्वरूप का वर्णन करता है—

व्याख्या—शुकदेव जी का शरीर नील कमल की पंखुड़ियों के समान श्यामवर्ण है, ऐसे साँवले अंगों में नए यौवन की कान्ति छाई हुई है। शुकदेव जी सोलह वर्ष के ही रहते थे, ऐसी जनश्रुति है। मुखरूपी कमल के चारों ओर बिखरे हुए घुँघराले बाल ऐसे शोभित होते हैं मानो कमल के चारों ओर भौंरों का मण्डल छाया हो। सुन्दर और चौड़े मस्तक पर ऐसी चमक है जैसे बहुत से चन्द्रमाओं का समूह भासित होता है। मुनि शुकदेव का तेज सौम्य था, इसलिए सूर्य के तेज के स्थान पर चन्द्रकान्ति से उसकी उपमा दी है। वे कृष्ण की भक्ति की छाया को रोकने वाले अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले करोड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी हैं।

भाव यह है कि शुकदेव जी का शरीर साँवला है; नया तारुण्य छाया है, घुँघराले बाल हैं, चौड़ा और तेजस्वी मस्तक है जिससे सौम्य कान्ति बरस रही है।

विशेष—प्रथम चरण के आरम्भ में लुप्तोपमा, द्वितीय चरण में रूपक और वस्तूत्प्रेक्षा का संकर है। तृतीय चरण में उत्प्रेक्षा और चतुर्थ में परम्परित रूपक अलंकार हैं।

जब दिनमणि श्रीकृष्ण दृगनते दूरि भये पुरि।
परसि परयो अंधियार सकल संसार घुमरि घुरि॥
तिमिर ग्रसति सब लोक-ओक दुख देखि दयाकर।
प्रगट कियौ अद्भुत प्रभाव भागवत बिभाकर॥

प्रसंग—पूर्ववत्, इसमें शुकदेव जी के कार्यों का वर्णन करते हैं।

व्याख्या—जब श्रीकृष्ण रूपी सूर्य विश्व की दृष्टि से छिपकर ओझल हो गए, सारे विश्व में मोह-ममता और अज्ञान के अन्धकार से प्रभावित होने के दुःख से दुःखी देख दया की खान इन शुकदेव जी ने आश्चर्यजनक महिमा वाले श्रीमद्भागवत रूपी सूर्य को संसार के समक्ष प्रकाशित किया। उपदेश द्वारा उनका प्रसार किया।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के परलोक गमन के पश्चात् जब संसार में मोह-ममता और अज्ञान छा गया तब शुकदेव जी ने जनता पर करुणा करके श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया।

विशेष—सांगरूपक अलंकार है।

नूपुर, किंकिन, करतल मंजुल मुरली।
ताल, मृदंग, उपग, चंग एकै सुर जुरली॥
मृदुल-मधुर टंकार, ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भंवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पटकनि, चटकनि करतारिन की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुण्डल-हारन की।
साँवन पिय के संग नृतति यों ब्रज की बाला।
जनु घन मंडल मंजुल खेलति दामिनि माला।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००६)

प्रसंग—ये पंक्तियाँ 'ब्रजमाधुरीसार' में संग्रहीत नन्ददास की 'रास-पंचाध्यायी' से उद्धत की गई हैं। नन्ददास जी कृष्ण की रास-लीला का वर्णन कर रहे हैं।

व्याख्या—उस रास लीला में पायलों और करधनी घंटियों का शब्द हो रहा था, हाथों में सुन्दर वंशी बज रही थी, हाथों की तालियां, मृदंग, रस, तरंग और ढपली की एक साथ होने वाली ध्वनि उस नाद से मिश्रित थी, इसी प्रकार पैर पटकने का कोमल शब्द, हाथ की तालियों की चट-पट की ध्वनि, अंगों का फड़कना, मटकना और कुण्डल एवं हारों की झलमलाहट उस रास-लीला में देखने योग्य थी। ब्रज नारियाँ सांवले प्रियतम के साथ इस प्रकार नाच रही थीं मानो बादलों के समूह में बिजलियों की रेखाएँ खेल रही हों।

विशेष—इसमें रास-क्रीड़ा का सजीव वर्णन है। ध्वनियों का अनुभव शब्द-चयन द्वारा कराने की चेष्टा की गई है। अन्तिम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां ते।
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहो कहां ते।
वा गुन की परछांह री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच।
सखा सुनु स्याम के ॥

प्रसंग—यह अवतरण 'ब्रजमाधुरीसार' अन्तर्गत नन्ददास के 'भंवर-गीत' नामक प्रकरण से लिया गया है। उद्धव गोपियों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि ब्रह्म के गुण नहीं होते, यदि उनके गुण हों तो वेद उनके विषय में 'नेति-नेति' क्यों लिखें। इसका उत्तर देती हुई गोपियाँ कहती हैं—

व्याख्या—यदि उनके अर्थात् ब्रह्मस्वरूप कृष्णके गुण नहीं हैं तो बताओ और गुण कहाँ से हो गये ? सृष्टिकर्ता के गुणहीन होने पर उसकी सृष्टि भी गुण रहित होनी चाहिए पर हम देखते हैं कि इस संसार में उदारता, सुन्दरता आदि गुण पाए जाते हैं। भला तुम मुझे बताओ कि बिना बीज के वृक्ष कहाँ से उत्पन्न होगा ? वास्तव में यह संसार मायानिर्मित दर्पण है, जिसमें कि उसी के गुणों की प्रतिच्छाया झलक रही है। संसार में पाये जाने वाले गुण वस्तुतः उस कृष्ण के ही गुणों के प्रतिबिम्ब हैं। ये गुण पृथक् हो गये हैं, जैसे सरोवर का पानी निर्मल होता है, मिट्टी मिलने से वह कीच बन जाता है। इसलिए वह अपने मूल सरोवर के जल से पृथक दीखता है। ईश्वर के गुण विश्व में प्रतिबिम्बित होकर विश्व के बन गए हैं, वस्तुतः विश्व के नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि दर्शन के नियमानुसार कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। यदि कारण के गुण नहीं तो कार्य में भी सम्भव नहीं। जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है तो मिट्टी में यदि गन्ध गुण होगा तो वही घड़े में आयेगा। संसार का कारण ईश्वर है, अतः ईश्वर के गुणवान होने पर ही संसार में गुणों का अस्तित्व संभव है।

विशेषः—यहाँ रहस्य यह है कि उद्धव ने अपने तर्क में गुण शब्द से प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व रज, तम का संकेत किया था किन्तु गोपियों ने गुण से दया, दाक्षिण्य आदि का आशय लिया। दर्शन के अनुसार ईश्वर को सत्त्व आदि गुणों से ही रहित माना है, क्योंकि वह शरीरधर्मी नहीं है।

यहाँ पर दृष्टांत एवं अन्योक्ति अलंकार हैं। साथ ही साथ श्लेष, वक्रोक्ति भी हैं।

तरनि अकास प्रकास तेज मय रह्यौ दुराई।
दिव्य दृष्टि बिन कहौं कौन पै देख्यौ जाई॥
जिनकी वे आँखें नहीं, देखें कब वह रूप।
तिन्हैं सांच क्यों ऊपजै परे कर्म के कूप॥
सखा सुनु स्याम के॥

प्रसंग—पूर्ववत्। गोपियो से उद्धव ने कहा कि जैसे सूर्य और चन्द्रमा का रूप कोई नहीं देख पाता, इसी प्रकार भगवान् का भी स्वरूप समझो। सूर्य-चन्द्र के गुणों की भाँति उनके गुण भी पकड़ में नहीं आते। गोपियाँ इसका उत्तर दे रही हैं—

व्याख्या—सूर्य तो आकाश में प्रत्यक्ष ही है, पर वह तेजस्वी होने के कारण तेज में छिपा हुआ है। इसलिए अलौकिक दृष्टि के बिना भला उसे कौन देख सकता है? जिनके पास दिव्य दृष्टि है वे उसे भली प्रकार देख लेते हैं। इसी प्रकार उस ईश्वर के गुण अथवा उसका स्वरूप विश्व में प्रत्यक्ष है परन्तु तेजोमय होने के कारण सूक्ष्म है, गूढ़ है। गूढ़ अन्तर्दृष्टि अर्थात् ज्ञान के बिना या हृदय की आँखों के बिना भला बताओ वह कैसे और किसके द्वारा देखा जा सकता है।

इसलिए जिनको यह दिव्य या अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं है, वे उस रूप को

नहीं देख सकते। वे कर्मों के अन्धे कुएँ में पड़े हैं, उन्हें भला विश्वास कैसे हो? हे श्यामसुन्दर के मित्र! तुम ध्यान देकर सुन लो।

भाव यह है कि ईश्वर सर्वत्र है, परन्तु स्वरूप दिव्य होने से इस स्थूल दृष्टि से वह दीखता नहीं। हृदय की दृष्टि से उसका साक्षात्कार होता है। ऐसी दृष्टि न होने के कारण तुम लोग विश्वास नहीं करते कि ईश्वर के भी रूप हैं।

विशेष:—यहाँ अन्योक्ति अलंकार है।

करुनामयी रसिकता है तुमरी सब झूठी।
जब ही ज्यों नहिं लखौ, तबहिं लौं बाँधी मूठी।
मैं जान्यों ब्रज जायकै तुम्हरो निर्दय रूप।
जो तुमकों अवलंबहिं, बाकों मैलो कूप।।
कौन यह धर्म है।।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००७)

प्रसंग—यह अवतरण 'ब्रजमाधुरी सार' में संगृहीत नन्ददास के 'भँवरगीत' से लिया गया है। उद्धव गोपियों का अटूट-प्रेम देखकर भाव-मग्न हो मथुरा लौट गये हैं और श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—

व्याख्या—हे प्रभो! आपकी यह दया भरी सहृदयता सर्वथा झूठी है। आप जो दयालु और कोमल हृदय वाले बनते हैं, यह सब झुठ है। जब तक यह देख नहीं लिया, जब तक आपके प्रेम की परीक्षा करके स्वयं अनुभव नहीं कर लिया, तभी तक यह रहस्य छिपा रहता है। जब तक भ्रम रहता है, हाथ कुछ नहीं लगता। जैसे खाली मुट्ठी भींच कर दूसरे व्यक्ति को कहें कि इसमें जो कुछ है, खोल कर ले लो तो वह कुछ पाने की आशा में खोलने का प्रयास करता है। पर जब मुट्ठी खुलती है तो पता लगता है कि मुट्ठी खाली है इसी प्रकार जब तक आपके प्रेम की परीक्षा नहीं कर ली जाय तभी तक यह भ्रम रहता है कि आप दयालु हैं और आपका प्रेम सच्चा है, पर जब कोई प्रेम करता है, तब आपका भेद खुल जाता है कि आपके पास दया और प्रेम कुछ नहीं है। मैंने ब्रज में जाकर तुम्हारा दयाहीन स्वरूप जान लिया है। जो सब प्रकार से तुम्हारा आश्रय लेते हैं, उन्हीं को आप विपत्ति के कुएँ में धकेलते हैं। भला बताइए, यह कौन-सा धर्म है।

परमानंद दास

कहा करौं बैकुंठहि जाय ।
जहं नहिं नंद जहं न जसोदा, जहं नहिं गोपी ग्वाल न गाय ।
जहं नहिं जल जमुना कौ निरमल, और नहिं कदमन की छाय ।
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय ।।

प्रसंग—यह पद्य 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित अष्टछाप के प्रमुख कवि परमानंददास की कविता में से यहाँ उद्धृत किया गया है । यह उनके संकलित पद्यों का आरम्भिक पद्य है । इसमें कवि ने भगवान कृष्ण और उनकी जन्म भूमि के निवास के प्रति अपनी अन्यतम आस्था प्रगट की है । कृष्ण-भक्ति की तुलना में मुक्ति और वैकुण्ठ-निवास को भी तुच्छ बताते हुए कवि कहता है—

व्याख्या—मैं वैकुण्ठ में जाकर यह मुक्ति प्राप्त करके भी क्या करूँगा ? मुझे इस बात की कतई कोई इच्छा नहीं है । क्योंकि उस वैकुण्ठ के मुक्ति-धाम में नंद, यशोदा, गोपियां, ग्वाले और गौएं नहीं हैं, अतः कृष्ण भक्त के लिए उसका कोई महत्व नहीं हो सकता । भला वैकुण्ठ में ब्रज जैसा प्राकृतिक और आनन्ददायक वातावरण कहाँ ? न तो वहाँ यमुना का निरमल जल ही उपलब्ध हो सकेगा और न ही उसके आस-पास उगे कदम्ब के वृक्षों की सघन छाया ही वहाँ प्राप्त होगी । अतः परमानंद कवि कहते हैं कि एक चतुर ग्वालिनी का वैकुण्ठ के प्रति कोई आकर्षण नहीं हो सकता । ब्रज की धूलि को छोड़कर उसकी बला ही वैकुण्ठ जाने की इच्छुक हो सकती है, वह स्वयं नहीं ।

कवि का भाव यह है कि मुक्ति का अर्थ है इस तन का और आत्मा का यहाँ से सदा के लिए अभाव । वह अभाव हमें भगवान कृष्ण, उनकी लीलाओं और लीला भूमि से सदा के लिए अलग कर देगा । पर भक्त का हृदय तो जन्म जन्मान्तरों तक भगवान कृष्ण और उनकी लीला से ही सम्बन्धित रहना चाहता है, अतः उसके लिए मुक्ति का कोई महत्त्व नहीं !

विशेषः—मेरी जाय बलाय मुहावरे का प्रयोग बड़े स्वाभाविक वर्णन रूप से किया गया है । ब्रजभूमि का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण यहाँ स्वाभावोक्ति अलंकार है ।

ब्रज के बिरही लोग बिचारे ।
बिनु गोपाल ठगे-से ठाढ़े अति दुर्बल तन हारे ।।
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ सकारे ।
जो कोई कान्ह-कान्ह कहि बोलत, आंखिन बहतपनारे ।।
यह मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे ।
'परमानंद' स्वामी बिनु ऐसे ज्यों चंदा बिनु तारे ।।

प्रसंग:—यह पद्य 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित अष्टछाप के एक कवि 'परमानन्द दास के संकलित पद्यों में से लिया गया है। इसमें कवि ने प्रेम के वियोग-पक्ष का सरल किन्तु मधुर चित्रण किया है । इसमें उपालम्भ का भाव भी विद्यमान है। कृष्ण मथुरा चले गए हैं और वहाँ से उन्होंने न तो कोई सन्देश ही भेजा है, तथा न स्वयं ही लौटे हैं। परिणाम स्वरूप सारे ब्रजवासी अत्यधिक दुखी और निरोग हो उठे हैं। उसी निराशा की भावना का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या:—कृष्ण के विरह ने ब्रज के लोगों को अत्यधिक वेचारगी की स्थिति में डाल दिया है। कृष्ण के दर्शनों विना, उसके वियोग भाव से उत्पीड़ित होकर सभी लोग किसी माया-जाल से ठगे जाने वाले के समान हमेशा चुपचाप खड़े उनका रास्ता देखते रहते हैं। विरह और प्रतीक्षा ने उनके तन को अत्यधिक दुर्वल और मन को निराश कर दिया है । सुबह-शाम माता यशोदा अपने लाडले वेटे कृष्ण की राह देखती रहती है। एक पल के लिए भी वह अपनी आँखें पथ से नहीं हटाती है। यदि कोई उसके सामने 'कान्हा-कान्हा कह कर बोल देता है तो उनका गम और भी हरा हो जाता है और उनकी आँखों से बरसाती पनाले के समान आँसू वहने लगते हैं। ब्रजवासियों की यह दशा देखकर कवि सूरदास की गोपियों के समान ही उपालम्भ के भाव से भर कर कहता है—वास्तव में वह मथुरा नगरी एक काजर की कोठरी के समान ही है, वहाँ से आने वाला प्रत्येक व्यक्ति न केवल तन का वल्कि मन का भी काला ही होता है। उन मथुरा वासियों ने हमारे कृष्ण को भी हमसे छीन कर अपने कालेपन का प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। परमानंददास कवि कहते हैं कि अब अपने स्वामी कृष्ण के विना हम ब्रजवासियों की रात और दशा ऐसी होकर रह गई है कि जैसे चाँद

के बिना तारों भरा आकाश अर्थात् जैसे लाखों-करोड़ों तारे मिल कर भी चाँद की समानता नहीं कर सकते उसी प्रकार कृष्ण के अभाव में संसार के करोड़ों व्यक्ति और सुख भी व्रजवासियों के मन को सुख-शान्ति नहीं दे सकते।

भाव यह है कि कृष्ण के अभाव के वियोग ने व्रजवासियों को सभी प्रकार से दीन-हीन बनाकर रख दिया है। कृष्ण से पुनर्मिलन ही व्रज के दुःख का उपचार हो सकता है।

विशेष:—'ठगे-से ठाढ़े और 'ज्यों चन्दा बिनु तारे 'आदि पदों' में उपमा अलंकार है। 'कान्ह-कान्ह' पद में वीप्सा और पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है। अनुप्रास की छटा समूचे पद्य में देखी जा सकती है। विरह का वर्णन स्वाभाविक रूप में हुआ है।

मोहन नन्दराय—कुमार।
प्रगट ब्रह्म निकुंज—नायक, भक्त हित अवतार।
प्रथम चरण सरोज बन्दौं, स्याम घन गोपाल ॥
मकर कुन्डल गंड–मण्डित, चारु नैन विसाल ॥
सहित श्री बलराम लीला, ललित सों करि हेत ॥
दास 'परमानन्द' प्रभु हरि, निगम बोलत नेत ॥

प्रसंग:—प्रस्तुत पद्य 'व्रजमाधुरीसार' में संकलित कवि परमानन्द दास के पद्यों में से यहाँ उद्धृत किया गया है। इस पद्य में कवि ने भगवान कृष्ण को अनादि और अनन्त पुरुष मानकर उनके अवतारी रूप की प्रशंसा की है। यहाँ दास्यता का भाव भी विद्यमान है, जबकि कृष्ण-भक्ति काव्य में सख्यभाव की प्रधानता है। भगवान कृष्ण को अनादि पुरुष और लीला विहारी बताते हुए कवि कहता है—

व्याख्या—नन्द राजा के बेटे, सबके मन को मोहित करने वाले कृष्ण ब्रह्म के समस्त अवतारों में नायक स्वरूप हैं, और उन्होंने अपने भक्तों के हित के लिए ही अवतार धारण किया है। वे साक्षात ब्रह्म का रूप हैं। घन अर्थात बादलों में समान व्यापक और गहरे नीले वर्ण वाले गो-पालक भगवान कृष्ण के चरण कमल की वन्दना मैं सबसे पहले करना अपना कर्त्तव्य मानता हूं। और उनके कानों में झूलने वाले मकराकृति कुण्डल उनकी कनपटियों की शोभा बढ़ाते हैं। उनके बड़े २ और सुन्दर नयन सबके मनों को मोहित करने वाले हैं।

बलराम के साथ अनेक प्रकार की सुन्दर लीलाएं करने वाले उस भगवान से ही प्रेम करो। परमानन्द दास कवि कहते हैं कि मैं तो उस भगवान कृष्ण का दास हूं कि जिसे सब प्रकार के वेद शास्त्र भी 'नेति-नेति' (उसका अन्त नहीं) कहकर पुकारते हैं और हमेशा उसकी स्तुति गान में लीन रहते हैं।

भाव यह है कि भगवान कृष्ण सर्व शक्तिमान ब्रह्म का रूप हैं। उसका अवतार अपने भक्तों और प्रेमियों के सब प्रकार के कष्टों को मिटाने वाला है। उनकी शरण में जाकर के ही व्यक्ति सच्चा सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है।

विशेषः—'चरण सरोज वन्दौं, श्यामघन गोपाल' आदि पद्य भाग में रूपक अलकार है। 'सहित श्री बलराम लीला ललित सो मोहित' पंक्ति में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। 'निगम बोलत नेत' पद द्वारा इस दार्शनिक अभिप्राय को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है कि उस परम ब्रह्म परमेश्वर का आदि अन्त कुछ भी नहीं है। उसका भेद कोई नहीं जान सकता। उसके सम्बन्ध में अन्तिम रूप में कुछ कह पाने की शक्ति किसी में नहीं है।

माई री, कमलनैन स्यामसुन्दर, झूलत है पलना।
बाल–लीला गावति, सब गोकुल ललना॥
अरुण तरुण कमल नख—मनि जस जोती।
कुंचित कच मकराकृत लटकत गज—मोती॥
अगुण गहि कमल पाति मेलत मुख माहीं।
अपनो प्रतिबिम्ब देखि पुनि–पुनि मुस्कराहीं॥
जसुमति के पुन्य पुंज बार–बार लाले।
'परमानन्द' प्रभु गोपाल सुत–सनहे पाले॥

प्रसंगः— यह पद्य 'ब्रजमाधुरीसार' में संकलित अष्टछाप के एक प्रमुख कवि परमानन्द दास के पद्यों में से लिया गया है। कृष्ण-भक्त कवियों के समान यहां परमानन्द दास ने भी कृष्ण के बाल-रूप और बाल-लीला का वर्णन किया है। वास्तव में बाल-लीला-वर्णन कृष्ण भक्त कवियों का सर्वस्व है। पालने में झूलते हुए कृष्ण के बाल स्वरूप का मोहक चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है:—

व्याख्याः—हे सखि ? कमल के समान सुन्दर नयनों वाले सुन्दर श्याम अपने बाल रूप में झूले में पड़े झूल रहे हैं। गोकुल में निवास करने वाली सभी

गोपियां उन्हें झूलते हुए देख कर उनकी वाल लीला के गीत मुग्ध भाव से गा रही हैं। उनके नन्हें हाथ पैरों के नाखूनों की ज्योति प्रातःकाल के सूर्य के समान हो रही है। उनके केश घुंघराले हैं। उनके कानों में मकर जैसी ग्राकृति वाले ग्रर्थात टेढ़े-मेढ़े कुण्डल ग्रौर गले में गज मोती के हार झूल रहे हैं। वे ग्रपने कमल जैसे हाथों में ग्रपने ही पैर का ग्रंगूठा पकड़ कर उसे ग्रपने मुख में डालने का वार-वार प्रयत्न कर रहे हैं। वे दर्पण में ग्रपनी ही परछाई वार-वार देख कर मुस्करा उठते हैं। यशोदा माता वास्तव में ग्रत्यधिक पुण्य शालिनी है कि जो वारम्वार इस वाल कृष्ण से प्यार कर रही हैं। परमानन्द कवि कहते हैं कि वह सारे विश्व के स्वामी को—गोपालक भगवान कृष्ण को ग्रपने वेटे के समान पालकर ग्रत्यधिक पुण्य की भागिनी वन रही हैं।

भाव यह है कि वाल कृष्ण का प्रत्येक रूप, प्रत्येक लीला ग्रत्यधिक मोहक है। भाग्यशालियों को ही उनके इन रूपों के दर्शन होते हैं।

विशेष—समूचे पद्य में स्वभावोक्ति ग्रलंकार ग्रौर वत्सल रस है। उपमा की छटा भी सारे पद्य में देखी जा सकती है। ग्रंगुठा गहि कमल पनिह ग्रादि पद में रूपक ग्रलंकार की योजना तो हुई ही है, इस पौराणिक मान्यता की ग्रोर भी संकेत है कि प्रलय के वाद पीपल–पत्र पर सवसे पहले पांव का ग्रंगूठा चूमते हुए भगवान के बाल-रूप में दर्शन होते हैं।

माई री, हौं ग्रानन्द गुन गाऊं।
गोकुल की चिन्तामनि माधौ जो मांगो सो पाऊं॥
जब तै कमलनैन बज ग्राये, सकल संपदा बाढ़ी।
नन्दराय कै द्वारै देखौ ग्रष्टहानिधि ठाढ़ी॥
फ़ूलै फलै सदा वृन्दावन, कामधेनु दुहि दीजै।
मांगत मेघ इन्द्र बरषावै, कृष्ण कृपा सुखलीजै॥
कहति जसोदा सखियनि ग्रागे हरि उत्कर्ष जनावै।
'परमानन्ददास' कौ ठाकुर मुरली मनोहर भावै॥

प्रसंगः—प्रस्तुत पद्य श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित 'ब्रजमाधुरीसार' में संकलित ग्रष्टछाप के कवि परमानन्द दास के पद्यों में से लिया गया है। इसमें कवि ने भगवान कृष्ण के वैभव रूप का वर्णन किया है। कवि ने यह भाव प्रगट

किया है कि जहाँ भगवान की कृपा हो जाती है, वहां किसी भी प्रकार की सुख सम्पदा की कमी नहीं रह जाती। अतः भगवान को प्रसन्न करने की प्रेरणा देते हुए कवि परमानन्द दास कहते हैं:—

व्याख्या:—हे सखि ! मैं आनन्दपूर्वक सर्व शक्तिमान भगवान कृष्ण की लीलाओं का गायन करती हूँ। भगवान कृष्ण गोकुल वासियों के लिए सभी प्रकार की इच्छाओं को पूरी करने वाली चिंतामणि के समान हैं। अतः मेरी जो भी इच्छा होती है, वही मैं सुविधा से प्राप्त कर लेती हूँ। कमल के समान नयनों वाले कृष्ण जब से ब्रज में आये हैं, यहाँ की सभी प्रकार की सम्पत्तियों में एक प्रकार की बाढ़-सी आ गई है। राजा नन्द के द्वार पर तो आठों तरह की सिद्धियाँ और नौ तरह की निधियाँ जैसे हर समय हाथ बाए खड़ी दिखाई देती हैं। वृन्दावन हमेशा फला-फुला रहता है, चाहे यहां पर कामधेनु को ही क्यों न दुह लो—अर्थात जिस तरह कामधेनु सब तरह की इच्छाएं पूरी करती है। उसी तरह वृन्दावन फला फूला रहकर के ब्रजवासियों की इच्छा पूरी करता है। यहाँ पर इन्द्र मांगने से ही वर्षा करता है—अर्थात आवश्यकता के अनुसार ही वर्षा होती है। इस तरह कृष्ण की कृपा से यहां सब तरह के सुख स्वतः ही मिलते रहते हैं। यशोदा माता अपनी सखियों के आगे हमेशा कृष्ण के गुणों का बखान करती रहती है। उन्हीं की महिमा में सब तरह के सुख व समृद्धियों के अस्तित्व का बखान करती है। परमानन्द दास कहते हैं कि इस तरह सब प्रकार के सुख देने वाले मुरली मनोहर कृष्ण ही स्वामी के रूप में उसे अच्छे लगते हैं।

भाव यह है कि भगवान कृष्ण की कृपा से ही जीवन में सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। अतः सच्चे सुखों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को उसी भगवान की शरण में आना चाहिए।

भली यह खेलिबे की बानि।
मदन गुपाल लाल काहू की नाहिन राखत कानि ॥
अपने हाथ लै लेत हैं सबहिन दूध दही घृत सानि।
जो बरजौं लौं आंख दिखावै, परधन को दिन दानि ॥
सुनि री जसोदा, सुत के करतब पहले भाँट-मथानि।
फोर डारि दधि डार अजर में, कौन सहै नित हानि ॥

ठाढ़ो देखतनन्द जू की रानी, मुन्दि कमल मुख पानि ।।
'परमानंददास' जानत हैं, बोलि बूझि धौं आनि ।।

प्रसंग:—उपालम्भ और शिकायत का भाव कृष्ण-भक्त कवियों की कविताओं में सर्वत्र पाया जाता है। 'ब्रजमाधुरी सार' में से संकलित किए गए कवि परमानन्ददास के इस पद्य में भी उपालम्भ का भाव ही है कि जो कृष्ण-लीला-वर्णन का एक अंग है। कृष्ण अनेक प्रकार के उत्पात मचाते हैं, तव गोपियाँ यशोदा से आकर शिकायत करते हुए कहती हैं :

व्याख्या:— हे यशोदा ! तुम्हारे वेटे कृष्ण के खेलने की यह आदत तो बड़ी भली है—अर्थात् एकदम अद्‌भुत और हम सब के लिए अत्यन्त हानिकारक है। तुम्हारा मदनगुपाल तो किसी की भी मर्यादा नहीं रखता—अर्थात् अपने खेलों से जिस किसी की भी पगड़ी उछाल देता है। वह सभी के दूध,दही, घृत, माखन को सबसे छीन लेता है। यदि कोई उसे रोकने से मना करने की चेष्टा करता है तो वह उसे आँखें दिखाने लगता है अर्थात् डाटने-फटकारने लगता है। वह दूसरों के धन को चुराकर लुटा देता है और इस प्रकार वह महादानी वना फिरता है। हे यशोदा, तू जरा अपने वेटे के कार्यों को ध्यान से देख-सुन ! वह तो सभी की मथानियों और मटकों को तोड़ डालता है और दूध-दही आँगन में गिरा देता है। अव इतनी हानि नित्य-प्रति कौन सहन करे। यह सुन कर नन्द की रानी यशोदा खड़ी देखती ही देखती रह गई। उसके मुख और नयन आनन्द के भाव से वन्द हो गए। परमानन्द दास कवि कहते हैं कि इसके बाद यशोदा बोली कि मैं सब कुछ अच्छी तरह जानती हूँ। अतः तू जो कुछ भी कह रही है, वह अच्छी प्रकार से सोच-समझ कर कहो।

भाव यह है कि कृष्ण की शरारतें भी भक्तों के लिए और प्रकार से सुखदायी हैं।

विशेष:—कवि ने कृष्ण की शरारतों के रूप में वाल-स्वभाव का वड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। अन्य कवियों के समान यहाँ भी ली I वैभव का साकार वर्णन हुआ है। आलंकारिक दृष्टियों से यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है।

आये मेरे नंदनंदन के प्यारे।
माला तिलक मनोहर बानो, त्रिभुवन के उजियारे॥
प्रेम समेत बसत मन-मोहन. नैंकहुँ दरतन हारे॥
हृदय-कमल के मध्य विराजत, श्री ब्रजराज दुलारे॥
कहा जानौं कौन पुन्य प्रगट भयौ, मेरे घर जो पधारे।
'परमानंद' प्रभु करी निछावरि, बार-बार हौं वारे॥

प्रसंग:—प्रस्तुत पद्य 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित अष्टछाप के एक कवि परमानंददास के पद्यों में से यहाँ उद्धृत किया गया है। इस पद्य में भगवान कृष्ण के रूप-वैभव का वर्णन करने के साथ-साथ उनकी कृपालु रूप का भी वर्णन किया है। अपने आप को भगवान के रूप और कृपाओं पर न्योछावर करते हुए कवि कहता है:

व्याख्या:—हे सखी ! मेरे धन्य भाग हैं कि उसे आज नंद के बेटे भगवान कृष्ण, जो कि मुझे अत्यधिक प्यारे हैं, मेरे घर आए हैं। उनके माथे पर तिलक है, उन के गले में माला है और सारी वेष-भूषा अत्यधिक मोहक है। उनका यह रूप तीनों लोकों को प्रकाश प्रदान करने वाला है। अपने इस सुन्दर और वैभवशाली स्वरूप के साथ भगवान कृष्ण वड़े प्रेम के साथ और मन में निवास करते हैं। उनका यह रूप हटाने का प्रयत्न करने पर भी मेरे मन से हट नहीं सकता। ब्रज राज के दुलारे कृष्ण मेरे हृदय-कमल के मध्य हमेशा ही विराजमान रहते हैं। पता नहीं, मेरे किस जन्म के पुण्य आज प्रगट हो गए हैं कि जो भगवान ने मेरे मन-रूपी घर में पधारने की कृपा की है। परमानंद-दास अपने तन-मन और सर्वस्व को भगवान के इस रूप और कृपा पर न्यौछावर करता है। वह बार-बार भगवान की कृपा और मोहक रूप पर वलिहारी जाता है।

भाव यह है कि भगवान कृष्ण का रूप तो मोहक है तो सही, वे बड़े कृपालु भी हैं पर उनकी कृपा कई जन्मों के पुण्य कर्मों से ही कोई भक्त और प्रेमी प्राप्त कर सकता है।

विशेष:—कृष्ण के स्वरूप और वेष-भूषा का पद्य में स्वाभाविक वर्णन हुआ है। 'हृदय-कमल' जैसे पदों में रूपक की योजना हुई है तो 'बार-बार' जैसे पदों में वीप्सा अलंकार है ! अनुप्रास की योजना समूचे पद्य में दर्शनीय है !

रसखान

या लकुटी अरु कमरिया पर राज तिहूं पुर कौ तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
आँखिन सौं 'रसखानि' कबौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

प्रसंग—यह सवैया 'ब्रजमाधुरीसार' के अन्तर्गत रसखान की कविताओं में से उद्धृत किया गया है। इसमें रसखान गोपाल कृष्ण की सेवा में सर्वस्व समर्पण की कामना कर रहे हैं।

व्याख्या—रसखान कवि कहते हैं कि मैं भगवान कृष्ण की लाठी और काली कमली पर तीनों लोकों का राज्य भी न्यौछावर कर दूँ, साधारण वैभव का तो कहना ही क्या है? नन्द की गाय चराने में आठों अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियों—प्राप्त शक्तियों और अर्थ आदि नौ खजानों को पाने से होने वाले सुख को भुला दूँ। कब मैं इन आँखों से ब्रज के वन, बाग और तालाबो को देखूँगा। मैं ब्रज भूमि के इन करील के कुन्जों पर, जिनमें श्रीकृष्ण ने रास-विहार किया था करोड़ों सोने के महल समर्पित कर दूँ।

विशेष—यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है।

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी, बन गोधन ग्वारन संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो 'रसखानि' सो तेरे कहे सब स्वाँग भरौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

(मध्यमा परीक्षा सं० २००६)

प्रसंग—पूर्ववत्।

गोपियों में कृष्ण का वेश धरकर उनकी लीला करने का विचार उत्पन्न हुआ। इस पर एक गोपिका जिसे कृष्ण का स्वांग करने को कहा गया था कहती है—

व्याख्या—मैं मोर के पंखों का मुकुट सिर पर धारण कर लूँगी, गले में रत्तियों को माला भी पहन लूँगी। पीताम्बर ओढ़कर और हाथ में लाठी लेकर गौवों और ग्वालों के साथ घूमती फिरूँगी। रस या आनन्द की खान मुझे यह

सब भाता है, तेरे कहने से मैं यह सब वेश धर लूँगी। किन्तु वंशीधर के होंठों से लगी इस वंशी को अपने होठों पर कभी न रखूँगी।

गोपिकाओं में वंशी के प्रति सौतिया डाह था कि उसने कृष्ण का प्रेम जीत लिया है। यहाँ भी वही भाव प्रकट किया गया है, गोपिका कहती हैं कि इस वंशी ने कृष्ण के होठों का रस पिया है, मेरे अधिकार को छीना है, अतः मैं उसे मुँह न लगाऊँगी।

विशेष—यहां 'अधरान' 'अधरा न' और 'मुरली' 'मुरली' में यमक अलंकार है। वृत्यनुप्रास भी है। मुरली के स्त्रीलिंग से उसे स्त्री के व्यवहार का ग्रहण करने से समासोक्ति अलंकार है।

मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरौं कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं, मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारन।

प्रसंग—यह सवैया 'ब्रजमाधुरीसार' में संगृहीत रसखान के पदों से लिया गया है। इसमें कवि पुनर्जन्म के सम्वन्ध में कामना कर रहा है।

व्याख्या—यदि मैं अगले जन्म में मनुष्य वनूँ तो रसखान कहते हैं, वही गोप वनूँ और ब्रजभूमि में स्थित गोकुल गाँव के ग्वालों के वीच निवास करूँ यदि मैं पशु वनूँ तो इसमें मेरे वश की वात तो कुछ नहीं है पर यही कामना है कि सदा नन्द की गौओं के साथ विचरूँ। यदि मैं पत्थर वनूँ तो उसी पर्वत का पत्थर वनूँ जिसे भगवान ने इन्द्र से ब्रज की रक्षा करने के लिए धारण किया था और यदि मैं पक्षी बनूँ तो यमुना के तट पर कदम्व वृक्ष की शाखाओं में रहने वाले पक्षियों के साथ निवास करूँ।

इस सवैये में कवि ने चाहे किसी भी प्रकार सम्भव हो, भगवान् के सामीप्य ही की कामना की है।

द्रोपदी औ गनिका गज गीध, अजामिल जो कियौ सौ न निहारो।
गौतम गेहिनी कैसे तरी प्रहलाद कौ कैसे हर्‌यो दुख भारो।
काहे को सोच करे 'रसखान' कहा करि है रवि नंद विचारो॥
कौन सी संक परी है जु माखन चाखन हारो है राखन हारो।

(मध्यमा परीक्षा संवत् २००७, १५)

प्रसंग—पूर्ववत् ।

इस सवैये में कवि अपने उद्धार के लिए भगवान पर पूरा विश्वास प्रकट करता है।

व्याख्या—भगवान् ने द्रौपदी, पिंगला वेश्या, हाथी, गृध जाति में उत्पन्न जटायु और अजामिल के साथ जो व्यवहार किया, क्या उसे नहीं देखें ? द्रौपदी पाँच पतियों की पत्नी थी, जो कि सामाजिक आचार के विरुद्ध है, उसकी भगवान् ने सदा सहायता की। गणिका जो वेश्या होती है, तोते को मात्र नाम सिखाने से हो सद्गति पा गई। हाथी पशु था उसकी पुकार सुनकर प्रभु ने उसका भी उद्धार किया। गीद्ध मांसाहारी जीव है, तो भी जटायु का प्रभु ने अपने हाथों से संस्कार किया। अजामिल एक दुराचारी ब्राह्मण था, उसे भी पुत्र को नारायण-नारायण नाम से पुकारने के कारण ही नरक से बचा लिया। गौतम की पत्नी अहिल्या का कैसे उद्धार हुआ, उन्होंने प्रह्लाद के महान संकट को कैसे दूर किया। रसखान अपने मन को समझाते हैं कि हे रसखान ! तू भला क्यों चिन्ता करता है ? तेरा यमराज भला क्या बिगाड़ लेगा ? यदि मक्खन चाखने वाला अर्थात माखन का प्रेमी कृष्ण तेरी रक्षा करने वाला है तो भला तुझे किसका भय है।

विशेष:—इस सवैये में 'चाखन हारो' और 'राखन हारो' अनुप्रास हैं, शेष में काव्यलिंग अलंकार है।

> **बैन वही उनको गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सौं सानी।**
> **हाथ वही, उन गात सरै, अरु पाय वही जु वही अनुजानी ॥**
> **जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।**
> **त्यों 'रसखानि' वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानी ॥**

प्रसंग—पूर्ववत् ।

इसमें कवि श्रीकृष्ण की भक्ति में जीवन की सार्थकता बतलाता है।

व्याख्या—कवि कहता है कि वही उत्तम वाणी है जो कि उन प्रभु के गुणों का गान करे, कान वही है जो कि उसके वचनों से पूर्ण है अर्थात कान वही सफल हैं जो कि भगवान के गुणों का कीर्तन सुनें। हाथ वे ही सफल हैं जो कि उनके विग्रह पर चलें अर्थात् उनकी मूर्ति की सेवा में काम आयें और

दर्शनों के लिए जायें। प्राण वे ही सफल हैं जो कि उनके प्राण के साथ रहें अर्थात उनके जीवन में एक रूप हो जायें ! मान या आदर वही है कि उनके मन की मानी हुई करे। उनकी मनपसन्द चेष्टा करे। तात्पर्य यह है कि उनको प्रसन्न करने वाला आचरण करें। रसखान कहते हैं कि इसी प्रकार वही सच्चा रसखान या रसिक है जो रस या प्रेम की खान श्रीकृष्ण के प्रेम में रस या आनन्द की खान बन जाय, जो श्रीकृष्ण के प्रेम में लीन होकर आनन्दमग्न हो जाय।

विशेष:—यहां धर्म को एक पक्ष में निश्चित करने से परिसंख्या अलंकार है और चतुर्थ चरण में यमक है।

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त अखंड, अछेद, अभेद, सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

प्रसंग—पूर्ववत्।

भगवान् के प्रेम से वश होते हैं, इसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

व्याख्या—शेष नाग, शंकर, गणेश सूर्य और इन्द्र, जिस की महिमा सदा गाया करते हैं, जिसके गुण गाया करते हैं, जिसे वेद अनादि—जिनसे पहले कोई न हो, अनन्त—जिसका कभी अन्त न हो, अखंड—जिसके कभी टुकड़े न हों, सदा पूर्ण अछेद—चीरा न जा सके, अभेद – जिसे मिटाया न जा सके अर्थात सदा पूर्ण और अविनाशी बताते हैं। नारद जैसे मुनि और शुकदेव एवं व्यास जैसे ज्ञानी ऋषि प्रयत्न करके हार गए पर जिसका भेद न पा सके, उसी ब्रह्म को ग्वालों की छोकरियाँ कटोरी भर छाछ के लिए नाच नचाती हैं। कैसे विस्मय की बात है। इससे ईश्वर का प्रेमवश होना सिद्ध होता है।

विशेष—विषम अलंकार है।

दूध दुह्यौ सीरो पर्‌यौ तातो न जमायौ वीर,
जामन दयौ सो धरो धरोई खटाइगो॥
आन हाथ आन पाँय, सब ही तब ही तें,
जब ही तें रसखानि तानन सुनाइगौ॥

ज्यौं हो नर त्यौं ही नारी, तैसिए तरुनि वारी,
कहिए कहा री, सब ब्रज बिलोगाइगो ॥
जानिए न आली यह छोहरा जसोमीत को,
बांसुरी बजाइगौ कि विष बगराइगो ॥

प्रसंग—पूर्ववत् ।

इसमें वंशी के प्रभाव का वर्णन करती हुई एक गोपी कहती है—

व्याख्या—दूध जो दुहा था, वह ठण्डा पड़ गया गर्म किया था उसमें जामन भी नहीं दिया था, वह धरा-धरा ही जामन दिये की भाँति खट्टा पड़ गया। जब से वह वंशी की तान सुनीं, तब से सभी के हाथ-पैर और के और हो गये हैं, किसी काम के नहीं रहे। जैसे पुरुष वैसे ही स्त्रियाँ वैसे ही बच्चे या नवयुवक, कहाँ तक कहें, सारा ब्रज मण्डल विह्वल हो गया। हे सखि, न जाने यह यशोदा का छोकरा (कृष्ण) वंशी बजा गया या जहर फ़ैला गया।

भाव यह है कि वंशी की ध्वनि सुनकर सब सुध-बुध भूल गई।

विशेष—पहले चरण में विभावना, उत्प्रेक्षा दूसरे में अभेदातिशयोक्ति, चौथे में सन्देह अलंकार है।

प्रेम अगम, अनुपम अमित सागर-सरिस बखान ॥
जो आवत इहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखान ॥
प्रेम बारुनि पान कै बरुन भए जलधीश ॥
प्रेमहि ते विष पान करि, पूजे जात गिरीश ॥

प्रसंग—ये दोहे 'ब्रजमाधुरीसार' के अन्तर्गत रसखान की प्रेम वाटिका से लिए गए हैं। इनमें कवि ने प्रेम की महिमा गाई है।

प्रेम अगम—प्रेम अगम्य अर्थात् अथाह महिमा वाला, निराला और अपरिमित कहा जाता है। जो एक बार उसके पास आ गया अर्थात् जिसने एक बार इसका अनुभव कर लिया, रसखान कहते हैं, वह इनसे फिर दूर नहीं हो सकता, इसके रंग में रंग जाता है। यह समुद्र के समान अपार महिमा वाला गम्भीर है।

विशेष—यहाँ उपमा अलंकार है।

प्रेम बारुनी—प्रेम-रूपी मदिरा को पीकर ही वरुण समुद्र के स्वामी बने। वारुणी पश्चिमी दिशा को भी कहते हैं और मदिरा को भी। वरुण पश्चिम दिशा

के स्वामी हैं। इसलिए कवि कहता है कि प्रेम की वारुणी का पान करके वरुण समुद्र के स्वामी बने, क्योंकि वारुणी को जलेश कहते हैं। प्रेम के कारण विष पीने के कारण ही शंकर जी महेश्वर नाम से पूजे जाते हैं।

यहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

घनानन्द

जीव की बात जनाइए क्यों करि, जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरनि मारि कै पीर न पावत, एक सो मानत रोइबो रागौ।।
ऐसी बनी 'घन आनन्द' आनि जू, आनन सूझत सौं किन त्यागौ।
प्रान मरेंगे, भरेंगे बिथा पै अमोही सौं काहू को मोह न लागौ।।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००६)

प्रसंग—यह सवैया 'ब्रजमाधुरीसार' में संगृहीत घनानन्द के सवैयों से लिया गया है। कवि इसमें विरह-व्यथा की तीव्रता और प्रिय की उपेक्षा पर कटाक्ष करता है :

व्याख्या—घनानन्द कहते हैं कि आत्मा या प्राणों की जो दशा है, उसका वर्णन किस प्रकार करें? सुजान अर्थात् सब कुछ जानने वाले कहलाने पर भी अनजान बनने वाले के सामने अपनी व्यथा किस प्रकार सुनायें? वहाँ सुनाने से कोई लाभ नहीं होता। जो निर्दय तीर मारकर भी पीड़ा का अनुभव नहीं करता, हमें व्यथित करके जो कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता, रोना और हँसना समान समझता है, किसी के हँसने-रोने पर ध्यान नहीं देता। घनानन्द कहते हैं कि अब तो प्राणों पर ऐसी आ बनी है कि मुँह को सूझता हुआ अर्थात् मुख के सामने स्थित किसी वस्तु को क्यों न त्याग दे, सामने कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगती। अब तो मन में यही आता है कि प्राण मर लेंगे अर्थात् प्राण निकल जाएँगे, तो निकल जाएँ, हम सारी वेदना भी सह लेंगे। एक बात अवश्य कहेंगे कि किसी भी निर्मोही व्यक्ति से कोई प्रेम न करे, क्योंकि निष्ठुर व्यक्ति से प्रेम करने से ऐसी ही दशा होती है।

विशेष—यहाँ भावाभिव्यक्ति बहुत मार्मिक है। परिकर और विशेषोक्ति अलंकार हैं।

परकाजहि देह कौ धारे फिरौ, परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नर सुधा के समान करौ, सबहीं विधि सज्जनता सरसौ।।

'घन आनन्द' जीवन दायक हौ, कछु मेरियौ पीर हिये परसौ ।
कबहूं वा बिसासी सुजान के आँगन या अंसुवानि मो लै बरसौ ॥

प्रसंग—पूर्ववत्

इसमें कवि मेघ से प्रार्थना करता है कि किसी प्रकार मेरे आँसू प्रियतम तक पहुंचा दे, ताकि उनकी ऊष्मा से उसे मेरा स्मरण हो सके ।

व्याख्या—हे मेघ ! तुम्हारा नाम पर्जन्य है जिसका तात्पर्य है कि दूसरों के लिए जन्म लेने वाला । इस प्रकार तुम तो दूसरो के कार्य सिद्ध करने के लिए ही शरीर धारण किए फिरते हो, अतः मेरी प्रार्थना मानकर वास्तव में पर्जन्य बनकर दिखा दो । तुम समुद्र के खारे पानी को पीकर भी अपनी शक्ति से उसे अमृत के समान स्वादिष्ट कर देते हो । बुरे को भले में बदल देते हो, इसीलिए सभी प्रकार से सज्जनता बढ़ाओ, सब प्रकार से सज्जनता दिखाओ । घनानन्द कहते हैं कि हे मेघ! तुम तो जीवन (जल) को देने वाले हो, और संतप्त प्राणियों को जीवनदान करने वाले हो, इसलिए अपने मन में कुछ मेरी पीड़ा का भी अनुभव करो, मुझे शान्ति दो । कभी मेरे आँसुओं के उस विश्वासी विपरीत लक्षण से विश्वासघाती प्रिय के आँगन में ले जाकर बरसा दो, ताकि उसे मेरा स्मरण आ सके ।

यहाँ मेघ के आँसू पहुंचाने के लिए दूत बनाने का तात्पर्य यही है कि वह पानी पीकर पुनः उसे बरसाता है । अतः आँसू भी वह पी सकता है । फिर वह समुद्र के खारे पानी को भी मीठा कर देता है तो आँसुओं को भी मधुर बना देना उसके लिए साधारण बात है । 'बिसासी' विश्वासी का अपभ्रंश है, इसका अर्थ यहाँ विपरीत अर्थ लिया जायेगा 'विश्वास तोड़ने वाला' अर्थात् 'वंचक' या 'बेवफा' ।

विशेष—यहाँ 'पर जन्य', 'घन आनन्द', 'जीवन दायक'—ये विशेषण विशेष तात्पर्य से हैं अतः परिकर अलंकार है । 'जीवन' शब्द के जल और प्राण दो अर्थ होने से श्लेष है । मेघ में मानवीकरण भी किया गया है ।

ऐ रे बीर पौन, तेरौ सबै ओर ओर गौन, बा‍री
तोसों और कौन मनौ ढ़रकौंही बानि दै ।
जगत के प्रान, ओछे बड़े तो समान,
'घन आनन्द' निधान सुखदानि दुखियानी दै ।

जान उजियारे, गुन भारे, अंत मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहचानि दै ।।
विरह-विथा की मूरि, आँखनि मैं राखो पूरि,
धूरि तिन पायन की हा हा नैकु आनि दै ।।

प्रसंग—यह पद्य 'ब्रजमाधुरीसार' में संगृहीत घनानन्द की कविताओं में से लिया गया है। इसमें कवि पवन से प्रार्थना करता है कि प्रियतम के चरणों की धूल लाकर दे दे, ताकि उसे अंजन के समान आँखों में आँज कर सुख का अनुभव कर सकूँ।

व्याख्या—अरे शूर वायु, तेरा सभी दिशाओं में गमन रहता है, सदा चलता रहने से सभी ओर आना-जाना रहता है। में तुझ पर बलिहारी हूं। तेरे जैसा और कौन होगा जो कि इस प्रकार अनुकूल—कृपा करने का स्वभाव लिये हो। तुम संसार भर के जीवन हो। तुम्हारे लिए छोटे और बड़े सभी एक समान हैं। तुम घना आनन्द देने वाले हो और दुखियों को सुख देने वाले हो।

वे उज्जवल स्वभाव वाले गुणों से भरे अर्थात् बड़े गुणवान, सुजान मुझे अति ही प्रिय हैं। वे अब पहचान को पीठ पीछे करके अर्थात् परिचय को भुला कर निर्मोही हो गए हैं। मेरी ममता छोड़ चुके हैं। तू मुझे उनके चरणों की थोड़ी-सी धूलि लाकर दे दे, वही वियोग की पीड़ा को दूर करने वाली जड़ी है। मैं उसे अपनी आँखों में भरकर रखूँगी। धूलि आँखों में पड़कर दृष्टि दूषित कर देती है, पर प्रिय के चरणों की धूलि तो जड़ी है, इसलिए वह हानि नहीं करेगी।

विशेष—इस कवित्त में भाव-सौंदर्य और शब्द-चयन दोनों ही सुन्दर हैं। दूसरे चरण में नाद-सौंदर्य दर्शनीय हैं।

उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, प्रथम उल्लेख अलंकार हैं।

जा हित मात को नाम जसोदा, सुबंस को चन्द्रकला कुलधारी।
सोभा-समूहमयी 'घन आनन्द' मूरति रंग अनंग जिवारी।।
जान महा, सहजैं रिझवार, उदार विलास सुरास बिहारी।
मेरी मनोरथ हूं पुरवौ, तुम ही मो मनोरथ पूरन कारी ।।

प्रसंग—पूर्ववत्। कवि श्रीकृष्ण से कामना पूर्ति की प्रार्थना करता है।

व्याख्या—जिसके कारण माता का यशोदा अर्थात् 'यश देने वाली' यह

सत्य अर्थ वाला नाम पड़ा, जिसके जन्म लेने से वंश में भी चन्द्र कलाओं के समूहों को धारण करने वाला हुआ, अर्थात् चन्द्र-वंश कहलाया। चन्द्र का अर्थ होता है 'आनन्ददायक'। जब श्रीकृष्ण का जन्म चन्द्रवंश में हुआ तो वह सुख-दायक होने से सचमुच ही चन्द्र बन गया जिसकी प्रकृति सौंदर्य-पुंज से निर्मित हुई-सी है और अपने वर्ण से अनंग अर्थात् काम को जीवित कर देती है। अद्भुत् सौंदर्य को देखकर हृदय में प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। जो अत्यन्त प्रिय है, प्राणों के समान प्यारे हैं, आसानी से ही रीझने वाले हैं, शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, उत्तम श्रेणी की क्रीड़ा करते हैं, रस विहार या रासलीला करने वाले हैं, रसिक हैं—ऐसे प्रभो, आप मेरे मनोरथ को भी पूर्ण कीजिये, मेरी भी इच्छा पूर्ति कीजिये, क्योंकि आप ही मेरी कामना को पूर्ण कर सकते हैं।

'सहजै रिझवार' कहकर भगवान का उपासना-योग्य होना सूचित करता है। चौथा चरण बताता है कि कवि का विश्वास अनन्यता को लिए है।

विशेष—यहाँ प्रथम चरण में निरुक्त और उत्प्रेक्षा अलंकार है। चतुर्थ में काव्यलिंग और यमक हैं।

मो-से अन पहचानि को पहचाने हरि कौन।
कृपा कान मधि नैन ज्यौं, त्यों पुकार मधि मौन॥

प्रसंग—पूर्ववत्। इसमें कवि भगवान् से अपनी ओर कृपा-दृष्टि की विनय करता है।

व्याख्या—हे हरे, हे प्रभो! मुझ जैसे परिचय रहित व्यक्ति को आपको छोड़कर और कौन पहचानेगा? अर्थात् मेरा और कोई नहीं है, केवल आप हैं। यदि आपने भी नहीं पहचाना तो और कौन पहचानेगा? जिस प्रकार आपके कृपापूर्ण कान नेत्रों में ही हैं, इसी प्रकार मेरी पुकार भी मौन में ही है।

भाव यह है कि आप कृपापूर्ण दृष्टि मे देखकर ही भक्त की पुकार सुन लेते हैं, इसी प्रकार मेरी पुकार भी मौन में ही है। इससे भगवान का अन्तर्यामी होना सूचित किया है

देव

बरुनी बघंबर में गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौहैं भेष रखियां।

बूड़ी जल ही में दिन जामिनी हूं जागें भौहें,
धूम सिर छायो विरहानल बिलखियां।
अंसुआ फटिक माल, लाल डोरी सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चली संग सखियाँ ।।
दीजिए दरस 'देव' कीजिएँ संजोगिन, ए
जोगिन ह्वै बैठि हैं बियोगिनी की अंखियां।

(मध्यमा परीक्षा, सं २००१)

प्रसंग—यह पद्य 'ब्रजमाधुरीसार' अन्तर्गत महाकवि देव के सवैयों से लिया गया है। इसमें कवि वियोगिनी की आँखों का योगिनी रूप धारण करना और उसके द्वारा विरह की तीव्रता का वर्णन करता है।

व्याख्या—दोनों आँखों की वरौनियों का जिन्होंने बाघम्बर धारण किया है दोनों पलकें ही गुदड़ी या झोली हैं, नित्य रुदन और जागरणों के कारण लाल बने कोए ही जिन्होंने भगवे वस्त्र धारण किए हैं। जो सदा आँसू भरे रहने से पानी में डूवी रहती हैं, रात-दिन जागती रहती हैं (उनकी नींद खो गई है), भवों का ही धुआँ जिनके सिर पर फ़ैल रहा है। विरह की अग्नि से जो व्याकुल हैं, तप रही हैं, आँसू की बूंद ही जिन्होंने बिल्लौर पत्थर की माला पहनी है, कोयों में छाए लाल डोरे की जिन्होंने लाल पगड़ियाँ पहनी हैं, जो अकेली हो गई हैं और साथ की सहेलियाँ छोड़ चली हैं (योगी लोग परिवार का संग छोड़ देते हैं)। ऐसी ये विरहणी आँखें जोगन बन गई हैं। हे प्रभो! इन्हें दर्शन देकर संयोग वाली—मिलन मुख वाली बना दीजिए।

वियोग में रात दिन और जागने से आँखें लाल पड़ जाती हैं, कोयों में लाल डोरे पड़ जाते हैं, उन्हें सूनापन-सा लगता है। रात-दिन आँसू भरे रहते हैं। जोगन वस्त्र छोड़कर बाघम्बर बिछाती है, कंथा धारण करती है, भगवे कपड़े पहनती हैं, पानी में बैठकर तप करती हैं, दिन-रात जागरण करती हैं-धूनी रमाती हैं जिसके कारण धुआँ छाया रहता है। सिर पर लाल पगड़ी लपेटती हैं, स्फटिक की माला जपती है।

विशेषः—समान रूप से आरोप होने के कारण यहाँ साँगरूपक अलंकार है। 'जोगिनी', वियोगिनी', 'संजोगिनी' में यमक है।

सूनो कै परम पद, ऊनो कै अनन्त मृदु,
दूनो के नदीस नदु इन्दिरा फुरें परी।
महिमा मुनीसन की सम्पत्ति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रजबीथी विथुरै परी।।
भादौं की अन्धेरी अधराति मथुरा के पथ
आई मनोरथ, देव, देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन, अपार पर ब्रह्म रासि,
जसुदा कै कोरे एक बारक कुरै परी।।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००७)

प्रसंग—पूर्ववत्! देव कवि इस पद्य में श्रीकृष्ण के जन्म का वर्णन करते हैं।

व्याख्या—लक्ष्मी परमधाम वैकुण्ठ को खाली करके, शेष नाग का अहंकार दूर करके (कि लक्ष्मी और नारायण उस पर निवास करते हैं,) समुद्र और बड़ी नदियों को दुगुना करके अर्थात् प्रसन्नता से उन्हें उमड़ा कर पृथ्वी पर प्रकट हो गई। बड़े-बड़े मुनियों का महत्त्व, दिक्पालों का वैभव, सिद्ध प्राप्त व्यक्तियों की पाई सिद्ध ब्रज की गलियों में बिखर पड़ी। भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की आधी रात को मथुरा के मार्ग—अर्थात् मथुरा की ओर आकर जगत की कामना के रूप में वसुदेव और देवकी के मन में आकर छिपी हुई समुद्र के समान सदा पूर्ण, अनन्त परमेश्वर की शक्ति सहसा यशोदा की गोद में डाल दी गई।

परमेश्वर की शक्ति जोकि जगत् की प्रार्थनाओं के कारण देवकी के गर्भ में थी और वैकुण्ठ से मथुरा में आई थी, क्रीड़ा के लिए यशोदा की गोद में पहुंचा दी गई। परमेश्वर के पृथ्वी पर आने के कारण सब लोगों का वैभव और स्वयं लक्ष्मी ब्रज मंडल में आ गई।

विशेषः—यहां तुल्योगिता, पर्यायोस्ति अलंकार है। छेकानुप्रास और वृत्य-नुप्रास का अच्छा निर्वाह हुआ है।

हौं ही ब्रज, वृन्दावन मोही में बसत सदा,
जमुना तरंग स्याम रग अवलीन की।
चहूं ओर सुन्दर सघन बन देखियतु,
कुंजनि में सुनियति सु गुंजन अलीन की।
बंशी बट तट नटनागर नटतु मो मैं,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक, बनक ताल तालनि की
तनक-तनक ता में भनक चुरीन की।

मध्यमा, परीक्षा सं० २००८

प्रसंग—पूर्ववत्! इसमें देव आध्यात्मिक तत्व का वर्णन करते हैं जिसमें जीवात्मा और परमात्मा की एकता द्वारा अपने ही अन्तर में रास विहार, वृन्दावन आदि का अस्तित्व दिखाया है।

व्याख्या—ब्रज मण्डल मैं ही हूँ, वृन्दावन भी मुझ में ही सदैव रहता है, इसी प्रकार श्याम रंग वाली यमुना की लहरें भी मुझ में ही हैं। चारों ओर सुन्दर दीखता घना मधुवन भी व्याप्त है, उसके सुन्दर लतामण्डपों में भ्रमरों की मधु गुंजार भी सुनाई देती है। वंशीवट जिसके नीचे कृष्ण रास-विहार करते थे, मेरे ही अन्दर लीन है और नट-नागर कृष्ण मुझ में ही रास करते हैं, रस लीला का शब्द और साथ वजने वाली वीणा की अति मधुर ध्वनि भी मुझमें ही सुनाई देती है। तालियों और तालों की लय की मृदु ध्वनि भी मुझमें सुनाई देती है। उस ध्वनि के बीच चूड़ियों की हल्की-हल्की झनकार भी मेरे भीतर ही सुनाई देती है।

सारा विश्व क्योंकि ब्रह्ममय है, अतः रास-विहार आदि ब्रह्म के विराट् शरीर में ही होने लगते हैं। जीव के ज्ञान द्वारा ब्रह्म से अभिन्न हो जाने पर वह भी अपने अन्तर में विराट के व्यापारों की सत्ता का अनुभव कर सकता है।

गुरुजन जावन मिल्यो न भयो न दृढ़ दधि,
मथ्यौ न विवेक रई देव जो बनाइगो॥
माखन मुकुति कहां छांड्यो न भुगुति जहां,
नेह बिनु सिगरौ सवाद खेह नायगो॥

विलखत बच्यो, मूल कच्यौ लोभ भांड़े,
तच्यौ क्रोध आंच पच्यौ मदन सिरायगो।
पायो न सियावन सलिल छिम छींटेन सों,
दूध सो जनम बिन जाने उफनायगो ॥

(मध्यमा परीक्षा सं० २००३)

प्रसंग—पूर्ववत् ! इसमें ज्ञान प्राप्ति द्वारा युक्त के लिए प्रयत्न न करने के सम्बन्ध में पश्चात्ताप प्रकट किया गया है ।

व्याख्या—यह जीवन दूध समान विना जाने ही उफन गया । अर्थात् जैसे दूध उफन कर विखर जाता है और किसी काम नहीं आता, इसी प्रकार जीवन का कोई भी सदुपयोग न हो सका और वह विषय-विकारों में वृथा ही नष्ट हो गया । न तो उसके लिए गुरु रूपी जामन ही मिला, गुरु का उपदेश जीवन के सदुपयोग का मार्ग सुझाता है, जामन देने से दूध का दही बन जाता है इस प्रकार गुरुजन रूपी जामन न मिलने से जीवन रूपी दूध को स्थिर न किया जा सका इसलिए दही पक्का न जमा, तात्पर्य यह कि मन स्थिर न हुआ, सन्मार्ग पर न डटा रह सका । फिर उसको कर्त्तव्य के ज्ञान की मथनी से मथा नहीं जो कि वह ज्ञान-रूपी माखन बनाता । दही को विलोने से माखन निकलता है । विवेक से हृदय मन्थन करने पर तत्व ज्ञान या विज्ञान का बोध होता है । पर जव विवेक के द्वारा मन्थन ही नहीं किया तो विज्ञान कहाँ वनेगा ? जव तक भुगुति अर्थात् सांसारिक भोग रूपी भुगुति अर्थात् खाना न छोड़ा, तव तक मक्खन-रूपी मुक्ति कहाँ मिल सकती है । जव तक दही को खाने से न वचाया जायेगा, तव तक भला उसमें मक्खन कैसे निकल सकता है, इसी प्रकार जव तक जीवन साँसारिक भोगों की लालसा को नहीं त्यागता, तब तक मुक्ति कहाँ हो सकती है । वृत्ति तो भोगों पर केन्द्रित है। प्रेम की चिकनाई के विना सारा स्वाद धूल में मिल गया। चिकनाई न हो तो दूध में कोई रस नहीं होता, जीवन में यदि प्रभु का प्रेम नहीं तो जीवन का कोई भी रस नहीं । रो-पीट कर अर्थात् वड़े क्लेश से थोड़ा-सा बचा, जड़ से कच्चा रह गया, कुछ लालच-रूपी पात्र में लग गया, कभी क्रोध की आग में गर्म होकर जला और कभी पककर काम के कारण विखर ही गया, दूध मन्दी

आँच में ठीक पकता है, तेज आँच में या तो जलता है या उफन कर बाहर निकल जाता है। बीच में वह कच्चा रह जाता है। इसी प्रकार जीवन किसी तरह पछताने से कुमार्ग से बचाया, नष्ट होने से कुछ बचाया, पर ज्ञान न होने के कारण अन्दर से कच्चा रह गया। मन और वृत्तियाँ शुद्धन नहीं हुई, इसी भारण धन आदि के लोन में लीकी रहा, कुछ क्रोध आग में जला, फिर कुछ ज्ञान हुआ भी तो काम के कारण उसका विवेक ठण्डा पड़ गया। क्षमा-रूपी जल के छींटों से उसे शीतल भी न कर पाया, उबलते दूध में ठण्डे पानी के छींटे मिल जाये तो वह नीचे बैठ जाता है, इसी प्रकार क्षमा या तितिक्षा के प्रभाव से मानस की वृत्तियाँ शीतल या शान्त हो जाती हैं। इस प्रकार यह जन्म दूध की भाँति बिना जाने ही उफन गया, व्यर्थ चला गया। उफना दूध किसी काम नहीं आता, इसी प्रकार कामादि में बीता जीवन व्यर्थ हो जाता है।

विशेष:—यहाँ रूपक अलंकार की योजना की है। किन्तु सारा अलंकार संगत नहीं हो पाता है क्योंकि कहीं-कहीं दूसरे पक्ष का अर्थ नहीं बनता। एक देशविवर्ति रूपक माना जा सकता है किन्तु अन्त में 'दूध-सी' कहकर उपमा बना दिया है।

वा चकई को भयो चित चितौ चितौति चहूं रिसि चाव सौ नाची।
ह्वै गई छीन छपाकर की छवि जामिनि जोन्ह मनों जम जांची॥
बोलत बैरि विहंगम 'देव' सुवैरिन के घर सम्पत्ति साँची।
लोहू पियौ जो वियोगिनि को, सुकियौ मुख लाल पिसाचनि प्राची।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००६, २०१५)

प्रसंग—पूर्ववत्। यह खण्डिता नायिका की उक्ति है। नायिका रात भर पति की प्रतीक्षा करती रही है परन्तु प्रिय उनकी सौत के घर रहा। राह देखते-देखते भोर हो गयी है, ऊषा का उदय होने लगा, क्षितिज पर लाली छा गई है। यह देखकर व्यथिता नायिका कहती है।

व्याख्या—उस चकवी की मनचाही हुई, वह चारों दिशाओं की तरफ देख-कर बड़े उल्लास के साथ नाच उठी। रात्रि को चकवा और चकवी एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। इसलिए चकवी सारी रात शीघ्र चन्द्रमा के अस्त होने की प्रतीक्षा करती रही। अब ऊषा के उदय होने से उसकी कामना पूर्ण हो गई।

रात्रि करने वाले चन्द्रमा की कान्ति क्षीण हो गई। उसकी शक्ति नष्ट हो गई, रात्रि की चाँदनी जो कि उस खण्डिता को संतप्त कर रही थी, वह भी समाप्त हो गई, मानो यमराज ने माँग ली हो। ये दोनों ही शत्रु तो मिल गए परन्तु ये शत्रु पक्षी वोल-वोल कर प्रभात की सूचना दे रहे हैं। इसलिए अब तो वैरिन (सौत) के घर सचमुच ही सम्पत्ति चली गई है, सच ही सौत के गहरे हो गए हैं। अर्थात् यह निश्चित हो गया है कि प्रिय रात में सौत के यहाँ रहा है। इस-लिए उसका भाग्य सच ही जाग उठा है। पूर्व दिशा का मुख लाल हो रहा है, उसे लगता है कि इस पूर्व दिशा से रात भर जो विरहणियों का खून पिया था, इस कारण ही राक्षसी का मुख लाल हो रहा है। पूर्व में चन्द्रोदय होने के कारण वह चिढ़ती और विरहिणियों को सताती प्रतीत होती है।

विशेष—इसमें उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति, अनुमान, रूपक अपह्नुति एवं काव्य-लिंग अलंकार हैं।

रत्नाकर

आये हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तो पै
ऊधौ ये वियोग के वचन बतरावौ ना।
कहै 'रत्नाकर' दया करि दरस दीनों,
दुख दरिबे कौं तौं पै अधिक बढ़ावौ ना।
टूक-टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय,
चूकि हूं कठोर बैन पाहन चलावौ ना
एक मन मोहन तौ बसिकै उजार्यो मोहि,
हिय में अनेक मन मोहन बसावौं ना॥

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००५ व २०१०, २०२१)

प्रसंग—यह कविता 'व्रजमाधुरी सार' में संगृहीत जगन्नाथ रत्नाकर के काव्य 'उद्धव शतक' से लिया गया है। उद्धव ज्ञान का अभिमान लेकर व्रज में गये और गोपियों को उपदेश देने लगे। उनका उपदेश सुनने के वाद गोपियाँ कहती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम यदि मथुरा से हमें योग सिखाने आये हो तो हमसे वियोग की बातें न कर रत्नाकर कहते हैं कि यदि तुमने कृपा करके हमारा

दुःख दूर करने को दर्शन दिया है तो इसे अधिक न वढ़ाओ। तुम्हारी ये बातें हमारी व्यथा को वढ़ा ही रही हैं। हमारा हृदय रूपी दर्पण टूट कर खण्ड-खण्ड हो जायेगा, इसीलिए भूलकर भी कठिन वचनों के पत्थर न चलाओ, न मारो। एक मनमोहन कृष्ण ने तो इस मन में वसकर मुझे उजाड़ दिया अव तुम कई मनमोहन इसमें वसाने की चेष्टा न करो।

यहाँ योग और वियोग के अर्थ में शब्द-छल से काम लिया गया है। उद्धव ने योग का अर्थ मन की साधना लिया और गोपियों ने उसका अर्थ मिलन लिया। इस प्रकार उनका तात्पर्य वनता है कि तुम मिलन का उपाय वताने आये हो तो विरह वढ़ाने वाली वातें करके न जलाओ।

विशेष—दूसरे के शब्दों का भिन्न अर्थ लेने के कारण श्लेष, वक्रोक्ति और मन के मुकुर एवं वचनों में पत्थर के आरोप से रूपक अलंकार है।

चिन्तामनि मंजुल पंवारि धूरि धारिन में,
कांच-मन-मकुर सुधारि रखिबौ कहौ।
कहै 'रत्नाकर' वियोग-अगि सारन कौं,
ऊधो, हाय हम कौ बयारि भखिबौ कहौ॥
रूप रस-हीन जाहि निपट निरूपि चुके,
ताकौं रूप ध्याइबौं औ रस चखिबौ कहौ।
एते बड़े विश्व माहि हेरेहूं न पैये जाहि,
ताहि त्रिकुटि में नैन मूंदि लखिबो कहौ॥

प्रसंग—पूर्ववत् ! गोपियाँ उद्धव की वातों का उन्हीं की वातों से खण्डन करती हैं।

व्याख्या—तुम सुन्दर चिन्तामणि रत्न को धूल के समूह में फेंक कर मन रूपी दर्पण में काँच को सजाने का उपदेश देते हो। तात्पर्य यह है कि तुम श्रीकृष्ण को छोड़, उनके स्थान में ब्रह्म की उपासना करने को कहते हो, वह तो ऐसा ही है कि जैसे रत्न को फेंक कर काँच रखने को कहें। 'रत्नाकर' कहते हैं—हे उद्धव ! वड़े दुःख की वात है कि तुम हमें विरह की आग बुझाने के लिए वायु-भक्षण करने की कहते हो। वायु के द्वारा अग्नि तीव्र होती है, यह सभी जानते हैं, तो भी तुम हमें उल्टा उपदेश देने चले हो, तुम्हारी विचित्र ही बुद्धि है। जिसे तुम सर्वथा किसी रूप और रस से रहित—सर्वथा कुरूप और

नीरस वता चुके हो, अब उसी के रूप का ध्यान करने और उसी का आनन्द लेने को कहते हो। कृष्ण तो हैं मनमोहन, उन्हें तुम छोड़ने को कहते हो और कुरूप का ध्यान करने का उपदेश देते हो, विचित्र ही उपदेश है। जिसको इतने बड़े ब्रह्माण्ड में ढूँढ़कर भी नहीं पा सकते, उसे तुम भँवों के बीच में आँखें बन्द करके देखने को कहते हो ?

तात्पर्य यही है कि सुन्दर और सलोने श्रीकृष्ण तो छोड़कर उस निराकार ईश्वर की उपासना का तुम्हारा उपदेश सर्वथा हास्य का ही विषय है।

सील-सनी सुरुचि सुबात चलें पूरब को,
औसे ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं।
कहै 'रत्नाकर' अचानक चमक उठी,
उर घनश्याम कैं अधीर अकुलाने तैं॥
आशा दुन्द दुरदिन दीस्यौं सुरपुर माँहि,
ब्रज में सुदिन वारि बूंद हरियाने तैं॥
तीर को प्रवाह कान्ह नैननि कैं नीर बह्यो,
धीर बह्यौं ऊवौं-उर अंचल रसाने तैं॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद में यह वताया गया है कि मथुरा-निवासी कृष्ण का मन मथुरा में आकर ऐश्वर्य विलास की स्मृतियों से व्यथित हो उठता है। मन की इस व्याकुलता से प्रजा में सुदिन और मथुरा में दुर्दिन हो जाता है। प्रस्तुत छन्द में श्लेष अलंकार है जिसके कारण द्वयर्थक है। एक प्रकृति की ओर और दूसरा कृष्ण पक्ष में लगता है।

व्याख्या—प्रथमपक्ष—शील और आचरण से मुक्त, अरुचि से पूर्ण सुखद चर्चाओं के आरम्भ होते ही, नेत्रों के मीलोन्मीलन से और ही सुन्दरता आ गई है। अधीरतापूर्ण व्याकुलता से कृष्ण के मानस में सहसा वेदना उमड़ पड़ी। कृष्ण की इस व्याकुलता से मथुरा में निराशायुक्त कुसमय दिखाई देने लगा। कृष्ण के हृदय में गोपियों की स्मृति होने के कारण गोपियों के समूह में प्रसन्नता उत्पन्न होने के कारण अच्छा दिन दिखाई दिया। स्मृति ताजी होने पर कृष्ण के नेत्रों से आँसुओं की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगी। ऐसी स्थितियों में उद्धव का हृदय रूपी पर्वत पिघल जाने के कारण धैर्य वह चला।

द्वितीय पक्ष—शीतलता से युक्त सुहावनी और तीव्र पुरवाइयाँ के चलते ही नेत्रों में उन्माद छा गया। श्याम-बादलों के उमड़ने से विद्युत चमकने लगी और दिशाओं के मेघाच्छन्न होने से आकाश में वर्षा दिखाई देने लगी। इससे ब्रज में पानी की बूंदें पड़ने से शस्य-श्यामला भूमि हरित दिखाई पड़ने लगी और दिन भी मोहक एवं सुन्दर प्रतीत होने लगा। सरिताओं के जल का प्रवाह किनारों से प्रवाहित होने लगा। पर्वत भी उस प्रवाह में अधीर होकर बहने लगे।

विशेष—श्लेष और अतिशयोक्ति अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

नेम-व्रत-संजम के पींजरै परैं को जब,
लाज-कुल-कानि-प्रतिबन्धहि निवारि चुकीं।
कौन गुन-गौरव कौ लंगर लगावैं जब,
सुधि बुधि ही कौ टेक करि टारि चुकीं।
जोग 'रत्नाकर' में साँस घूंट बूड़े कौन,
ऊधौ ! हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं।
मुक्ति-मुक्ता कौ मोल माल ही कहा है जब
मोहन लाला पै मन मानिक ही वारि चुकीं।।

प्रसंग—गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश देने पर अपने प्रेम-मार्ग को उत्कृष्ट सिद्ध करती हैं। अब उसके लिए योग-साधन के द्वारा ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करना अत्यन्त कठिन है। प्रेम के अद्भुत आकर्षण के कारण गोपियाँ ज्ञानोपदेश का खण्डन करती हैं।

व्याख्या—हे ऊधं ! तुम जो कि हमें ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य करते हो यह किसी प्रकार भी सम्भव ही नहीं है। हमने लाज, कुल की मर्यादा-प्रथा, नियम आदि सभी प्रकार के बन्धनों को छोड़ डाला है। ऐसा हो जाने पर नियम व्रत और संयम के कठिन पिंजरे में कौन पड़े। रस्सी रूपी गुणों के लंगर कौन लगावे अर्थात् इसके झंझट में कौन पड़े। जबकि हम अपनी सुध-बुध का भार ही प्रतीक्षा करके टाल चुकी हैं। हे ऊधो ! हमने तो जीवन की गति के लिये प्रेम का सीधा पथ ग्रहण कर लिया है। योग मार्ग के अगम सागर में श्वास घोंट कर डुबकी लगाना हमारे वश की बात नहीं है।

इतना कठिन कार्य हमारे लिए न तो योग्य है और न ही हमें रुचिकर लगता है। हम तो भक्ति के सरल मार्ग को अपनाने में ही अपना हित समझती हैं। यदि तुम ज्ञान-मार्ग का अनुसरण, अनुकरण करने में मुक्ति रूपी मोती का प्रलोभन देते हो तो वह हमारे लिए व्यर्थ ही है। जब हम भी कृष्ण लीला पर मन-रूपी माणिक्य को न्यौछावर कर चुकी हैं तब मुक्ति रूपी मोती का मूल्य हमारे लिए क्या कीमत रखता है।

विशेष—निर्गुण ब्रह्म का खण्डन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। श्लेष अलंकार है।

विकसित विपिन बसन्तिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिनि के अंग पियराने में।
बौरे बृन्दा लसत रसाल-बर बारिनि में।
पिक की पुकार है चबाब उमगाने में॥
होत पतझार झार तरुनि समूहनि कौं,
वैहरि बतास के उसास अधिकाने में।
काम विधि बाम की कला में मीन-मेष कहा,
ऊधौ, नित बसत बसन्त बरसाने में॥

(मध्यमा परीक्षा, सं० २००६)

प्रसंग—यथापूर्व। अपनी विरहजन्य दशा का वर्णन गोपियाँ वसन्त ऋतु से तुलना के द्वारा करती हैं।

व्याख्या—गोपिका कहती हैं—यहाँ बरसाने में तो बारह मास वसन्त ऋतु छाई रहती है। गोपियों के पीले अंगों में तुम वन में खिली वासन्ती लता का पीला वर्ण देख सकते हो। तुलसी के पौधों पर आई बौरों को ही बगीचों के आमों पर बौर आना जानो। मिलन की उत्कण्ठा से गोपियों की जो पुकार निकलती है, वही कोयल की पुकार सुनाई देती है। युवतियों के समूह का जो झर हो रहा है अर्थात् उनके अंग क्षीण हो रहे हैं, वही वृक्षों का पतझड़ समझो। लम्बी-लम्बी साँसों में दक्षिण की वायु का अनुभव होता है। इस कामदेव रूपी ब्रह्मा के निर्माण-चातुर्य में क्या त्रुटि हो सकती है, उसके बनाये संसार में क्या दोष हो सकता है, इस बरसाने में तो सदा ही वसन्त बना रहता है।

ब्रह्मा की सृष्टि में तो वर्ष में केवल दो मास वसन्त रहता है पर काम की सृष्टि में इस वरसाने में बारह महीने वसन्त के दर्शन होते हैं।

विशेषः—यहाँ रूपक और व्यतिरेक अलंकार का संकर है।

> **रंग रूप रहित लखत सबही है हमें,**
> **वैसो एक और ध्याय धीर धरिहैं कहा।**
> **कहे 'रत्नाकर' जरी हैं बिरहानल में,**
> **और अब जोति को जगाइ जरिहैं कहा॥**
> **राखी धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म,**
> **तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।**
> **एक ही अनंग साधि साध सब पू री आस,**
> **और अंग रहित अराधि करिहैं कहा॥**

प्रसंग—यथापूर्व ! गोपियाँ ब्रह्म के उपदेश को व्यर्थ बता रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हमें तो कृष्ण के वियोग में सारा ही जगत रंग और रूप से शून्य दिखाई देता है। कृष्ण के वियोग में हमें सारा ही जगत धुंधला-सा नीरस दिखाई देता है तो अब तुम्हारे कहने से उसी प्रकार के एक और रूप हीन ब्रह्म का ध्यान रख कर धैर्य धारण करेंगी ? उससे हमें क्या धैर्य मिलेगा ? 'रत्नाकर' कहते हैं, हम पहले ही वियोग की आग में जल रही हैं, अब एक और ब्रह्म ज्योति को जलाकर उसमें जल कर क्या लेंगी। तुम अपने अदृश्य रूपहीन ब्रह्म को वहीं मथुरा में रहने दो, भला उससे हमारा कौन सा असम्भव काम सिद्ध होगा, वह हमारा कौन-सा काम कर देगा जिसे और नहीं कर सकते। अरे एक ही अंगहीन—कामदेव के समान सुन्दर कृष्ण की साधना करके हमने सारी कामनाएं पूरी कर लीं। (व्यंग्य के रूप में कहा है) अब एक और अंगहीन पर शरीर रहित ब्रह्म की उपासना करके और क्या पा लेंगी, उसकी आराधना से ही हमें क्या लाभ होगा।

विशेषः—वक्रोक्ति अलंकार है।

> **दौनाचल कौ ना यह अटक्यौ कनूका जाहि,**
> **छाइ छिगुनी पै छेम-छत्र छिति छायौ है॥**

कहै 'रत्नाकर' न कूबर बधूबर कौ,
जाहि रच रांचै पानी परसि गवायौ है ।।
यह गुरु प्रेमाचल दृग व्रत धारनि कौ,
जा के भार भाव उनहूं को सकुचायौ है ।।
जाने कहा जानि कै अजान ह्वै सुजान कांह,
ताहि तुम्हें बात सों उड़ावन पठायौ है ।।

प्रसंग—यथापूर्व । गोपियाँ अपने प्रेमव्रत की दृढ़ता बता रही हैं ।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि यह द्रोणाचल पर्वत का छिटका (टूटकर दूर गिरा हुआ) टुकड़ा नहीं है, जिसे छोटी उंगली पर उठाकर और छत्र बनाकर पृथ्वी पर कुशलता स्थापित की । कुछ के विचार से गोवर्धन पर्वत द्रोण पर्वत का ही एक खण्ड है । उसे ही कृष्ण ने छोटी अंगुली पर उठाकर ब्रज की रक्षा की थी । रत्नाकर कहते हैं, यह नई उत्तम वधू कुवड़ी का कूबर नहीं है, जिसे प्रेम भरे हाथों से जरा छूकर ही दूर कर दिया । कृष्ण ने कंस की दासी कुवड़ी का कूवर अनायास ही दूर कर दिया था । यह तो दृढ़ नेम-व्रत धारण करने वाली गोपियों का प्रेम रूपी पर्वत है जिसके बोझ में उनका (कृष्ण का) भी भाव दव गया है जिसकी गुरुता वे भी मानते हैं । तो भी न जाने समझदार होकर भी कृष्ण ने अनजान बन कर क्या जानकर तुम्हें हमारे उस प्रेम-पर्वत को वातों से ही उड़ाने को भेज दिया है ।

गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले का भाव जिस पर्वत से दब गया उसे बातों से उड़ाने के लिए मनुष्य भेजना नासमझी ही है । नेत्रव्रत का तात्पर्य यही है कि जिनके नेत्रों ने उपवास लिया है कि कृष्ण का दर्शन किये बिना तृप्ति नहीं पायेंगी और आंसू बहाती रहेंगी ।

विशेष:—यहाँ रूपक, निश्चय, सन्देह, विरोधाभास और यमक एवं अर्थापत्ति अलंकार हैं ।

पंचतत्व में जो सच्चिदानन्द की सत्ता सो तौ,
हम तुम उनमें समान ही समोई है ।।
कहै 'रत्नाकर' विभूति पंचभूत हू की,
एक ही सी सकल प्रभूतनि मैं पोई है ।।

माया ही के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
काँच फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है ।।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान आँखिन सों,
कान्ह सब ही में कान्ह ही में सब कोई है ।।

प्रसंग—यह पद 'ब्रजमाधुरी सार' में संगृहीत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के उद्धव-शतक से लिया गया है। कृष्ण भगवान् के सखा उद्धव गोपियों को ब्रज में आकर गीता-ज्ञान का उपदेश देते हैं कि कृष्ण का स्वरूप तो सभी प्राणीमात्र में व्याप्त है, इस कारण यह सर्वत्र द्रष्टव्य तथा उपास्य है।

भावार्थ—मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचभूतों में परमात्मा की सत्ता का जो अस्तित्व है वह हम में, तुम में और कृष्ण में समान रूप से विद्यमान है। किन्तु यह जो भेद दिखाई पड़ता है, वह माया के कारण से है, अन्यथा सम्पूर्ण प्राणी मात्र में ये पंचभूत और उसकी सत्ता एक-सी ही है। अतः यह भेद-भाव मायोत्पन्न है। जिस प्रकार से विभिन्न दर्पण में एक ही रूप प्रतिबिम्बित होता है। उसी प्रकार सभी भूतों में उसी परमात्मा का रूप दिखाई पड़ता है। हे गोपीगण ! यदि तुम सब भ्रम के परदे को हटाकर और ज्ञान चक्षु से देखो, कृष्ण भगवान् का स्वरूप सब में है और सभी प्राणी मात्र उनमें हैं, ऐसा अनुभव करोगी।

उक्त पद में अद्वैतवाद का समर्थन किया गया है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के अनुसार जीव तथा ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। यह सारा जगत् ब्रह्म का रूप है। प्रकृति, जीव और ब्रह्म सब एक ही हैं। माया से ही यह भेद-भाव लक्षित होता है।

सत्यनारायण "कविरत्न":

भुवन-विदित यह जदपि चारु भारत भुवि पावन
पै रसपूर्न कमण्डल ब्रज मण्डल मन भावन ।।
परम-पुन्यमय प्रकृति-छटा जह विधि बिधुराई।
जग सुर-मुनि-नर मंजु जासु जानत सुघराई ।।
जिहि प्रभाव बस नित-नूतन जलधर सोभा धरि।
सफल काम अभिराम सघन घनस्याम आपु हरि ।।

श्री पति-पद-पंकज-रज परसत जो पुनीत अति।
आय जहां आनन्द करनि अनुभव सहृदय मति ॥
जुगल चरन-अरविन्द-ध्यान-मकरन्द-पान-हित।
मुनि-मन मुदित मलिंद निरंतर जहं नित।
तहं सुचि सरल स्वभाव रुचिर गुनगन के रासी।
भोरे-भारे वसत नेह बिकसित ब्रजवासी ॥

प्रसंग—प्रस्तुत प्रसंग 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित कविरत्न सत्यनारायण की कविताओं से लिया गया है। इस पद्य-खण्ड में कवि ने ब्रजभूमि की पवित्रता और शोभा का आलंकारिक भाषा और शैली में वर्णन किया है। कवि कहता है :

व्याख्या—भारत की यह पवित्र भूमि यद्यपि अपनी सहायता और सुन्दरता के कारण सारे संसार में प्रसिद्ध है, किन्तु उस भारत-भूमि पर स्थित ब्रज की भूमि तो रससे भरे कमण्डल के समान सभी के मन को अत्यधिक मोहित करने वाली है। विधाता ने ब्रजभूमि पर सर्वत्र अत्यन्त पुण्य प्रदान करने वाली प्राकृतिक शोभा बिखेर रखी है। उसकी सुन्दरता को इस संसार में रहने वाले मनुष्य, देवता, मुनि-ऋषि आदि सभी अच्छी प्रकार से जानते और मानते हैं। उसी प्राकृतिक सौंदर्य के वशीभूत होकर के ही नित नये बादलों का शोभायमान रूप धारण करके, सुन्दर रूप से वर्षा करके स्वयं भगवान कृष्ण सभी की इच्छाएं पूर्ण करते रहते हैं। अर्थात् भगवान इस ब्रज-भूमि की प्राकृतिक शोभा को हमेशा वनाए रखने के लिए अपनी कृपा से उचित वर्षा करते हैं, ताकि ब्रजभूमि का महत्त्व अक्षुण्ण रहे। वह भूमि श्री लक्ष्मी पति भगवान कृष्ण के चरणों की धूलि के स्पर्श के कारण बहुत ही पवित्र हो चुकी है। अतः उसे देखकर और वहाँ आकर सदस्यों की बुद्धि हमेशा आनन्द का अनुभव करती रहती है। भगवान श्रीकृष्ण के दोनों चरण-कमलों के रसका पान करने के लिए मुनियों के मन भ्रमर का रूप धारण करके वहाँ नित्य निवास करते रहते हैं। उस ब्रजभूमि पर पवित्र, सरल, और सुघड़ स्वभाव वाले और सब प्रकार के गुणों से सुशोभित, भोले-भोले और प्रेम भरे ब्रजवासी निवास करते हैं।

भाव यह है कि ब्रज की भूमि अपनी प्राथमिक शोभा के कारण तो महत्त्वपूर्ण है ही सही, भगवान कृष्ण की लीलाओं के साथ उसका सम्बन्ध होने के कारण वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसी कारण हृदयों के मन में उसके प्रति एक अपूर्व पूजा का भाव है।

विशेष—पद्य में रूपक, उपमा, अनुप्रास और स्वभावोक्ति आदि अलंकार की सहज छटा देखी जा सकती है।

तिहारो को पावै प्रभु पार ?

विपुल सृष्टि नित नव विचित्र के चित्रकार आधार
मकरी के सम जगत-जाल यहि सृजत और बिस्तारत।
कौतुक ही में हरत ताहि पुनि, बेद पुरान उचारत ॥
जग में तुम और तुम में सब जग, वासुदेव अभिराम।
सकल रंग तन बसत आपके याही सों घनस्याम ॥
परम पुरुष तुम, प्रकृति-नटी संग, लीला रचत अपार।
जग-व्यापन सों, विष्णु कहावत, अचरज तऊ अबिकार॥
जितने जगत समीप, दूर अति होत जात सब ग्याना॥
सत्य छितिज सम तरसावत नित, बिस्व रूप-भगवान॥

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कविवर सत्यनारायण कविरत्न के पदों में से यहाँ संकलित किया गया है। इस पद्य में कवि ने भगवान कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उसके रूप और शक्ति की व्यापकता सारे संसार में दिखाई है। भगवान को विश्व-रूप मानते हुए कवि कहता है—

व्याख्या—हे प्रभो! इस संसार में भला तुम्हारी महिमा का पार कौन पा सकता है! यह सत्य नये रूपों में प्रकट होने वाली अपार सृष्टि तुम्हारी ही बनाई हुई है। इस संसार रूपी विचित्र-चित्र के निर्माता और आधार तुम्हीं हो। जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला स्वयं बुनती और फिर उसका विस्तार कर अन्त में उसे स्वयं ही तोड़ डालती है, उसी प्रकार तुम स्वयं ही खेल-खेल में इस संसार का निर्माण करते हो, इसका पालन और विस्तार करते और अन्त में इसका नाश भी स्वयं ही उसी खेल-भाव से कर डालते हो। वेद पुराण सभी तुम्हारे इस खिलाड़ी रूप का ही चित्रण करते हैं। हे भगवान

कृष्ण ! हे श्याम सुन्दर ! यह सारा संसार तुम में और तुम इस समस्त संसार की रचना में समाये हुए हो। क्योंकि संसार के सभी रंग तुम्हारे में ही निवास करते हैं, इसी कारण तुम्हारा नाम 'घनश्याम' है। (अनेक रंगों का घोल श्याम-सा ही हो जाता है)। हे कृष्ण, तुम्हीं परम पुरुष—अर्थात् पर-ब्रह्म परमेश्वर हो और अपनी माया प्रकृति के साथ मिल करके तुम्हीं इस संसार की अनेक लीलाओं की रचना किया करते हो। तुम सारे संसार में रमे हुए हो—अतः 'विष्णु' अर्थात् व्यापक कहलाते हो, पर आश्चर्य तो इस बात का है है कि इतना होते हुए भी तुम स्वयं हमेशा अविकारी बने रहते हो ! मनुष्य जितना अधिक तुम्हारे समीप आने का प्रयत्न करता है, उतना ही अधिक उसका मिथ्या ज्ञान दूर होता जाता है। हे संसार के रूप व्यापक भगवान तुम क्षितिज के समान सत्य होते हुए भी सभी को भरमाते रहते हो। अर्थात् जिस प्रकार क्षितिज का आयाम एक सत्य है, पर उसके समीप पहुंचना चाह कर भी कोई पहुंच नहीं सकता। उसी प्रकार सत्य रूप भगवान के पास चाह करके भी कोई पहुंच नहीं पाता।

भाव यह है कि सारा संसार भगवान रूप है। उसी की सत्ता और महिमा का विस्तार है। फिर भी वह क्या है। इसका पता पा सकना किसी के लिए भी कतई सम्भव नहीं है।

विशेष :—पद्य में उपमा, रूपक, अनुप्रास, विशेष आदि उनके अधिकारों की स्वाभाविक छटा के साथ-साथ उल्लेख और स्वभावोक्ति की छटा भी देखी जा सकती है।

अब न सतावौ।
करुनाधन इन नयनन सों, द्वै बुन्दिया तौ टपकावौ॥
सारे जग सों अधिक कियो का, हमने ऐसो पाप।
नित नव दई निर्दई बनि, जो देत हमैं सन्ताप॥
सांची तुमहिं सुनावत जो हम, चौंकत सकल समाज।
अपनी जाँघ उघारैं ऊधरति, बस, अपनी ही लाज॥

तुम आछे हम बुरे सही, बस, हमरो ही अपराध।
करनो हो सो अजहूं कीजै, लीजै पुन्य अगाध ॥
होरी-सी जातीय प्रेम यह फूंकि न धूरि उड़ावौ।
जुगकर जोरि यही 'सत' मांगत, अलगन और लगावौ ॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद ब्रजमाधुरी सार' में संकलित श्री सत्यनारायण की कविताओं में से लिया गया है। इसमें कवि ने अपने-अर्थात् भगत के माध्यम से भगवान के सामने देश की दुर्दशा का वर्णन करके उसका उद्धार करने की प्रार्थना की है। देश का उद्धार करने की प्रार्थना भगवान से करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या :—हे भगवान ! अब और अधिक मत सतावो। हे कृपालु कहलाने वाले भगवान। हमारी दुर्दशा को देखकर, चारों ओर लगी दुखों की आग को बुझाने के लिए अपनी आँखों से करुणा के दो आँसू तो टपका दो, ताकि यह भयानक आग बुझ सके। हे भगवान ! तुम ही बताओ कि हम भारत वासियों ने सारे संसार की तुलना में कौन-सा ऐसा भयानक पाप कर डाला है कि जो नित्य प्रति अत्यधिक निर्दय और दुर्भाग्य बन करके हमें इतने सन्ताप देते रहते हो। यदि हम तुम्हें अपनी सच्ची-सच्ची व्यथा सुनावें तो अपने को सभ्य मानने वाली जातियों के सभी लोग चकित होकर के रह जायंगे। अपनी जाँघ आप उघाड़ने से ही उघड़ती अर्थात् नंगी होती है—तात्पर्य यह है कि अपनी बात अपने मुंह से कहने में अत्यधिक लज्जा आती है। उससे रही-सही लाज जाने का भी खतरा है, अतः इतने से ही तुम्हें हमारी दीन-हीन स्थितियों का अनुमान लगा लेना चाहिए। हम यह मानते हैं कि तुम हमेशा अच्छे हो और हम लोग सदा से बुरे हैं, सभी बातों में हमारा ही अपराध है, फिर भी यदि आपने दया करके हमारे साथ कुछ कृपालुता का व्यवहार करना है तो अभी ही कीजिए, फिर बाद में करने से भी कुछ लाभ न होगा। अतः अभी ही हमारा उद्धार करके पुण्य के भागी बनिए। अपने जातीय प्रेम के भाव को होली के समान जला कर उसकी राख को अब और अधिक न उड़ने दो। अपने दोनों हाथ जोड़ कर कवि सत्यनारायण तुमसे इसी सत्य

की भीख माँगता है कि अब जले हुए को और न जलाओ। अर्थात् कृपा करके हमारी दशा को सुधारो हमारी रही-सही स्थितियों को और अधिक नष्ट होने से बचा लो।

भाव यह है कि समय की गति ने देशवासियों को अत्यधिक दीन-हीन बना दिया है। अब भगवान की कृपा से ही देश की दशा का उद्धार सम्भव हो सकता है।

विशेष :—सारा पद्य एक प्रकार से अन्योक्ति है। कवि ने 'न सतावो' बुंदिया टपकावो, चौंकत सकल समाज, अपनी जाँघ उघारै उघरति, आदि मुहावरों का प्रयोग बड़ी ही कुशलता और सूक्ष्मता से किया है। 'होरी-सी' पद में उपमा और 'सत' पद में श्लेष अलंकार हैं। 'जुगकर जोरि' और 'अलग न और लगावो' आदि पदों में अनुप्रास अलंकार है।

श्री राधा वर निजमन-मन-बाधा-सकल-नसावन।
जोकौ ब्रज मनभावन, जो ब्रज कौ मनभावन॥
रसिक-सिरौमनि मन-हरन, निरमल नेह-निकुंज।
मोदभरन उर-सुख-करन, अविचल आनन्द पुंज॥
रंगीली सांवरो॥

प्रसंग :—प्रस्तुत पद्य 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित कविवर सत्यनारायण के 'भ्रमरदूत' प्रसंग में से लिया गया है। कवि की यह रचना कृष्ण भक्ति और स्वदेश प्रेम के भावों से संयत है। इस प्रथम पद्य में कवि ने भगवान श्रीकृष्ण को सब सुखों की खान बता कर उनकी स्तुति की है। कृष्ण की स्तुति करते हुए कवि कहता है।

व्याख्या :—वह भगवान कृष्ण जो राधा रानी के वर हैं और अपने मन की समस्त बाधाओं को नष्ट करने की शक्ति रखते हैं, जिनके मन को ब्रजभूमि और वहाँ के निवासी बहुत अच्छे लगते हैं और जो ब्रजवासियों के मन को भावे और हृदयों में निवास करने वाले हैं, जो कृष्ण रसिकों में अपनी रूप-माधुरी और लीलाओं से सभी के मनों को हरने वाले हैं, प्रेम के पवित्र आगार हैं, व वास्तव में अपने भक्तों के मन को आनन्द से भर देते हैं। उन्हें सब प्रकार से सुख प्रदान करने वाले हैं। नित्य एक रस रह कर सारे संसार के लिए आनन्द का भण्डार है और वे रंगीली अर्थात् प्रेम-रंग में रंगी राधा के

साँवरे अर्थात् सब-कुछ हैं।

भाव यह है कि भगवान् कृष्ण का स्वरूप लीलाएँ और व्यक्तित्व अपने भक्तों के लिए अतुलित आनन्द और सुख का भण्डार है।

विशेष :—पद्य में भगवान् कृष्ण की महिमा का ही अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, अतः उल्लेख अलंकार है।

अलबेली कहुँ बेलि, द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये-धोये पातन की अनुपम कमनाई॥
चातक चलि कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि-कूकि केकी ललित, खंजन करत कलोल॥
निरखि घन की छटा॥

प्रसंग :—'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित, कविवर सत्यनारायण के 'भ्रमर-दूत' में से उद्धृत इस पद्य में कवि वर्षा ऋतु की प्राकृतिक शोभा का वर्णन करते हुए कहता है :—

व्याख्या :—चारों ओर बादलों की घटाएँ छा रही हैं। उनकी वर्षा के कारण सुन्दर हरियाली का राज्य चारों ओर छा रहा है। कहीं अलबेली लताएँ वृक्षों से लिपटी हुई शोभा पा रही हैं। कहीं वर्षा के कारण धुले हुए पत्तों की सुन्दरता अनोखे रूप में छा रही है। कहीं चातक, चिड़ियाँ और कोयल आदि गायक पक्षी अपने समधुर स्वरों में बोल और गा रहे हैं। कहीं बादलों की छाई घटा को देखकर मोर कूक कर नाच रहे हैं और कहीं पर खंजन नामक पक्षी अनेक प्रकार की क्रीड़ा कर रहे हैं। इस प्रकार वर्षा ऋतु के सुहावने वातावरण ने चारों ओर एक आनन्द भाव की सृष्टि कर दी है।

विशेष :—पद्य में स्वभावोक्ति, उल्लेख, अनुप्रास और वीप्सा आदि कई अलंकारों की शोभा देखी जा सकती है।

पढ़ी न अच्छर एक, ग्यान सपनें ना पायौ।
दूध-दही चाटन में, सबरो जनम गमायौ॥
मात-पिता बैरी भये, सिच्छा दर्द न मोहि।
सबरे दिन यों ही गये, कहा कहेतें होहि॥
मनहिं मन में रही॥

प्रसंग:—यह पद्य 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित कविवर सत्यनारायण के 'भ्रमरदूत' प्रसंग में से लिया गया है। यह प्रसंग पुराना होते हुए भी कवि ने इसमें परम्परा का पालन बिल्कुल नहीं किया है। बल्कि इसमें यशोदा को भारत माँ या भारत की एक आदर्श नारी के रूप में चित्रित कर आधुनिक काल की अनेक समस्याओं के सन्दर्भ में उसकी मनोव्यथा को ही प्रगट किया है। इस पद्य में उस युग में नारी-शिक्षा के अभाव की ओर संकेत करते हुए यशोदा माता अपने मनकी निराशा प्रगट करते हुए कह रही है :—

व्याख्या :—मैंने अपने जीवन में एक अक्षर भी शिक्षा के नाम पर नहीं पढ़ा और ज्ञान कभी सपने में भी नहीं पाया। नहीं तो आज मुझे दुःख में यों रोना-धोना क्यों पड़ता। मैंने तो अपना सारा जीवन ग्राम और सामान्य नारी (ग्वालिन) के समान दूध-दही चाटने अर्थात् खाने-पीने के चसकोरे लेने में ही बिता दिया है। सचमुच, जिन माता-पिता ने मुझे शिक्षा दिलाने की व्यवस्था नहीं की, वे मेरे वैरी बनकर ही सामने आए अर्थात् जो माता-पिता स्त्री शिक्षा के विरोधी हैं, वे वास्तव में अपनी ही बेटियों के भविष्य को बिगाड़ने वाले हैं। इस प्रकार मेरे जीवन के सारे दिन यों ही बीत गए हैं, पर अब कहने या पछ-ताने से भी क्या हो सकता है ! बस, शिक्षा के अभाव में मेरे मन की सारी बातें मन में ही घुटकर समाप्त हो गईं।

भाव यह है कि शिक्षा से सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति अपने दुःख का उपाय कर सकता है। इसके अभाव में तो सिवाय रोने-धोने के व्यक्ति के हाथ कुछ भी नहीं लगता।

नारी-सिच्छा निरादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेश अवनति-प्रचण्ड-पातक अधिकारी ॥
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेऊ समुझि सब कोइ।
विद्या-बल लहि मति परम, अबला सबला होइ ॥
लखौ अजमाइकै ॥

प्रसंग:—उपरोक्त प्रसंग में ही यशोदा नारी-शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डाल उसे अनिवार्य बताते हुए कह रही है।

व्याख्या :—जो लोग स्त्री-शिक्षा का विरोध कर उस का निरादर करते हैं,

वास्तव में वे बड़े अनाड़ी लोग हैं। अपने देश की इस भयानक अवनति के उत्तरदायी वास्तव में नारी-शिक्षा का विरोध करने वाले लोग ही हैं। अतः मेरी दशा को देख करके सभी लोग यह अच्छी प्रकार से समझ लें कि विद्या का बल प्राप्त करके ही अबला नारी सभी प्रकार से सबल और समर्थ हो सकती है। मेरी इस बात को आजमाकर अर्थात् परीक्षा करके देखा जा सकता है।

भाव यह है कि नारी के सभी दुःखों का अन्त उसके शिक्षित होने से ही सम्भव हो सकता है!

जननी जन्म-भूमि सुनियत स्वर्गहुं तें प्यारी।
सो तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी॥
का तुम्हरी गति-मति भई, जो ऐसो बरताव।
किन्धौं नीति बदली नई, ताकौ पर्‌यौ प्रभाव॥
कुटिल विष को भरयौ॥

प्रसंग:—यह पद्य 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित कविवर सत्य नारायण के 'भ्रमर दूत' प्रसंग में से लिया गया है। यशोदा अपने घर में उदास और निराश बैठी थी कि गुनगुनाता हुआ एक भंवरा वहाँ आ गया। वह उसे कृष्ण के पास जाकर अपनी तथा अपने देश की व्यथा का सन्देश सुना आने की बात कहने लगी। भ्रमर गीत की सामान्य परम्परा से हटकर स्वदेश की दशा का भंवरे के सामने वर्णन करते हुए यशोदा बोली—

व्याख्या:—मैंने सुना था कि व्यक्ति के लिए अपनी जन्म देने वाली माँ और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर प्रिय होती हैं। किन्तु हे साँवरे कृष्ण। तुमने आज उन दोनों को त्याग दिया है और उनके मोह-ममता का भी अपने मन से सर्वथा त्याग कर दिया है। आखिर तुम्हारी बुद्धि और व्यवहार को आखिर क्या हो गया है। कि जो तुम अपनी माँ और मातृ भूमि के साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हो? अथवा हो सकता है कि आज जो जीवन के सम्बन्ध में कुटिल और विष भरी नई नीतियाँ आ गई हैं, उनका प्रभाव तुम्हारे मन पर भी पड़ गया है, तभी तुम माँ और मातृ भूमि के प्रति इतने निर्मोही हो गए हो।

भाव यह है कि व्यक्ति चाहे कहीं भी क्यों न चला जाय, माँ और मातृ भूमि के प्रति प्रेम का भाव उसके तन-मन में हमेशा बना रहना चाहिए।

विशेष—पहली दो पंक्तियों में अनुप्रास अलंकार है! अन्तिम पंक्ति में

सन्देह अलंकार है !

वा बिन्नु गो-ग्वालन् को हित की बात सुझावै ।
अरु स्वतंत्रता, समता, सहभ्रातृता सिखावै ।।
जदपि सकल विधि यै सहत, दारुन अत्याचार ।
पै नहिं कछु मुख सौं कहत, कोरे बने गंवार ।।
कोउ अगुवा नहीं ।।

प्रसंग:—यह पद्य 'ब्रजमाधुरी सार' में संकलित श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' की कविता 'भ्रमर दूत' में से उद्धृत किया गया है । इसमें भ्रमर-दूत के माध्यम से ग्वालों की दशा के वर्णन के वहाने देश-देशा का सजीव चित्रण करते हुये यशोदा कहती है :—

व्याख्या:—कृष्ण चले गये हैं। उनके विना गौग्रों और ग्वाल-वालों को अपनी भलाई की वात कौन वताने वाला है ! उस कृष्ण के विना स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा आदि के सद्गुणों का सिखाने वाला भी अव यहाँ कौन रह गया है ! आज यहाँ के निवासी यद्यपि सव प्रकार के भयानक अत्याचार सहन कर रहे हैं, लेकिन यहाँ के लोग एकदम इतने गंवार वन गए हैं कि वे अपनी दुर्दशा के विरुद्ध एक शब्द भी कह नहीं पाते । उनका आज कोई भी नेता नहीं रह गया ।

भाव यह है कि वास्तविक नेतृत्व के अभाव के कारण ही आज भारत की दीन-हीन और गंवार प्रजा सव प्रकार के दु:ख भोग रही है । वह अपनी वात तक किसी को वता पाने में असमर्थ है !

भये संकुचित हृदय भीरु अब ऐसे भय में ।
काऊ कौ विश्वास न निज जातीय उदय में ।।
लखियत कोऊ रीति न, नहिं पूरब अनुराग ।
अपनी-अपनी ढापुली, अपनो-अपनो राग ।।
अलापै जोर सों

प्रसंग:—पूर्ववत ।

व्याख्या: यहाँ के लोग आज इस सीमा तक भयभीत और आतंकित हो उठे हैं कि उनके हृदय संकुचित होकर कायर वन गए हैं । अपने जातीय विकास के प्रति आज किसी के भी मन में कोई भी विश्वास नहीं रह गया, कोई चेष्टा नहीं

रह गयी। आज अपने देश में अपनी कोई रीति-नीति भी नहीं रह गई और पहले जैसा अनुराग का भाव भी नहीं रह गया। सभी अपनी-अपनी डफली पर अपने-अपने राग ही गा रहे हैं—अर्थात् कहीं एकता नहीं और सभी अपनी बातें कहते और अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भाव यह है कि आज देश में किसी भी प्रकार की सद्भावना, एकता और राष्ट्रीयता का भाव नहीं रह गया। स्वार्थ-साधना ही सर्वोच्च है। यही हमारी दुर्दशा का मुख्य कारण भी है।

नित नव परत अकाल, काल कौ चलत चक्र चहुं।
जीवन कौ आनन्द न देख्यौ जात यहाँ कहुं॥
बाढ़यौ यथच्छाचास्कृत जहं देखौ तह राज।
होत जात दुर्बल विकृत, दिन-दिन आर्य समाज॥
दिनन के फेर सों॥

प्रसंगः—पूर्ववत।

व्याख्या.—दिनों का फेर ही कुछ इस प्रकार चल रहा है कि आज काल के भयानक चक्र के कारण यहाँ नित्य प्रति अकाल पड़ते रहते हैं। जीवन का वास्तविक आनन्द यहाँ कहीं भी दिखाई नहीं देता। यहाँ राज में स्वेच्छाचार बढ़ गया है—अर्थात् जिस के मन में जो भी आता है, वह वही करता है। परिणाम स्वरूप इस देश के आर्यों का समाज प्रतिदिन दुर्बल और बुराइयों का घर बनता जा रहा है।

भाव यह है कि नेतृत्व और दिशा दर्शन के अभाव में, उस पर विदेशियं का शासन होने के कारण चारों ओर अकाल का वातावरण है। परिणाम स्वरूप समृद्धियों का घर कहलाने वाला देश आज निर्धनता और लाचारी का आगार मात्र ही बन कर रह गया है।

जे तजि मातृ भूमि सो ममता, होत प्रवासी।
तिन्हें विदेशी तंग करत दै विपदा खासी॥
नाहिं आये निरदय दई, आये गौरव जाय।
साँप-छछून्दर-गति भई, मन-ही-मन अनुकूल॥
रहे सबके सबै॥

प्रसंगः—देश की दुर्दशा और उसके कारणों पर भ्रमर-दूत के सामने कृष्ण

के नाम सन्देश देते हुए प्रकाश डालते हुए माता यशोदा कह रही है :

व्याख्या:—जो लोग अपनी मातृ भूमि के स्नेह और ममता को त्याग कर कहीं विदेशों में जाकर रहने लगते हैं, उन्हें भी ये विदेशी लोग अनेक प्रकार के कष्ट देकर रात-दिन तंग करते रहते हैं। ऐसी दुर्दशा हो जाने पर भी वे निर्मोही देवर कृष्ण नहीं आए। उनके न आने के कारण आज रहा-सहा गौरव भी नष्ट हुआ जा रहा है। आज सब की दशा सांप और छछून्दर जैसी होकर के रह गई है। अर्थात् सभी के मन अनेक प्रकार की दुविधाओं के शिकार होकर रह गए हैं। मन ही मन व्याकुल हैं और किसी से कुछ किए नहीं बनता।

भाव यह है कि भारतवासियों को कुछ भी करने का सूझ नहीं रहा। उन्हें भगवान ही रास्ता दिखा सकता है।

विशेष:—पहली दो पँक्तियों में दक्षिणी अमेरिका आदि देशों में निवास करने वाले प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा की ओर कवि ने संकेत किया है।

> **टिमटिमाति जातीय जोति जो दीप सिखा-सी।**
> **लगत बाहरी ब्यारि बुझत चाहत अबला-सी॥**
> **सेष न रह्यो सनेह कौ, काहू हिम में लेस।**
> **कासौं कहिए गेह कौ, देसहि में परदेस॥**
> **भयौ अब जानिए॥**

प्रसंग:—सत्यनारायण कविरत्न के 'भ्रमरदूत' से लिए गए इस अन्तिम पद्यमें यशोदा देश के शीघ्र होने वाले सर्वनाश की कल्पना करते हुए कह रही है :

व्याख्या:—आज जातीयता के गौरव की गति बुझने से पहले टिमटिमाने वाले दीपक की ज्योति के समान बन करके रह गई है। बाहिर से बहने वाली यह विषमताओं की वायु उसे एक दुर्बल नारी के जीवन के समान ही बुझा कर समाप्त कर देना चाहती है। इस जीवन रूपी दीपक की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखने के लिए स्नेह रूपी तेल का जर्रा भी आज किसी के मनमें नहीं रह गया अर्थात सब प्रकार के साधनों का नितान्त अभाव हो गया है। अपने घर की बात अब कही भी किस से जाय। क्योंकि अब तो अपने ही घर में हमारी दशा परदेशियों जैसी होती जाती है।

भाव यह है कि विदेशी राज्य ने हमारे समस्त अधिकार छीन कर हमें दीन-हीन बनाकर रख दिया है।

विशेष:—'दीप सीखा-सी और 'अबला-सी' आदि पदों में उपमा अलंकार है। विदेशी राज्य में हमारी जो अपने ही देश में परायों जैसी दशा हो गई थी, उसका वर्णन सजीव हुआ है। पराधीनता की कसक कवि की आत्मा को कौंचती हुई दिखाई देती है।

करम-धरम नित-नेम को सब बिधि देख्यो तार।
पै असार-संसार में, एक प्रेम ही सार।।
चित चिन्ता तजि, डारिकैं भार, जगत के नेम।
रे मन, स्याम-स्याम की, सरन गहौ करि प्रेम।।

प्रसंग:—ये पद्य 'ब्रजमाधुरीसार' में संकलित कविवर सत्यनारायण 'कविरत्न' के दोहों में से लिए गए हैं। उनमें कवि प्रेम का महत्व बता कर भगवान कृष्ण से प्रेम करने की प्रेरणा देते हुए कह रहा है:

व्याख्या:—संसार के जितने भी धर्म-कर्म नित्य-नियम आदि हैं, मैंने उन सब की सब प्रकार में परीक्षा करके वास्तविक भेद पा लिया है। वह वास्तविक भेद केवल इतना ही है कि इस नाशवान संसार में केवल प्रेम ही एक सार-तत्त्व है।

हे मेरे मन। संसार के वास्तविक सार को जान लेने के बाद अब सब प्रकार की चिन्ताओं को त्याग दे। सभी प्रकार के कायिक और मानसिक बोझों से अपनी चेतना को मुक्त कर ले। अब तो बस उस सांवर रूप वाले श्याम सुन्दर की शरण में जा और उसी के प्रेम को अपने जीवन का आधार बना ले।

भाव यह है कि प्रेम तत्त्व ही जीवन का सार है। अत: व्यक्ति को सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर के भगवान के प्रेम में ही चित्त लगा देना चाहिए।

विशेष:—'स्याम-स्याम' पद में यमक अलंकार है। पूरे पद्य में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है।

नवीन तुलसी-संग्रह

आलोचना-भाग

प्रश्न १—'तुलसी की भावुकता'—इस विषय पर एक संक्षिप्त विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए। (मध्यमा परीक्षा सं० २०१५)

उत्तर—कविकुल-शिरोमणि तुलसीदास जी की भावुकता का परिचय उनकी अमर कृतियों से हमें मिलता है। जो कवि जितना ही भावुक होगा, उसकी कृति उतनी ही हृदयस्पर्शी और सजीव होगी। कविता भावना-प्रधान होती है और भावना का सम्बन्ध हृदय से होता है। भावों के अभाव में शब्द-चयन कितना ही रुचिर क्यों न हो, वह सहृदय पाठकों को नीरस प्रतीत होगा। इसीलिए तो हमारे साहित्याचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। आदि-कवि वाल्मीकि की भावुकता की धारा क्रौंच-वध को देखकर बह उठी। करुणा से उनका हृदय द्रवित हो उठा। उनका दुखी मन कह उठा—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

विश्वविख्यात कवि होमर, डाँटे, रूसो, शेक्सपीयर, मिल्टन तथा वर्ड्सवर्थ सभी भावुक थे, इसलिए उनकी कृतियों में मन रमता है। उनकी व्यजित अनुभूतियों को अपना मन आत्मसात् करता है। तुलसीदास जी का कोई भी पद ऐसा नहीं है जो पाठक को मुग्ध करने में सक्षम न हो।

किसी व्यक्ति को भावुक बनाने में उसकी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। तुलसीदास जी का जिस परिस्थिति में लालन-पालन हुआ था उसके प्रभावों से वे कैसे वंचित रह सकते थे ? जन्म लेते ही कीट के समान इनको त्याग

दिया गया। द्वार-द्वार मंगतों की भाँति घूमना पड़ा यहाँ तक कि इस अनाथ बालक को मस्जिद में सोने की नौबत भी आई। चार दाने चने के लिए बिलबिलाते फिरे। कुछ बड़े होने के उपरान्त नरहरिदास के शिष्य हुए जिन्होंने इनको स्मार्त वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित करके राम के प्रति अनन्य श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न कर दी।

विद्याध्ययन करने के उपरान्त गृहस्थ धर्म में आए। पत्नी में इतनी आसक्ति थी कि उसको एक क्षण के लिए भी दूर करने को तैयार न थे। एक दिन इनकी पत्नी रत्नावली अपने भाई के साथ मायके चली गई। तुलसीदास जी भी पीछे-पीछे उसके पास जा पहुँचे। रत्नावली को उनकी इस आसक्ति पर क्षोभ हुआ। वह बोली—

लाज न आवत आपको, दौरे आए साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ।।
अस्थि चर्म मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
वैसी जो श्रीराम महं होति न तब भव भीति।।

तुलसीदास जी की आँखें खुल गईं। पुरन्त विरक्त हो राम के भक्त बन गए। जो प्रेम धारा रत्नावली के लिए इनके मन में बह रही थी, उसका मोड़ राम की ओर हो जाने से वह और भी अधिक बल, तल्लीनता और अनवरुद्ध प्रवाह से अग्रसर हुई।

जीवन के नाना प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव तुलसीदास जी को हो ही चुका था। इसलिए जीवन में आने वाले सभी मार्मिक स्थलों की जिस भावुकता पूर्ण शैली में तुलसीदास जी ने व्यंजना की है, वह सजीव और सत्य होते हुए पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती है।

रामचन्द्र जी विवाहोपरान्त सीता सहित अयोध्या आ गए। राजा दशरथ ने उनका राजतिलक करने का निश्चय किया। कैकेयी के रोष ने राम को १४ वर्ष का वनवास भोगने के लिए बाध्य किया। राजा दशरथ पुत्र शोक में दिवंगत हो गए। छोटे भाई भरत ने पिता की अंत्येष्टि क्रिया करके राम को वन से वापस बुलाने के लिए चित्रकूट की ओर प्रस्थान किया। राम-मिलन की आस में हर व्यक्ति विह्वल हो रहा है, उन में अपूर्व उत्साह है।

तुलसीदास जी ने उनकी मनोदशा की कितने सुन्दर शब्दों में व्यंजना की है—

मंगल सगुन होंहि सब काहू। फरकहिं सुखद विलोचन बाहू।
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटहि दुखदाहू।।
करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिं सनेह सुरा सब छाके।
सिथिल अंग पग मन डगि डोलहि। विह्वल वचन प्रेम बस बोलहिं।।

ससैन्य भरत जब चित्रकूट के निकट पहुँच गये तो उनके इस सैन्यदल को देख लक्ष्मण को भय की आशंका हुई। क्या भरत अकण्टक राज तो नहीं करना चाहते हैं ? यदि भरत के मन में ऐसी दुर्भावना न होती तो इतनी वड़ी सेना लेकर क्यों आते ? अवश्यमेव उनके हृदय में कुटिलता है। लक्ष्मण का वीरत्व जाग उठा। भरत का सामना करने के लिए लक्ष्मण ने राम से आज्ञा मांगी। एक सच्चे क्षत्रिय का क्रोध साधारण नहीं होता है। लक्ष्मण जी धनुषवाण ले सज्जित हो जाते हैं। राम-निरादर का फल भुगताने के लिए तैयार हो जाते हैं—

आइ बना भल सकल समाजू। प्रकट करौं रिस पाछिल आजू।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेट लवा जिमि बाजू।
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातौ खेता।।
जो सहाइ करि संकर आई। तो मारौं रन राम दुहाई।।

पति का निधन ही नारी को जल-विहीन मीन बना देता है। पुत्र जो बुढ़ापे की लकड़ी है, वन में मारा-मारा फिरे, ऐसी अवस्था में कौन ऐसी हतभागिनी जननी है जो अपने को दुखी न मानेगी और अपने भाग को कोसेगी नहीं ? कौशल्या जी को पति का शोक, पुत्र और वधू का सोच है।

मनुष्य की बात छोड़ दीजिए पशु-पक्षी भी राम विरह का अनुभव कर रहे हैं। कौशल्या जी सोचती हैं कि यदि मेरे हेतु राम नहीं लौटना चाहते हैं तो न सही, परन्तु अपने अश्व का तो ध्यान रखें। उसके ही लिए आ जावें। अश्व दल ने राम के वियोग में पानी तक पीना छोड़ दिया है। भरत उनका विशेष ध्यान रखते हैं फिर भी वे अश्व पानी नहीं पीते हैं। उसे मार्मिक प्रसंगों का वर्णन तुलसीदास जैसे भावुक कवि ही कर सकते हैं।

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।
ये दर बाजी विलोक आपने बहुरि बनहि सिधावौ ।।
जे पथ प्याई पेखि कर पंकज बार-बार पुचकारे ।
क्यों जीवहि मेरे राम लाडिले ! ते अब निपट बिसारे ।।
भरत सौ गुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे ।
तदपि दिनहि दिन होत झांवरे मनहुं कमल हिम मारे ।।
सुनहु पथिक ! जो राम मिलहि बन, कहियो मातु सदेसो ।
'तुलसी' मोहि और सबहिन तें इन्ह को बड़ो अन्देसो ।।

वात्सल्य, करुणा शृंगारादि का वर्णन जिस भावुकता से कवि ने दिया है उसी भावुकता की झलक अन्य प्रसंगों और विषयों में देखने को मिलती है वीभत्स और रौद्र रसों का परिपाक कवितावली में देखने को मिलता है। यातुधानों ने पवन-तनय हनुमान जी की लांगूल में तेल लगाकर आग लगा दी। हनुमान जी उससे छूटकर रावण की अट्टालिकाओं पर चढ़ गए और इधर-उधर कूद-कूद कर, छलांग लगाकर लंकानगरी पर आग की धारा बरसाने लगे। परिणामस्वरूप लका में तबाही मच गई। चारों ओर हाहाकार चीत्कार का शब्द सुनाई पड़ने लगा। बच्चे, युवा और वृद्ध सभी भयातुर हैं। स्त्रियों की दशा का वर्णन ही क्या ! वे तो छाती पीट-पीरकर दाढ़ी-जार रावण को पानी पी-पीकर कोस रही हैं।

जीवन संग्राम-क्षेत्र है। सुख-दुख, करुणा, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, निराशा के भाव मानस-पट पर नित्य-प्रति अभिनय करते हैं। कोई भी व्यक्ति इनसे मुक्त नहीं है। हां, वही मुक्त है जिसको मन कर्म और वचन से राम पर भरोसा हो जाता है। मद, मत्सर, काम, क्रोध, लोभ को वह अपने बस में कर लेता है और चातक के समान उसकी दृढ़ आस्था राम के चरणों में हो जाती है। उस समय भक्त शान्ति का अनुभव करता है। मन में अनुरक्ति, आसक्ति, लिप्सा, कामना के भाव नहीं रह जाते हैं। ऐसी अवस्था तथा भाव-दशा का चित्रण तुलसीदास जी ने 'विनय-पत्रिका' में किया है।

दीनबन्धु सुख-सिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई ।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिविध ज्वर, करत फिरत बौराई ।।

कबहुं जोगरत, भोग [illegible]रत, सठ, हठ वियोग बस होई।
कबहुं मोह बस द्रोह करत बहु कबहुं दया अति होई॥

+ + +

संजम, जप, तप, नेम, धरम, व्रत भेषज समुदाई।
तुलसीदास भव रोग राम पद प्रेम हीन नहिं जाई॥

तुलसीदास जी की भावुकता की छाप उनके काव्य के कोने-कोने पर अंकित है। हृदयजन्य भावनाओं का कोई ऐसा कोना नहीं, जिनको उनकी लेखनी ने न छुआ हो, और उनकी अभिव्यक्ति भावपूर्ण शब्दों में व्यंजित न की हो।

प्रश्न २—गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-परिचय स्पष्ट करते हुए उनका कृतियों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—भारत में प्राचीन महापुरुषों ने कभी भी व्यक्ति-रूप से अपना महत्त्व न जाना अतः अपना, उल्लेख भी न किया। इस कारण इतिहास-निर्माण के समय उनके काल-निर्धारण और जीवन-वृत्त के संग्रह में बड़ी कठिनाई होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी इसके अपवाद नहीं हैं।

तुलसीदास जी का जन्म संवत १५५४ और १५८९ कहे जाते हैं। संभवतः दूसरा संवत् ही ठीक है। उनका जन्म-स्थान भी विवाद का विषय है। हस्तिनापुर, राजापुर, तारी और सोरों ये चार स्थान उनकी जन्मभूमि बता जाते हैं। इनमें राजापुर के सम्बन्ध में ही अधिक सम्मतियां हैं। उनका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था, यह उनके कथन से निश्चित होता है—

भारत भूमि भले कुल जन्म, मनुष्य देह लहि के।

पर यह कुल आर्थिक दृष्टि से दरिद्र था। उन्हें पेट की पूर्ति के लिए इधर उधर भटकना पड़ता था। यह भी वचनों से सिद्ध होता है कुछ समय पश्चात् वे रामोपासक साधुओं की शरण में आ गए। उनके साथ देशाटन भी किया। उन्हीं की संगति से वे हनुमान के उपासक भी बने।

तुलसीदास का गुरु नरहरिदास को बताया जाता है। इसके लिए मानस से यह संकेत लेते हैं :—

वन्दौं गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।

पर इसका अर्थ अन्य प्रकार से ठीक बैठा है। इसलिए यह निश्चित प्रमाण नहीं है।

तुलसीदास ने शूकर क्षेत्र में अपने गुरु से राम-कथा सुनी। वह तब तक संस्कृत में थी, अतः आरम्भ में तुलसीदास की समझ न आई। उन्होंने बार-बार सुनाई, इससे उनके गुरु का संस्कृतज्ञ होना निश्चित होता है। सम्भव है, उन्होंने शिक्षा का आरम्भ उन्हीं से किया हो।

काशी में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। युवा होनें पर उन्होंने विवाह किया; पर वे अधिक समय गृहस्थ में बँधे न रहे और शीघ्र ही गृह-त्याग किया। भ्रमण के पश्चात् संवत् १६३१ के लगभग वे अयोध्या गए और वहीं 'रामचरित मानस' को लिखना आरम्भ किया। कुछ अंश (संभवतः अरण्यकाण्ड तक) वहीं रचने के बाद वे काशी चले गए। वहीं अपने इस प्रधान काव्य की पूर्ति की। काशी में प्रह्लादघाट एवं असीघाट पर रहे। प्रह्लादघाट पर रहते समय गंगाराम ज्योतिषी से उनकी मित्रता हो गई और कहते हैं, उनके लिए 'रामाज्ञा प्रश्न' नामक पुस्तक लिखी। असीघाट में रहते टोडरमल नामक एक जमींदार से उनकी अच्छी मैत्री थी। उसकी मृत्यु के बाद गोस्वामी जी ने उसके पुत्रों के बंटवारे में पंचायतनामा भी लिखा था।

काशी में तुलसीदास जी का आदर उत्तरोत्तर बढ़ा। लोग उन्हें महामुनि समझते और राजा लोग भी आदर करते थे। इससे उनके प्रति विरोधियों की ईर्ष्या भी बढ़ी। शत्रुओं ने उन्हें हानि पहुँचाने के प्रयास भी किए। इसके लिए उन्होंने शिव, राम और हनुमान की विनय की। बाद में यह विरोध शान्त हो गया। इस कष्ट का प्रमाण 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' में मिलता है।

अकबर की मृत्यु के बाद काशी में अनेक उत्पात हुए, जिन्हें दूर करने को गोस्वामी जी ने शिव से प्रार्थना की। बाद में महामारी फैली और उससे होने वाली मृत्युओं को वे न देख सके। इसे दूर करने को उन्होंने पार्वती की स्तुति की।

अब उनके वृद्ध शरीर पर रोगों का आक्रमण आरम्भ हुआ। बाँह, पेट आदि में शूल उठने लगे। इन्हें दूर करने के लिए उन्होंने हनुमान, शिव और राम से प्रार्थना की। संभवतः इसी रोग के कारण संवत् १६८० में उनका स्वर्गवास हो गया।

कृतियां—गोस्वामी जी की रचनाएँ 'रामचरितमानस', 'कवितावली', 'गीतावली', 'विनय पत्रिका', 'दोहावली', 'जानकी-मंगल', 'पार्वतीमंगल' 'रामलला-नहछू', 'बरवै रामायण', 'हनुमान-बाहुक', 'कृष्ण-गीतावली', 'रामाज्ञा प्रश्न' हैं। इनमें आरम्भ के पांच ग्रन्थ गोस्वामी जी की कीर्ति के स्तम्भ हैं।

स्मृति संकेत

११—सम्वत् १५५४, १५५९ दो जन्म संवत् द्वितीय सम्मान्य, राजापुर जन्म भूमि। २ ब्राह्मण कुल में जन्म, दरिद्रता, बाल्यकाल में अनाथ, साधु संगति, रामकथा श्रवण। ३—युवावस्था, काशी में अध्ययन, विवाह और गृह त्याग, अयोध्या में रामचरित मानस आरम्भ। बाद में काशी गमन, मानस की पूर्ति। ४—प्रह्लाद घाट व असीघाट पर निवास, टोडर से मित्रता, मानवृद्धि, विरोध एवं शान्ति। ५—उत्पातों का आरम्भ, महामारी का को शरीर में शूल, १६८० में अन्त। ६—तेरह रचनाएँ। मानस, कवितावल गीतावली, विनय पत्रिका, दोहावली उत्कृष्ट।

प्रश्न ३—"तुलसीदास की विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय संस्कृ के तत्वों को पूर्ण रूप से आत्मसात करके अपनी रामकथा को और भी उज्ज्वल बनाया है।"

इस कथन की समीक्षा अयोध्या काण्ड के आधार पर कीजिए।

अथवा

हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्तों और उनकी संस्कृति का सर्वोच्च सुन्दर चित्र जैसा कि रामायण में मिलता है वैसा शायद अन्य किसी ग्रन्थ में न होगा।

अयोध्या काण्ड के आधार पर उक्त कथन की सम्यक् विवेचना कीजिए।

(मध्यमा परीक्षा २०११)

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना राम कथा द्वारा आर्य जनता को भारतीय संस्कृति के भूले हुए आदर्शों का ज्ञान कराने के लिए ही की थी, ऐसा तुलसी-साहित्य के अधिकांश विद्वानों का मत है। भारत के वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जैसे महान् संस्कृत कवियों के पश्चात् पहली बार आर्य जनता को तुलसीदास जैसा आर्य संस्कृति का प्रचारक मिला। तुलसीदास के सम्पूर्ण साहित्य का अवगाहन करने से पता चलता है कि जहाँ अन्य रचनाएँ विविध भावों की अभिव्यक्ति के लिए कीं, वहाँ 'रामचरितमानस' की रचना वस्तुतः भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल चित्र उपस्थित करने के लिए ही की। पिता, माता, भाई, पत्नी, पुत्र, राजा सेवक और सखा आदि सभी के आदर्शों का समुच्चय यदि कहीं एक साथ देखने को मिल सकता है तो केवल मानस में। इसमें अकेले राम के ही चरित्र में अनेक आदर्शों का समन्वय है। फिर कौशल्या के रूप में आदर्श माता, सीता के रूप में आदर्श पत्नी, लक्ष्मण और भरत के रूप में आदर्श भाई, वशिष्ठ के रूप में आदर्श गुरु, सुग्रीव के रूप में आदर्श सखा, दशरथ के रूप में आदर्श राजा भी इसमें मिलते हैं। यद्यपि वे आदर्श सम्पूर्ण काव्य में ही व्याप्त हैं किन्तु इन सब की सुखद झांकी यदि किसी एक स्थल पर मिल सकती हैं तो वह स्थल मानस का अयोध्या काण्ड है। इसमें मानव चरित्र की गहनता, पारिवारिक कूट चक्र, धर्म संकट, राजनीति, समाज व्यवस्था आदि सभी का सर्वांगीण विवेचन पाया जाता है। तभी किसी ने कहा है कि बाल काण्ड के आदि की, अयोध्या काण्ड के मध्य की और उत्तर काण्ड के अन्त की थाह बहुत प्रयत्न से ही मिलती है।

भारतीय संस्कृति में आदिकाल से सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, अनासक्ति, इन्द्रिय-निग्रह, शुचिता, निष्कपटता, त्याग, उदारता आदि आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता रही है। इन सभी की स्थिति हम अयोध्या काण्ड में पात्रों के चरित्र में व्याप्त पाते हैं। दशरथ का कैकेयी के वचन-पाश में बँधकर प्राणसम प्रिय राम को वन जाते देखकर भी प्राण न तोड़ना और अन्त में पुत्र के स्मरण में शरीर-त्याग उनकी सत्यनिष्ठा का सूचक है। राम का समान हर्ष से राजतिलक और वनवास की परस्पर विरोधिनी आज्ञाओं को ग्रहण करना,

प्रसन्नता से भरत के लिए राज्य-त्याग, भरत का राज्य को तृणवत् समझकर पातक के समान दूर से ही राज-पद का त्याग, लक्ष्मण एवं सीता की राज्य-सुखों में अनासक्ति, कैकेयी के प्रति राम की उदारता आदि इसके जीवित प्रमाण हैं।

राम-कथा के आदि स्रोत वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण में भी राम और भरत का चरित्र सुन्दर है। किन्तु उन्होंने राम, भरत, दशरथ, सीता, लक्ष्मण आदि के मुँह से ऐसे वचन कहलाये हैं जो भारतीय संस्कृति के आदर्शों के विपरीत हैं। इस सम्बन्ध में दो-चार स्थलों की मानस से तुलना करके यह बात स्पष्ट हो जायगी।

१—अध्यात्म रामायण के दशरथ राम से कहते हैं—हे राम! तुम मुझ स्त्री-परवश, भ्रान्तचित्त, कुमार्गगामी, पापात्मा को बाँधकर राज्य ले लो। इससे तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा और ऐसा होने से मुझे भी असत्य स्पर्श न करेगा

यह कथन 'पितृ देवो भव' कहने वाली भारतीय संस्कृति के कितना विरुद्ध है! इसी प्रसंग में मानस के दशरथ का अन्तर्द्वन्द्व भी देखिए जो कि वचन से तो हट नहीं सकते पर राम का बिछोह भी उन्हें सह्य नहीं—

रामहिं चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि प्रवाहू॥
सोक-बिबस कछु परइ न पारा। हृदय लगावत बारहिं बारा।
बिधिहिं मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं॥
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदा सिव मोरी।
तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहिं देहु।
बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु॥

२—अध्यात्म रामायण में लक्ष्मण राम से कहते हैं कि मैं उन्मत्त, भ्रान्त चित्त और कैकेयी के वशवर्ती राजा दशरथ को बाँधकर भरत को उनके सहायक मामा आदि सहित मार डालूँगा। आगे राम से कहते हैं कि अब मैं सेवा करने के लिए आपके पीछे-पीछे चलूँगा, आप आज्ञा दीजिये। हे प्रभो! आप मुझ पर कृपा कीजिए नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूँगा।

इसके विपरीत मानस के लक्ष्मण क्यन करते हैं—

समाचार जब लक्ष्मण पाए। ब्याकुल विलख बदन उटि धाए ॥
कम्प पुलक तन, नयन सनीरा। गहे चरण अति प्रेम अधीरा ॥
उतरु न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ ! दास मैं स्वामी तुम्ह, तजहु त कहा बसाइ ॥
गुरु पितु मात न जानेउ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥

(मध्यमा २०१६)

वाल्मीकि रामायण में भी राम के लिए वन की आज्ञा सुनकर लक्ष्मण का महाक्रोध दिखाया गया है। किन्तु मानस में उसका नाम भी नहीं है। हाँ सुमन्त जब राम से विदा होकर अयोध्या लौटने लगे, उस समय लक्ष्मण ने सन्देह में पिता के लिए कटु वचन कहे। पर राम ने उन्हें तुरन्त रोक दिया और सुमन्त को अपनी सौगन्ध देकर कहा कि पिता से इसका जिक्र न करना, पर गोस्वामी जी की विशेषता देखिए कि उन वचनों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया।

इसके अतिरिक्त नीचे लिखे तत्व भी भारतीय सस्कृति के पोषक हैं—

१—राम-लक्ष्मण की दिनचर्या। इसमें राम आदि के ब्रह्म मुहूर्त में जागरण से लेकर रात्रि के शयन तक का विस्तृत वर्णन भारतीय सस्कृति के अनुसार है।

२—अतिथि सेवा गुरु सेवा, ऋतुकाल में शुद्धि के पश्चात् पत्नी से सहवास, पति की मृत्यु पर पत्नियों का शृंगार-त्याग, पिता की मृत्यु होने पर पुत्र के हाथों और्ध्वदैहिक संस्कार, हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुकूल आचरण हैं।

३—राजा का सत्य पालन, वार्द्धक्यकाल में संन्यास लेना, युवा पुत्र का राजतिलक, बड़ों का आदर एवं उनकी निन्दा न करना और न सुनना सामाजिक आचार के अंग हैं।

४—**सामाजिक मर्यादा का सम्मान**—निम्न वर्ग के लोगों का दूसरे उच्च वर्ग के लोगों के नाम सुनाकर प्रणाम करना, उच्च वर्ग के लोगों का उन्हें प्रेम से अपनाना भारतीय संस्कृति की सामाजिक मर्यादा है। इसका उदाहरण तुलसी ने इस प्रकार दिया है—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूर ते दंड प्रनामू।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा॥

५—अतिथि सत्कार—वनवासियों ने चित्रकूट आये नागरिकों का आदर सत्कार उपलब्ध फल-फूल आदि से किया। उन्होंने भी विना मूल्य वनवासियों से कुछ लेना स्वीकार न किया। क्योंकि भारतीय समाज शास्त्र कहता है कि निर्धन से कुछ भी मूल्य दिये विना न लें।

६—सहधर्मिणी का कर्तव्य—भारतीय आचार-शास्त्र कहता है कि पति के प्रवास काल में स्त्री सभी भोगों का त्याग कर दे। इसलिए सीता ने राम के पीछे राजमहल में रहना स्वीकार न किया था।

चित्रकूट में भरत का मिलन सभाओं में ऋषियों एवं राजमन्त्रियों द्वारा दिये गये उपदेश भारतीय राजशास्त्र एवं सामाजिक आचार-व्यवस्था पर भली प्रकार प्रकाश डालते हैं। अतः यह कथन ठीक है कि अयोध्या काण्ड में भारतीय संस्कृति के सभी आदर्शों का समन्वय है।

स्मृति संकेत

१—मानस की रचना मुख्यतः भारतीय संस्कृति के जागरण के लिए। २—सभी आदर्शों का समन्वय मानस में और उनका एकत्रित रूप अयोध्या काण्ड में किया गया है। ३—पात्रों के चरित्र-चित्रण में सत्य, अहिंसा आदि आध्यात्मिक गुणों की स्थापना। ४—वाल्मीकि रामायण एव आध्यात्म रामायण में दर्शित चरित्रगत दोषों का मानस में निराकरण। ५—दिनचर्या, अतिथि सेवा, सत्यपालन, सामाजिक मर्यादा, पत्नी का कर्त्तव्य आदि का पूर्णतया पालन। ६—चित्रकूट की सभा, राम का एकान्त स्थान सम्बन्धी प्रश्न भारतीय संस्कृति के अनुकूल।

प्रश्न ४—'मानस की सफलता उसके चरित्र-चित्रण पर निर्भर है।' इस कथन की समीक्षा कीजिये।

अथवा

अयोध्या काण्ड के आधार पर सिद्ध कीजिये कि तुलसी ने अपने पात्रों के चरित्र का निर्वाह अति कुशलता से किया है।

उत्तर—रामचरितमानस एक महाकाव्य है। महाकाव्य में जहां कथावस्तु का संगठन, रस परिपाक आदि आवश्यक हैं, वहां पात्रों के चरित्र का भी सफल चित्रण होना अनिवार्य है। इसके बिना मानव जीवन की पूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है। हर्ष की बात है कि गोस्वामी जी इस कर्त्तव्य के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से जागरूक रहे हैं और उनके द्वारा उपस्थापित चरित्र सर्वथा पूर्ण और सजीव हैं।

मानस का केन्द्र राम का चरित्र है। जितने भी पात्र-रूपी नक्षत्र, तारक और ग्रह हैं सभी रामचरित रूपी ध्रुव के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं। इसलिए राम का ही चरित्र सर्वांगीण है। शेष का चरित्र उतना ही चित्रित किया है जितना राम से सम्बन्ध रखता है।

अयोध्या काण्ड में राम, दशरथ, कौशल्या, सीता, भरत, शत्रुघ्न, कैकेयी, मन्थरा, वशिष्ठ, गुह, भारद्वाज आदि अनेक चरित्र आते हैं, उन सभी का चित्रण उनकी स्थिति एवं मनोविज्ञान के अनुसार हुआ है। इन सभी में राम का चरित्र सबसे अधिक व्यापक और पूर्ण है। कथा के नायक होने के नाते उन्हीं का व्यक्तित्व सर्वाधिक निखरा है।

राम को तुलसीदास ने शक्ति, शील और सौन्दर्य का सिन्धु दिखाया है। अपनी शक्ति का परिचय वे बालकाण्ड में ही दे चुके हैं। मारीच, सुबाहु और ताड़का उनकी शक्ति का प्रमाण पत्र बन चुके है। हां, उनके शील का परिचय हम अयोध्या काण्ड में ही पाते हैं।

राम का राजतिलक होने वाला है। सारे नगर में प्रसन्नता छाई है। पर राम अकेले सोचते हैं कि रघुवंश में और तो सभी बातें ठीक हैं, यही बुराई है कि बड़े पुत्र को राज्य मिलता है। जब चारों भाई साथ उठे बैठे खेले-कूदे और बड़े हुए तो बड़े को ही राज्य क्यों ?

उनका हृदय स्वच्छ है। लक्ष्मण जब ससैन्य भरत का आगमन सुनकर क्रुद्ध हो जाते हैं तो राम के मन में कोई भी सन्देह नहीं होता। वे स्पष्ट शब्दों में लक्ष्मण को समझाकर कहते हैं—

'भरतहिं होइ न राजमदु, विधि हरि हर पदु पाइ।
कबहु कि कांजी सीकरनि, क्षीर सिंधु बिलगाइ।'

उन्हें कभी क्रोध नहीं आता और न कभी वे विवेक छोड़ते हैं। अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं सुनते। उनका हृदय अति कोमल है। दूसरे का दुःख देखकर सहज ही पिघल जाता है।

वे दूसरे की भावना का भी आदर करते हैं। वन जाते समय सीता को ग्रामवासियों के साथ बात करता देखकर कुछ आगे जाकर वृक्ष के नीचे खड़े हो जाते हैं। उनकी भावनाओं को चोट नहीं पहुँचाते।

वे अपने कारण ऋषियों के तप में विघ्न नहीं पड़ने देना चाहते। इसी लिए वाल्मीकि से ऐसा स्थान पूछते हैं, जहां उनके सशस्त्र रहने से किसी को कोई कष्ट न हो।

राम का स्वरूप भौतिक न होकर आध्यामिक अधिक है। उनके चित्रकूट में भी आध्यात्मिक राज्य का ही बोलबाला है—

राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव विरागु बिबेक नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥
सकल अंग सम्पन्न सुराऊ। राम चरन आस्रित चित चाऊ॥
जीत मोह महिपाल दलु, सहित विवेक भुआलु।
करत अकंटक राज पुर, सुख संपदा सुकालु।

इसके अतिरिक्त राम गुरुजनों को प्रमाण करते हैं। प्रभात में उठ कर माता-पिता को प्रमाण करके नित्यकर्म से निवृत्त होते हैं। फिर राज-काज करते हैं। प्रजा-पालन में राजा की सहायता करते हैं। वे धीर प्रकृति के हैं, हर्ष और शोक उनके हृदय को विचलित नहीं करते। उनमें संकोच बहुत है।

तुलसी के राम केवल बाल्मीकि के महामानव नहीं हैं बल्कि आध्यात्म-रामायण के नारायणावतार राम हैं। वे तो 'विप्र धेनु सुर सन्त हित' मनुष्य अवतार लेते हैं। इतना होने पर भी तुलसीदास जी ने उनमें मानवी अनुभूतियां भी सहज रूप में दिखाई हैं। पिता की मृत्यु पर शोक, लक्ष्मण और सीता के दुःख से दुःख वे भी अनुभव करते हैं। कैकेयी के चित्रकूट आने पर सबसे अधिक उससे मिलते हैं और उसकी ग्लानि को दूर करने की चेष्टा करते हैं। वशिष्ठ के चित्रकूट आने पर नम्रता से उनका स्वागत करते हैं।

उनमें नम्रता अतिशय मात्रा में है।

उनके सौन्दर्य की अपूर्व छटा को जो देखता है, चकित हो जाता है। चित्रकूट में उनकी एक झाँकी ही देखिए—

बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि वेषु कीन्ह रति कामा।

यहां 'रति कामा' के उपमान पद से ही तुलसीदास जी सब कुछ कह गये हैं।

राम के पिता दशरथ का चरित्र भी महान् है। राम उसे प्राणों से प्यारे हैं। उन्हें अपने सत्य-पालन पर अभिमान है। नारी के कुचक्र में फँस कर उन्होंने जो वचन दिये, उनसे पीछे नहीं हटते। इसीलिए वे व्यथित हैं, पर मुख से कुछ नहीं कह सकते। वह मन ही मन यह मनाते हैं कि राम मेरे वचन का उल्लंघन करके वन को न जायं। उनके वन जाने पर राजा अधिक दिन नहीं जीते और शीघ्र ही स्वर्ग सिधार जाते हैं। पुत्र-प्रेम और सत्य पालन के द्वन्द्व में उनके सत्यव्रत की ही विजय होती है।

कौशल्या का चरित्र भी इसी प्रकार महान् है। वह पुत्र के वनवास के समय भी सद्बुद्धि नहीं खोती। अपने पति-धर्म का ही पालन करती है। भरत पर उसे सन्देह नहीं होता। बड़ी रानी के नाते वह कुल धर्म को चलाने के हेतु भरत को राज-ग्रहण करने को कहती है। पति के अन्तकाल में उनकी पूर्ण रूप से सेवा करती है अपने उच्च चरित्र से अपने गौरव की रक्षा पूर्ण रूप से करती है।

सीता—सीता तो महाकाव्य की नायिका ही है। वह नारी का वह रूप है जिसमें भारतीय नारी का आदर्श की पूर्णता दिखाई देती है। जनक की दुलारी होकर वह सूर्यकुल में आई है। दशरथ और कौशिल्या की आंखों की पुतली है। उसकी प्रकृति कोमल से कोमल है। कहाँ तो कौशल्या कहती हैं—

वन दुख सहइ सीय केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डराती।।

कहां वह राम के वन-वन भटकने को सहर्ष प्रस्तुत दीखती है। वह गंगा को प्रणाम करती है जिसमें अपने ससुर आदि की मंगल की कामना करती है। उसमें शील, शालीनता आदि सभी स्त्री-गुण विद्यमान हैं।

मानस के चरित्रों में राम के चरित्र के पश्चात् सबसे प्रभावशाली चरित्र एकमात्र भरत का है। उसका चरित्र दशरथ की मृत्यु के बाद ही प्रकाश में आता है, पर जैसे-जैसे कथावस्तु बढ़ती है उस चरित्र का लोकोत्तर आलोक पाठकों की आँखें चुंधियता जाता है। उसको मामा के यहाँ से अयोध्या पहुँचने तक किसी भी घटना का ज्ञान नहीं, अयोध्या के सुनसान बाजारों और राज-मार्गों को देखकर एव झुके हुए राजध्वज को देखकर ही उनका हृदय कहता है कि अवश्य कोई भारी घटना घट गई है। तभी पिता के स्वर्गवास का समाचार मिलता है और कारण की खोज में राम का वनगमन और उसके मूल में उन्हें अपना नाम ज्ञात होता है तो स्तम्भित रह जाते हैं। उनके लिए इससे बढ़ कर कलंक का कारण और कोई नहीं हो सकता कि राम के निर्वासन में उनका हाथ समझा जाय। उन्हें अपनी स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है कि इस घटना से चाहने न चाहने पर भी उनका सम्बन्ध अवश्य जोड़ा जाएगा। कौशल्या के आगे खाई शपथें हृदय की निर्मलता और क्षोभ का परिचय देती हैं। तभी उनके समक्ष राज्य ग्रहण का प्रस्ताव आता है जो कटे पर नमक छिड़कने के समान दिखाई देता हैं। वे अपना कल्याण इसी में समझते हैं कि सीधे राम के पास जायें। यदि राम उन्हें निर्दोष मान लें तो उनके मन को शान्ति मिलेगी। भरत अति कठिन साधना के साथ चित्रकूट जाते हैं। तथापि उनके सम्बन्ध में निषादों और लक्ष्मण तक को दुर्भावना होती है। परन्तु तुलसीदास जी ने भरत के प्रेम का जो मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है, वह पाठकों का मन उनकी ओर से साफ कर देता है। उनका वर्णन तो बहुत विस्तृत है परन्तु एक ही दोहा उसका निष्कर्ष उपस्थित कर देता है—

> प्रेम अमिय मन्दरु बिरहु, भरतु पयोधि गम्भीर।
> मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपा सिंधु रघुबीर॥

चित्रकूट में भरत के चरित्र का जो उत्कर्ष सामने आया उसने राम से यह प्रमाण-पत्र पा ही लिया—

> भरत भूमि रह राउरि राखी।

इनके अतिरिक्त अन्य महुत्त्वपूर्ण पात्र हैं सुमित्रा और लक्ष्मण। सुमित्रा का त्याग महान है, अपने युवा पुत्र को राजाज्ञा न होने पर भी वन भेजना

उसी का काम है। उनका यह वचन—

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई।

उनके हृदय की महत्ता को सूचित करता है।

उसके पुत्र लक्ष्मण तो राम-कथा के साथ ही अमर हो गये हैं। जहाँ राम हैं, वहीं लक्ष्मण हैं। उन्होंने सत्य ही अपने आप को राम को समर्पित कर दिया था। राम के लिए उन्होंने अपने प्राण संकट में डाले, राज्य सुख छोड़ा आंख मूंदकर आज्ञा का पालन किया। १४ वर्ष तक अखंड ब्रह्मचर्य का पालन, लंका के युद्ध में उनका पराक्रम उनके चरित्र के अन्य पहलू हैं। उनकी वृत्ति उग्र और चंचल है। सहज ही उन्हें क्रोध आ जाता है, राम का अनुशासन ही उनका अंकुश है।

एक पात्र और रह गया है, वह है कैकेयी। यह चरित्र द्वन्द्वशील होने से विशेष महत्व रखता है। उसका चरित्र पहले निर्दोष है। मन्थरा के बहकावे में आकर एक अभिनय करना पड़ता है। जिसके परिणामस्वरूप उसे असह्य मानसिक वेदना सहनी पड़ती है। जिसके कल्याण के लिए उसने सारा स्वांग रचा, वही पुत्र उससे घृणा करने लगे तो इससे अधिक व्यथा का कारण क्या हो सकता था। वह राम को मनाने वालों के साथ चित्रकूट भी गई। उसकी दीनदशा पर यदि दया आई तो राम को। वे सबसे प्रथम कैकेयी से ही मिले और उसकी ग्लानि दूर करने की चेष्टा की। इसी प्रकार तुलसीदास जी ने उसके प्रति सहानुभूति दिखाई है।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में गोस्वामी जी ने भावकता और मनोवैज्ञान से ही काम लिया है। राम और भरत से चरित्र-चित्रण आदि भावुकता के सुन्दर नमूने हैं तो मन्थरा का चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान का। मन्थरा की कैकेई का बहकाने की कला और कैकेयी का स्वप्न स्मरण नारी-हृदय का अद्भुत विश्लेषण करते हैं। प्रबन्ध की दृष्टि से देखा जाये तो यह सम्वाद सन्पूर्ण काव्य का अति महत्वपूर्ण भाग है जहां गोस्वामी जी की अन्तर्दृष्टि का मानव-प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण देखने को मिलता है।

स्मृति-संकेत

१—महाकाव्य के नाते चरित्र-चित्रण आवश्यक। राम का चरित्र केन्द्र बिन्दु, सभी पात्रों का केवल राम से सम्बद्ध चित्रण। २—राम शक्ति, शील, सौन्दर्य के समुद्र। धीर प्रकृति, निर्मल स्वभाव, शान्त, प्रजापालक, प्रशंसाप्रिय नहीं। आध्यात्मिक स्वरूप। चित्रकूट का आध्यात्मिक राज्य। कैकेयी के प्रति उदारतापूर्ण भाव। आदर्शों का समन्वय। ३—दशरथ—सत्यप्रिय, प्राण छोड़कर पुत्र-प्रेम का निर्वाह। ४—कौशल्या का राम की माता के अनुरूप चित्रण, संकट में स्थिर मति, भरत से प्रेम, पति सेवा। ५—सीता—सच्ची सहधर्मिणी, पति के लिए राजमहल का त्याग। ससुर की मंगल कामना। ६—भरत—राम सदृश चरित्र, धीमता, राम प्रेम, राय वनवास एवं पिता की मृत्यु में अपने नाम का सम्बन्ध असह्य, कौशल्या के समक्ष शपथें। चित्रकूट गमन, राम के आगे सफाई। ७—सुमित्रा, लक्ष्मण एवं कैकेयी का चरित्र-चित्रण उत्तम, सुमित्रा का त्याग आदर्श। लक्ष्मण सेवाव्रती, राम से अभिन्न, उग्र प्रकृति, संयमी। कैकेयी सहानुभूति—योग्य, मन्थरा का चरित्र मनोवैज्ञानिक।

प्रश्न ५—रामचरित मानस के 'अयोध्याकाण्ड' की विशेशताओं पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिए। (मध्यमा परीक्षा सं २००७)

अथवा

"अयोध्या काण्ड में तुलसी की प्रतिभा के परमोत्कर्ष का दर्शन होता है" इस कथन पर युक्ति-युक्त विचार प्रकट कीजिए।

(मध्यमा परीक्षा सं २०१२)

उत्तर—अयोध्या काण्ड रामचरित मानस का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है। इसमें राम कथा का जटिलतम भाग वर्णित है। पारिवारिक कूटचक्र, व्यक्ति के कौटुम्बिक एवं सामाजिक कर्तव्य, राजनीति, धर्मनीति आदि का इसमें गहन विवेचन है। साथ ही प्रबन्धपटुता और भावप्रवणता का इससे अच्छा परिचय मिलता है।

मानस एक महाकाव्य है। उसमें कथा का सर्वांगपूर्ण संगठन होना चाहिए। इस बात को देखे तो अयोध्याकाण्ड की कथा अति प्रवाहशील है।

और काण्डों में संवादों या प्रासंगिक वर्णनों के कारण भले ही काव्य-प्रवाह में कुछ व्याघात पहुँचा हो, किन्तु अयोध्या काण्ड में यह दोष लेश मात्र भी नहीं है। 'जब से राम ब्याहि घर आये' से एक बार कथा आरम्भ होकर भरत के अयोध्या आने तक कथा का प्रवाह अनवरत क्रम से चलता है। उसमें कई मोड़ हैं जिनसे कथानक जटिल हो जाता है। राज-तिलक की तैयारियों से उत्पन्न उल्लास में कैकेयी-मन्थरा संवाद, दशरथ मरण, भरत का चित्रकूट गमन आदि घटनाएँ जटिलता उपस्थित करती हैं। राम के वन गमन के समय मार्ग में आने वाले स्थलों का विस्तृत-वर्णन भी नहीं हुआ है। इस प्रकार कथा का निर्वाह सुचारु रूप से हो सका है।

पात्रों का चरित्र चित्रण तो कवि ने अति भावुकता और मनोवैज्ञानिक रीति से किया है। अनेक प्रसंग तो कवि की सहृदयता के जीवित प्रमाण हैं। जैसे राम वन गमन, भरत का अयोध्या गमन और चित्रकूट में राम भरत मिलाप। राम, लक्ष्मण और सीता को नंगे पांव चलते देखकर ग्रामीणों द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति, सीता से राम का परिचय जानने का प्रयास और सीता का उत्तर देने का मार्ग जिसमें भारतीय नारी की शालीनता अपने उत्कृष्ट रूप में निहित है, तुलसीदास की भावुकता के जीवित प्रमाण हैं।

"कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥

और सीता का सांकेतिक उत्तर—

तिन्हिं विलोकि विलोकति धरणी। दुहुँ संकोच सकुचति वर वरणी॥

× × ×

बहुरि बदन विधु अंचल ढांकी। प्रिय तन चितै भौंह करि बांकी॥
खञ्जन मञ्जु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिनहि सिय सयननि॥

इस प्रकार पात्रों के चरित्र-चित्रण में अच्छी भावुकता और कौशल का परिचय दिया है।

संवाद तो अति ही सरल हैं। मन्थरा-कैकेयी संवाद में जिस मनोविज्ञान का परिचय तुलसी ने दिया है, वह साध्यपूर्ण है। कौशल्या-भरत संवाद में भरत की विकलता और निश्छलता एवं वाल्मीकि-राम संवाद में वाल्मीकि की भक्ति-भावना भवपक्ष की अनमोल विभूति है। राम और भरत संवाद की भक्ति-

भावना भावपक्ष की अनमोल विभूति है। राम और भरत संवाद तो अयोध्या काण्ड का ही क्या सम्पूर्ण मानस का सबसे सरल प्रसंग है उससे राम और भरत में व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण हो जाता है।

वातावरण का विधान भी कम कौशल का नहीं है। जनक के चित्रकूट पहुँचने पर उस स्थान की आध्यात्मिक गुरुता का जिस प्रकार वर्णन किया है, उससे चित्रकूट की ओर पाठकों की भाववृत्ति स्वयं चली जाती है। वहाँ राम के आध्यात्मिक-शासन का अच्छा परिचय मिलता है। भरत के अयोध्या पहुँचने पर नगर का जैसा शोकपूर्ण वर्णन किया है, वह यथार्थ परिस्थिति का ज्ञान करा देता है।

अयोध्या काण्ड में रस परिपाक भी भली-भाँति हुआ है। राम का वन-गमन, दशरथ मरण आदि शोकजनक वर्णन होने से इसका प्रधान रस करुण है। सीता और राम संवाद में श्रृंगार, राम-कौशल्या संवाद में वत्सल, भरत के मिलाप में भी करुण है। भरत के आगमन को देखकर लक्ष्मण के क्रोध में रौद्ररस है। दशरश के सत्य पालन में सत्यवीर या धर्मवीर की पुष्टि हुई है। चित्रकूट के आध्यात्मिक वर्णनों में शान्त रस है। वैभव आदि के वर्णन में तो अद्‌भुत ही समझा जा सकता है।-

चित्रकूट प्रकृति वर्णन के लिए अच्छा स्थल था किन्तु उसका यहाँ पर कोई विस्तृत वर्णन नहीं किया है। केवल राम का प्रभाव दिखाया है।

अयोध्या काण्ड में तुलसी का भावपक्ष ही नहीं कला पक्ष भी अद्‌भुत है। प्रसंगानुसार शब्दचयन उसकी विशेषता है। संस्कृत तत्सम के सहित कोमल अवधी अनुकूल भावों की व्यजना में पूर्ण सफल है। अभिप्रेत भाषा की अभि-व्यक्ति के लिए कवि ने स्थान-स्थान पर अनुकूल अलंकारों की सुन्दर योजना की है। उदाहरण के लिए—

अमिअ प्रेम मन्दरु विरह, भरत पयोधि गम्भीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपा सिंधु रघुवीर॥

यहाँ परम्परित रूपक की क्या ही सुन्दर योजना है।

भरतहि होइ न राज मदु, विधि हरि हर पदु पाइ।
कबहुँ न कांजी सीकरनि, क्षीर सिंधु बिलगाइ॥

इसमें दृष्टान्त अलंकार क्या ही फिट बैठा है।

तिमिर तरुण तरनिहिं मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमाबरु छांड़इ छोनी।
मसक फूंक वरु मेरु उड़ाई। होइ न नृप मदु भरतहिं भाई॥

यहाँ असम्बन्धातिशयोक्ति है।

चित्रकूट के सम्बन्ध में विस्तृत सांगरूपक तुलसी की अलंकार-योजना-नैपुण्य का अच्छा उदाहरण है।

इसी प्रकार अन्य अलकार भी सुन्दर रीति से दिखाए गये हैं। छन्द दोहा और चौपाई हैं। बीच-बीच में सोरठा और हरिगीतिका भी प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं व्यक्तिगत महत्त्व को जानने के लिए व्यक्ति का परिचय आलंकारिक शब्दों से दिया है। जैसे मन्थरा के लिए—

"रुचि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़ सती तब बोली॥"

इन पंक्तियों में मन्थरा के लिए 'अवध साढ़ साती' का प्रयोग प्रस्तुत प्रसंग में कितना सार्थक है!

इन सभी बातों से हम इस निष्कर्ष पर पर पहुँचते हैं कि वास्तव में अयोध्या-काण्ड रामचरित मानस का केन्द्र स्थान है। रामचरित का वास्तविक विकास इससे होता है। उत्तर काल में सम्पर्क में आने वाले प्रासंगिक पात्रों को छोड़ कर रामायण के सभी पारिवारिक पात्र यहाँ प्रकाश में आ गये हैं। जीवन की जटिलता, गृहस्थ का उत्तरदायित्व, धर्म और स्नेह का संघर्ष धर्मनीति और समाज नीति का समन्वय आदि सभी पक्ष इस प्रकरण में स्पष्ट हो गये हैं। चेतन प्रकृति की भावुकता इसमें बहुत सुन्दरता से निखरी है। अनेक स्थलों पर इसमें गम्भीरता भी है जिससे शुक्ल जी के उस कथन की संगति हो जाती है कि बाल काण्ड के आदि, उत्तर काण्ड के अन्त और अयोध्या काण्ड के मध्य की थाह कठिनाई से मिलती है। वास्तव में इस काण्ड को लिखने में तुलसी ने विशेष परिश्रम से काम लिया होगा। अयोध्या में रहते हुए ही इसकी रचना होने से सम्भव है, गोस्वामी जी को उसकी पुरातन महिमा स्मरण हो आई हो चित्रकूट की सभा को छोड़कर सारा ही कथाचक्र अयोध्या में ही घटता है।

इसलिए अयोध्याकांड नामकरण भी चरितार्थ ही हो गया है। यह भी संयोग की बात है कि कथानक का अयोध्या से सम्बन्ध नाम भी अयोध्या काण्ड और अयोध्या में ही उसकी रचना हो।

स्मृति संकेत

१—महाकाव्य के नाते अयोध्या कांड में कथा-निर्वाह आवश्यक, कथा प्रबन्ध संगठित, मार्मिक प्रसंगों का विस्तार, अनेक संवादों की आयोजना, नये मोड़ों से जटिलता, विस्तृत स्थल वर्णन नहीं। २—पात्रों का चरित्र-चित्रण आकर्षक, भावुकता और मनोविज्ञान का उपयोग, पात्रों के व्यापार चरित्र-चित्रण में सहायक, सीता द्वारा संकेत से पति परिचय। संवादों में विविध भाव व्यक्त। ३—वातावरण विधान अनुकूल, चित्रकूट एवं अयोध्या वर्णन प्रभावशाली एवं परिस्थिति सूचक। ४—शृंगार, करुण, शांत, रौद्र, वात्सल्य रसों का परिपाक, करुण प्रधान, अवसरानुकूल योजना। ५—कलापक्ष भी सुन्दर, तत्समसम्पुटित अवधी, दोहा, चौपाई, छन्द, वर्णनात्मक शैली, अलंकार योजना ६—अयोध्या से कथा का सम्बन्ध एवं अयोध्या में रचना होने से नाम अयोध्या कांड, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय नीतियों का प्रतिपादन।

प्रश्न ६—गोस्वामी जी की साधना किस प्रकार की थी? उसका सम्बन्ध किस सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है? उसमें कितना सत्य है। युक्तिसंगत उत्तर दीजिए।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास जी राम के भक्त थे, यह तो निर्विवाद है। पर राम—भक्ति की दीक्षा उन्होंने किससे ली? उनकी भक्ति किस सम्प्रदाय के अनुसार थी, यह प्रश्न प्रायः उठता है। उसका समाधान करने के लिए कुछ कुछ विद्वानों ने अपने-अपने तर्क के अनुसार मत प्रकट किए हैं, जिनमें कुछ के अनुसार गोस्वामी जी अद्वैतवाद के अनुयायी थे। इसकी कुछ सामग्री उनके मानस में भी मिल जाती है। दूसरी ओर रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के तत्व भी इसमें मिल जाते हैं। यदि जगत् का मिथ्यात्व निरूपण देखें तो अद्वैतवाद की पुष्टि होती है। पर जब अवतारवाद का विवेचन होता है तो विशिष्टा-द्वैतवाद का समर्थन होता है। वैराग्य संदीपनी में भी उन्होंने दोनों मतों को

सामग्री दी है। जीव के निरूपण में जब वे लिखते हैं—

'माया वस्य जीव अभिमानी"

और

"जिमि जीवहिं माया लपटानी"

तो इनसे अद्वैतवाद का वर्णन होता है कि जीव स्वयं शुद्ध है, निर्लेप है। माया के फेर में अपने स्वरूप को भूल जाता है, ज्ञान होने पर यथार्थ स्वरूप का परिचय होता है। परन्तु वे स्वरूप परिचय के लिए जाने के स्थान पर राम भक्ति का ही प्रतिपादन करते हैं, जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं। लिखते हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

इन दोनों ही मतों की सामग्री मिलने के कारण यही कहा जा सकता है कि लोकप्रिय होने और ज्ञान मार्ग एवं भक्ति से सम्बन्ध रखने के कारण दोनों की ही सामग्री भले ही उनकी रचनाओं में मिल जाय पर उनको किसी एक सम्प्रदाय में न घसीट कर केवल रामभक्त कहा जा सकता है। कुछ लोग तो उन्हें रामानन्द सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं किन्तु ये दीक्षित वैष्णव न होकर स्मार्त वैष्णव थे। उन्होंने एकमात्र राम-भक्ति को ससार-सागर से तरने का राजमार्ग बताया है—

"बहु मत सुनि पंथ पुराननि, कहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोंहि, लगत राज डगर सो॥"

पाँच प्रकार की भक्तियों में भी वे दास्य भाव की भक्ति को ही उत्तम मानते थे—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरहि उरगारि।"

अपनी साधना के लिए उन्होंने चातक को एक आदर्श रखा है। इस निम्न दोहे में स्पष्ट घोषित किया है—

'एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम-घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥

यह प्रेम एकाकी होना चाहिए, प्रतिफल की इच्छा से किया गया प्रेम

स्वार्थमय होता है। इसका दूसरा तत्त्व है दृढ़ व्रत तथा अनन्यता। चातक जैसे केवल स्वाति की बूंद को ग्रहण करता है, उसी प्रकार केवल प्रभु से अनुग्रह की कामना करनी चाहिए। विपत्ति में भी व्रत न छोड़े—

'बध्यौ बधिक पर्यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पटु, मरतहु लगी न चोंच।"

मरने के बाद भी वह अपने शव को गंगा स्नान नहीं कराने देता—

'जिअत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहिं।
सुर-सरिहू को बारि, मरत न मांगेउ अरघ जल॥'

प्रेम की अतृप्ति आनन्द देती है। चातक स्वाति नक्षत्र का जल भी प्रेम की प्यास बुझाने के डर से नहीं पीता—

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पिये न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़तीं भली, घटेगी आनि॥

प्रेम में प्रेमी के प्रति कोई शिकायत या रोष नहीं होना चाहिए।

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहु दूसरी ओर॥

याचना से मान चला जाता है पर चातक प्रेम में जल को याचना करता है तो भी मान को नहीं छोड़ता—

मान राखियो मांगिबो प्रिय सों नित नव नेहु।
'तुलसी' तीनिउ तब फबै, जो चातक मत लेहु॥

चातक भी मेघ से याचना लोक कल्याणकारी होने के कारण करता हैं। यह याचना लोकहित के लिये होती है जो कि बारहों मास चलती है। स्वयं एक बूंद मात्र पानी लेता है।

तुलसी चातक मांगनो, एक सबै घन दानी।
देव जो भू भाजन भरत, लेत जो घूंटक पानी॥

सारांश यह है कि तुलसीदास की भक्ति भावना केवल व्यक्तिग तन होकर

लोकमंगल भावना से पूर्ण थी। उसमें दृढ़ प्रेम प्राण समान है जो कि किसी कारण विचलित नहीं हो सकता।

स्मृति सकेत

१—स्मार्त-वैष्णव, ग्रन्थों में अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद दोनों की सामग्री। किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं। रामभक्तिपरायण।

२—साधना का आदर्श है चातक। प्रेम के छः नियम—

(१) एकांगिता, (२) व्रत की दृढ़ता, अन्त तक व्रत का पालन, (३) अतृप्ति का प्रेम, (४) कोई दोषारोपण नहीं, (५) मान रक्षा, (६) याचना लोकहित के लिए।

प्रश्न ७—तुलसीदास की विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी साहित्य में उनके साहित्य का स्थान निर्धारित कीजिए।

(मध्यमा परीक्षा सं० २०२१)

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास जी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उस स्थान को सुशोभित करते हैं जिस पर बैठने का सौभाग्य संस्कृत के इने गिने कवियों को छोड़कर किसी को प्राप्त नहीं हुआ। उनकी सी प्रतिभा, उनकी सी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और उनकी सी भावुकता बहुत ही कम कवियों में देखने को मिलती है, जिसके कारण उनका काव्य युग-युग के लिए अमर हो गया है।

यद्यपि उनकी 'कविता-कामनी' का सौन्दर्य इतना अतुल है कि उसकी नाप-जोख असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, तथापि कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख नीचे करते हैं।

१. विषय-निर्वाचन कौशल—उनके काव्य का विषय महान् है, उन्होंने अपने काव्य का नायक किसी मानव को न बनाकर उस महामानव को बनाया जिसके आदर्श पर पहुँच कर नर नारायण हो जाता है। उन्होंने देश और काल की सीमा से परे होकर अपने काव्य द्वारा पाप और पुण्य की विजय का सार्वभौम एवं सर्वयुगीन सन्देश दिया है

२. लोक-संग्रह-भावना—उन्होंने काव्य रचना न केवल आत्माभिव्यक्ति के लिए की और न किसी राजा-महाराजा को प्रसन्न करने के लिए की बल्कि

राम काव्य की रचना स्वान्तः सुखाय की जिसका उद्देश्य लोक-मंगल को छोड़कर कुछ नहीं था। उनके मानस से आज भी भटकती हुई मानवता सुख शांति के लिए मार्ग प्रदर्शन ले सकती है।

३. **भाव-प्रवणता**—काव्य की आत्मा उसके भाव होते हैं। इनकी गरिमा में ही काव्य भी गुरु और स्थायी हो पाता है। गोस्वामी जी की उत्कृष्ट रचनाओं में इसका सर्वाधिक सौंदर्य प्राप्त होता है। मानस में प्रेम, लोक, हर्ष, करुणा आदि की व्यंजना बड़े कौशल से हुई है। गीतावली और कवितावली में भी यही बात है।

४. **जीवन की व्यवस्था**—साहित्य को जीवन की आलोचना कहा गया है। पर मानव में मानव जीवन की जो सर्वांग सुन्दर व्याख्या हुई है, वह उपयुक्त परिभाषा देने वालों के काव्यों में भी न हुई होगी। मानस में कवि की अन्तर्दृष्टि जीवन की गहराई तक पहुँच कर उसके विकास की विविध भूमियों की नाप-जोख कर सकी है।

५. **मर्यादा**—गोस्वामी जी काव्य की प्रेषणीयता पर बल देते थे। उनका कहना था—'कीरति भणिति भूति भलि सोई।' इसलिये जीवन के शृंगार पक्ष का चित्रण करते हुए भी उन्होंने अपने काव्य में कभी अश्लीलता नहीं आने दी। वे तो काव्य द्वारा पाठकों के मन में उच्च वृत्तियों का जगाना ही काव्य का उद्देश्य मानते थे।

६. **सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति**—गोस्वामी जी ने अपने काव्य के लिये इधर-उधर से पर्याप्त सामग्री ली है पर उसे अपनी प्रतिभा से मौलिकता दे दी है।

७. **समन्वय की भावना**—अपने काव्य द्वारा गोस्वामी जी ने सहिष्णुता और उदारता का संदेश देकर भाव-भूमियों का समन्वय किया है। मानस में वैष्णवों और शैवों का समन्वय राम और शिव की पूजा एक-दूसरे के हाथों करा कर किया है।

८. **रस परिपाक**—गोस्वामी जी रस परिपाक में सिद्धहस्त थे, क्या मानस, क्या गीतावली और क्या कवितावली, सभी में उन्होंने शृंगार, वीर, करुण आदि रसों का सुन्दर परिपाक दिखाया है।

९. **प्रकृति वर्णन**—मानव प्रकृति के साथ-साथ भौतिक प्रकृति के वर्णन में भी गोस्वामी जी किसी से पीछे नहीं रहे। 'गीतावली' में उन्होंने चित्रकूट का वर्णन संस्कृत के कवियों की संश्लिष्ट रीति से किया है।

१०. **वर्णन कौशल**—गोस्वामी जी वस्तु, व्यापार एवं मनोभाव तीनों के वर्णन में सिद्धहस्त थे। तीनों ही वर्णनों के लिए मानस, गीतावली और कवितावली को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। भावाभिव्यक्ति के लिये मनोविज्ञान की सहायता ली है।

११. **शैलियों की विविधता**—गोस्वामी जी ने अपने समय की प्रचलित सभी शैलियों की रचना की है। इससे उनका काव्य-क्षेत्र व्यापक हो गया है। सवैया शैली, दोहावली में साखी शैली, गीतावली में गीतशैली, प्रबन्ध शैली पाई जाती है। 'बरवै रामायण में 'बरवै नायिका भेद' की 'बरवै शैली' राम लला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल में गाने योग्य ग्राम गीतों की सृष्टि की है।

१२. **भाषा वैविध्य**—गोस्वामी जी ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों में अधिकारपूर्वक कविता की है। संस्कृत में सम्पुटित होने के कारण दोनों भाषाएँ साहित्यिक बना दी हैं। मानस की रचना अवधी में हुई है। विनय पत्रिका, कवित्त रामायण, दोहावली की रचना ब्रजभाषा में हुई है।

जहाँ तुलसी की कविता में ये गुण हैं, वहाँ कुछ दोष भी हैं।

१. **विदेशी शब्दों का प्रयोग**—तत्सम प्रधान भाषा में फारसी शब्दों का मिश्रण।

२. **गीतिकाव्य में लम्बे समासों का प्रयोग**—यथा विनय पत्रिका के दण्डक।

३. **दार्शनिक गम्भीरता**—'केसव कहि न जाइ का कहिए।' आदि में भाव दब गये हैं।

४. **भक्ति में औचित्य का उल्लंघन**—मानस में शंकर ने अगस्त्य से रामकथा सुनी और तब राम-कथा का महात्म्य अगस्त्य को समझाया। कितनी असंगति है।

५. स्थान-स्थान पर उपदेश और दार्शनिक विवेचन से मुख्य भावपक्ष दब जाता है।

६. अतिशय समास पद्धति—संक्षेप की प्रवृत्ति ने बहुत से स्थलों पर अर्थ व्यक्ति को रोक दिया है और अति कठिनता ला दी है।

इस प्रकार गुण-दोष दोनों होने पर भी उनकी कविता सर्वांगीण सौष्ठव को लिए है। इसके कारण कविता का और कविता से उनका नाम अमर हो गया।

स्मृति संकेत

१—हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि। काव्य-गुण अनन्त। २—विषय निर्वाचन कौशल, लोक संग्रह भावना, भावप्रवणता, जीवन की व्याख्या। मर्यादितता, सारग्राहिणी प्रवृत्ति, समन्वय की भावना, रस सिद्ध, प्रकृति वर्णन, वर्णन कौशल, शैलियों की विविधता, भाषा वैविध्य। ३—दोष—विदेशी शब्दों का असंगत प्रयोग, गीति काव्य में लम्बे समास, दार्शनिक गम्भीरता, भक्ति में औचित्य उल्लंघन, उपदेशों की अधिकता, समास, पद्धति की अधिकता।

प्रश्न ८—'गीतावली' का परिचय देकर उसके काव्य सम्बन्धी महत्व का परिचय दीजिए।

उत्तर—'गीतावली' गोस्वामी तुलसीदास का गीतिकाव्य है। राम-कथा के अनुसार इसका भी काण्डों में विभाजन हुआ है इसमें कुल ३२७ पद हैं। इसमें भी गोस्वामी जी की भावुकता का अच्छा प्रकाशन हुआ है। इसकी रचना केवल इस उद्देश्य से की गई है कि प्रबन्ध काव्य होने के नाते मानस में जिन भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी उनकी अभिव्यक्ति गीतों में सम्भव होती है। इसमें कथा में व्याघात पड़ने का भय नहीं है। जैसे राम-लक्ष्मण के विश्वामित्र के साथ जाने पर कौशल्या और सुमित्रा के मन की पीछे क्या दशा हुई, इसके विषय में मानस सर्वथा मौन है तथा वनवास के बाद भी चौदह वर्ष तक रानियाँ किस प्रकार राम को स्मरण करती रहीं, इसका कोई उल्लेख मानस में नहीं हुआ है। गीतावली इन्हीं भावों का उद्घाटन करती है।

राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ गए हैं। माता के लिए यह पहला वियोग है। वह उनके मार्ग में होने वाले कष्टों के लिए चिन्तित है—

जब ते लैं मुनि संग सिधाए।
राम लखन के समाचार सखि! तब तें कछुअ न पाए॥
बिनु पनहीं गमन, फल भोजन, भूमि सयन तरु छाहीं।
सर-सरिता जल पान, सिसुन के संग सुसेवक नाहीं॥

राम-लक्ष्मण वन को चले गये हैं। माता को रह-रहकर उनकी याद सताती है। घर खाली देखकर और भी व्यथा होती है—

"जब जब भवन विलोकत सूनो।
तब तब विकल होत कौशल्या दिन-दिन प्रति दुख दूनो।
सुमिरत बाल विनोद राम के सुन्दर मुनि मन हारी॥
होत हृदय अति सूल समुझि पद पंकज अजिर विहारी।
को अब प्रात कलेऊ मांगत रूठि चलेगो माई।
स्याम-तामरस नैन स्रवत जल काहि लैहो उर लाई॥

कवि अपने नायक का वर्णन उनकी स्थिति के अनुसार ही करते हैं। सूर ने कृष्ण के विरह में गौओं की दीन दशा का वर्णन किया है। तुलसी ने भी राम की राजकीय मर्यादा को ध्यान में रखते हुए उनसे घोड़ों की दीन दशा दिखाई है—

आली! हौं इनहिं बुझावौं कैसे?
लेतेहिए भरि भरि को हित, मारत हेतु सुत जैसे॥
बार बार हिनहिनात हेरि उत को बोले कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारे तें करुणामय सुत प्यारे॥

इसीलिए राम को पुकारती है—

राघो एक बार फिर आवो।
ये वर वाजि विलोकि अपने बहुरि बनहि सिधावो॥
ये पय प्याइ पोखि कर पकज वार-बार चुचकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाडिले ते अब निपट विसारे॥

हनुमान् के द्वारा लक्ष्मण के मूर्च्छित होने का समाचार सुन कर माता सुमित्रा के हृदय का द्वन्द्व देखिए—

सुनि रन घायल लखन परे हैं।
स्वामि काज संग्राम सुभत सों लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन लोक, संतोष सुमित्रहिं, रघुपति भगति वरे हैं।
छिन-छिन गात बखान छिनहिं-छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपि सों कहति सुभाय श्रंब के श्रंबक श्रंबु भरे हैं।
रघुनन्दन विनु विधु बंधु कु अवसर जद्यपि घने दुसरे हैं।
'तात ! जाह कपि संग' रिपुवमन उठिकर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु विधिवस सुढर ढरे हैं।
अबु अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं।

भारत में पक्षियों के द्वारा प्रवासी के आगमन का शकुन विचार करने की प्राचीन रीति है। तुलसीदास भी इसका वर्णन करना नहीं भूले हैं—

बैठी सगुन मनावती माता।
कब अइहै मेरे बाल कुशल घर कहहकाग फुरि बाता॥
दूध भात की दोनी देहौं, सोने चौंच महौंदं।
जब सिय सहित विलोक नयन भर राम लखन उर लैहौं॥

कभी माता छेमकरी चिड़िया से पूछती है···

'छेमकरो ! बलि बोलि सुबानो।
कुशल-छेम सिय राम लखन कब अइहैं अब ! अवध रजधानी॥'

इस प्रकार तुलसीदास जी ने गीतावली में मातृहृदय के भावों की सफल व्यंजना की है। भाव-सौकुमार्य, भाषा-माधुर्य और संगीत तीनों दृष्टि से यह रचना अति सुन्दर है। इनका काण्डों में विभाजन भले ही हुआ है किन्तु गीति-काव्य होने के नाते कथा का विकास नहीं हो सकता है। अतः प्रबन्ध-काव्य के स्थान पर स्फुट गीति काव्य ही मानना उचित होगा। ब्रजभाषा में संस्कृत के शब्दों के पुट ने इसका भी सौन्दर्य बढ़ा दिया है। इसमें कवितावली का सा

कला सौष्ठव न होकर भावप्रवणता का प्राधान्य है। संगीत और काव्य का अच्छा समन्वय हो गया है।

स्मृति-संकेत

१—गीतावली गीति काव्य ३२७ पद। भाव व्यञ्जना सुन्दर अभीष्ट वात्सल्य आदि भावों के प्रकाशन हेतु रचना। २—विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण के जाने और वनगमन के बाद मातृ हृदय के भावों की अभिव्यक्ति। ब्रजभाषा. भावप्रवणता की प्रधानता।

प्रश्न ९—भाषा, भाव शैली और रस की दृष्टि से कवितावली पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए तथा उसके सामाजिक महत्त्व की ओर संकेत कीजिए। (मध्यमा परीक्षा सम्वत् २००३)

उत्तर—'कवितावली' गोस्वामी जी की अति प्रसिद्ध रचना है। इसमें उनका काव्य कौशल एवं वर्णन-चातुर्य भली भांति प्रकट हुआ है। जो वर्णन वे रामचरित मानस में नहीं कर पाए थे, वे इसमें भली-भाँति किए जा सके हैं। इसी प्रकार जिन वर्णनों में गोस्वामी जी की वृत्ति अच्छी रमी है, वे मानस में करने पर भी इसमें फिर किए गये हैं।

कवितावली में कुल ३६९ छन्द हैं। इसका उत्तरार्द्ध हनुमान बाहुक है। इसे भी सात काण्डों में विभक्त किया गया है। इसी कारण इसको कवित्त-रामायण के नाम से भी पुकारते हैं। यद्यपि इसमें रामकथा ही गाई गई है परन्तु उसका उचित विकास नहीं हुआ है। मनोरम प्रसंगों का तो कई-कई छंदों में वर्णन किया है, शेष को चलते रूप में सूचित कर दिया है। बालकांड में जैसे २२ छंदों में बालक राम की बाल क्रीड़ाओं और कौशल्या के वात्सल्य का प्रकाशन किया गया है। अयोध्या काण्ड में विशेष रूप से वन में जाते राम लक्ष्मण सीता के स्वरूप और ग्राम वधुओं के आकर्षण का वर्णन है। अरण्य काण्ड और किष्किन्धा काण्ड में एक ही छन्द है। सुन्दर काण्ड में हनुमान के पराक्रम का आकर्षक वर्णन है। लंका काण्ड में युद्ध का वर्णन बड़ी ओजस्वी भाषा में हुआ है। उत्तर काण्ड के दो भाग हैं, अन्तिम भाग हनुमान बाहुक नाम से विख्यात है। इस भाग का कथा से कोई सम्बन्ध नहीं

है। इस प्रकार यह एक स्फुट काव्य है। इसका संग्रह तुलसीदास जी की मृत्यु के बाद ही किया गया होगा। अन्यथा उनकी मृत्यु से सम्बन्ध रखने वाला सवैया इसमें कैसे आ जाता।

कवितावली वर्णन-सौष्ठव और रस-परिपाक के विचार से अति ही सुन्दर रचना है। सुन्दर काण्ड में तो गोस्वामी जी ने वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि की अच्छी व्यंजना की है। आग के कारण विकल राक्षस-बंधुओं की दशा का एक वर्णन देखिये—

बीथिका बजार प्रति, अटनि-अगार प्रति,
पवरि पगार प्रति बानर बिलोकिए।
अर्घ ऊर्घ बानर है, विदिसि दिसि बानर है,
मानहुँ रह्यो है भरि बानर तिलोकिए।
मूंदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोउ को किए।
'लेहु अब लेहु तब कोऊ न सिखायो मान्यौ,
सोइ सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिए॥

इसमें गोस्वामी जी ने अपनी बहुज्ञता भी अच्छी दिखाई हैं। विश्व को रावण रूपी राजयक्ष्मा से ग्रस्त दिखाकर हनुमान को रस वैद्य बनाकर लंका भेजा है—

रावन जो राज रोग बाढ़त बिराट उर,
दिन दिन-विकल सकल सुख रांक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न विसोक ओत पावै न मनाक सो॥
राम की रजाइ तें रसायनी समीर सूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान बूट पुटपाक लंक जात रूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो॥

इस काव्य की रचना संस्कृत सम्पुटित ब्रज भाषा में हुई है। कवित्त,

सवैया और छप्पय जैसे गंग आदि भाट कवियों के प्रिय छन्दों का प्रयोग हुआ है। रसों के परिपाक के साथ रूपक, उत्पेक्षा, उपमा अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का भी अच्छा विधान है। रचना में गोस्वामी जी को पूरी सफलता मिली है। रामचरित-मानस और विनय-पत्रिका के बाद तुलसी-साहित्य में सर्वोच्च स्थान कवितावली का ही है। इसके अनेक पद्यों से कवि के जीवन-वृत्त पर भी प्रकाश पड़ता है। इससे समाज के लिए इसका महत्त्व और बढ़ जाता है।

स्मृति-संकेत

१—२६९ छंद, राम-कथा, सात काण्डों में विभक्त। २—अति प्रिय वर्णन दोहराए हैं, मानस में शेष वर्णन किये हैं। ३—कथा प्रवाह न होने और स्फुट विषयों के लम्बे वर्णनों से प्रबन्धकाव्य नहीं। ४—बाल्य जीवन, हनुमान पराक्रम आदि सुन्दर प्रकरण, रसों का कुशलतापूर्ण परिपाक। ५—संस्कृत सम्पुटित व्रज भाषा, कवित्त सवैया छप्पय आदि छन्द, ओजस्वी रचना।

प्रश्न १०—'विनय पत्रिका' पर एक परिचयात्मक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर—विनय पत्रिका गोस्वामी जी की प्रौढ़तम रचना है। इसमें उनके दार्शनिक सिद्धान्त और भक्ति सम्बन्धी विचार प्रकट किये गये हैं। वास्तव में यह उनकी भगवान् समक्ष के कलिकाल के अत्याचारों के विरुद्ध प्रेषित विनय-पत्रिका या प्रार्थना-पत्र है। इसमें कुल २७९ पद हैं जिनमें कि राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान, सूर्य गणेश, शिव आदि अनेक देवी-देवताओं की विनय की गई है। बीच-बीच में उन्होंने अपनी भक्ति सम्बन्धी साधना की पूर्णता की कामना की है।

'विनय-पत्रिका' का महत्त्व मानस की अपेक्षा इसलिए अधिक है कि वह उनकी प्रौढ़ावस्था की रचना है। उनका वैदुष्य और कवित्व इस तक आते-आते और भी निखर गया है। दूसरी बात यह है कि इसके द्वारा उनके दार्शनिक और भक्ति-सम्बन्धी विचारों का ज्ञान होता है।

'केसव कहि न जाइ का कहिए।'
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए।

में उनके दार्शनिक विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें सन्त सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन पर गुन नहीं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि गहौंगो।

इस पद में गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति-साधना की पूर्ति की कामना की है जिसके द्वारा भक्त भगवत्कृपा की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।

विनय-पत्रिका का भक्तों में बहुत आदर है। उसके अनेक पद तो जनता की वाणी पर चढ़े हुए हैं।

"जाके प्रिय न राम वैदेही।"
"ऐसो को उदार जग माहीं।"
"अब लौं नसानी अब न नसैहौं।"

उपर्युक्त पद उनमें से प्रमुख हैं। संगीतज्ञ रसिकों के ये तो हृदय के हार बन गये हैं।

विनय-पत्रिका की रचना परिष्कृत ब्रज भाषा में हुई है। गीतावली की भाँति यह भी गेय काव्य है। किन्तु इसमें गीति काव्य की दृष्टि से वह माधुर्य नहीं आ पाया है, जो कि गीतावली में आया है, इसका कारण उसका पद-विन्यास है। इसमें एक तो लम्बे-लम्बे समास हैं, दूसरी बात यह कि दार्शनिकता के कारण भाव बोझिल हो गये हैं, गीतावली की सी सुकुमारता नहीं रही है। पर यह त्रुटि सर्वत्र नहीं है।

"सुनु सीतापति सील सुभाऊ।"

जैसे पद सरल एवं उसी प्रकार का माधुर्य लिए हुए हैं।

विनय-पत्रिका यद्यपि मुक्त काव्य है तथापि उसका संगठन इस प्रकार हुआ है कि सुयोजित प्रबन्ध रचना सी जान पड़ती है। प्रार्थना पद में विषय—

सामग्री जिस क्रम से आनी चाहिए, उसी प्रकार प्रस्तुत की गई है।

इन्हीं कारणों से विनय-पत्रिका को तुलसीदास जी के काव्यों में अति महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

स्मृति-सकेत

१—प्रौढ़तम रचना, दार्शनिक सिद्धांत, भक्ति भाव, भगवान के प्रति प्रार्थना पत्र। २—२७९ पद, राम आदि एवं सूर्य, गणेश आदि की स्तुति। ३—प्रौढ़ावस्था की रचना, विचारों की प्रौढ़ता, भक्ति सम्बन्धी साधना का ज्ञान। ४—अनेक पदों के समस्त पदों की अधिकता से संगीत में बाधा ५—भक्त समाज में अति लोकप्रिय रचना। ६—परिष्कृत व्रज भाषा में राग रागनियों में रचना, गीतावली का-सा माधुर्य नहीं है।

प्रश्न ११—दोहावली की भाव सामग्री और काव्यगत विशेषताओं पर एक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर—'दोहावली' गोस्वामी जी के दोहों का संग्रह है। इसमें कुल ५७३ दोहे हैं, जिनमें से ८५ रामचरित मानस से लिये है, ३५ रामाज्ञा प्रश्न के हैं, सतसई के १३२ वैराग्य सदीपनी के ७, शेष स्वतन्त्र रचित है। इस प्रकार यह संग्रह ग्रन्थ हैं।

दोहावली का विषय क्षेत्र व्यापक है। उसमें नाम की महिमा भक्ति की साधना, नीति, प्रेम, कलियुग की दशा आदि का निरूपण है। इसके प्रेम सम्बन्धी दोहे अति आकर्षक है। उनमें जो चातक के प्रेम का प्रतिपादन है, वह अत्याकर्षक है। इसमें राम नाम का आश्रय मनुष्य के लिए कितना आवश्यक है, इसका उल्लेख करते हैं।

राम नाम अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस।
तुलसी वारिद बूंद गहि, चाहत चढ़न अकास॥

राम की उदारता का वर्णन करते हैं—

सुवरन को पारस करन, वारिद बरसन बान।
धनद कोष का सरसता, राम प्राणि पहिचान॥

अपने अनन्य प्रेम का प्रतिपादन वे चातक के प्रेम का उदाहरण दिया

करते हैं—

एक भरोसो एक बल, एक आस विसवास।
एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

नीति के सम्बन्ध में

पेट न फूलत बिनु कहे, कहत न लागत डेर।
तुलसी बात निकारिए, समुझि सुफेर कुफेर।८

राम नाम भजन के बिना सारे ही यज्ञादि साधन व्यर्थ हैं—

राम नाम एक अंक है, सब साधन है सून।
अंक गये कछु ना रह, अंक रहे दस गून॥

इसमें कुछ दोहे संस्कृत के श्लोकों के अनुवाद हैं। वे समास पद्धति के कारण अति ही क्लिष्ट हो गये हैं, किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है, साधारण रूप में उनके दोहे बहुत ही आकर्षक हैं।

व्याख्या-भाग

अयोध्या काण्ड

बिषई जीव पाइ प्रभुताई । मूढ़ मोह बस होहिं जनाई ।।
भरतु नीति रत साधु सुजाना । प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना ।।
तेऊ आजु राम पदु पाई । चले धरम मरजाद मेटाई ।।
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी । जानि राम बनवास एकाकी ।।
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू । आए करै अकंटक राजू ।।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई । आए दल बटोरि दोउ भाई ।।
जौं जियँ होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ बाजि गजाली
भरतहि दोसु देइ को जाएँ । जग बौराइ राज पदु पाएँ ।।
दो०—ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान ।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान ।। (पृ० २८)

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' के अयोध्याकाण्ड से उद्धृत है । राम के बनवास के उपरान्त भरत राम से मिलने के लिए चलदिये । जब राम को उनके ससैन्य आने की खबर मिली, तो लक्ष्मण ने संशय किया जो यहाँ व्यक्त हुआ है । लक्ष्मण कहते हैं ।

व्याख्या—मूढ़ विषयी जीव प्रभुता पाकर मोह के वश अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देते हैं । भरत नीतिपरायण, साधु तथा चतुर है तथा प्रभु के चरणों में उनका प्रेम है, इस बात को सारा संसार भली प्रकार जानता है । वे भरत भी आज श्रीरामचन्द्र जी का पद पाकर धर्म की मर्यादा को मिटाकर चले हैं । कुटिल खोटे भाई भरत बुरा समय देखकर और यह जानकर कि राम जी बनवास में अकेले और असहाय हैं, अपने मन में बुरा विचार करके, समाज जोड़कर राज्य को निष्कंटक करने के लिए यहां आये हैं । अनेक प्रकार की कुटिलताएँ रचकर सेना एकत्रित करके दोनों भाई आये हैं । यदि उनके

हृदय में छल-कपट और कुचाल न होती, तो रथ घोड़े और हाथियों के समूह ऐसे समय किसे सुहाते ? किन्तु भरत को ही व्यर्थ कौन दोष दे ? राजपद पा जाने पर सम्पूर्ण संसार ही पागल होजाता है। ऐसे अनेक उदाहरण सामने हैं चन्द्रमा गुरु पत्नीगामी हुआ, राजा नहुष ब्राह्मणों की पालकी पर चढ़कर शची से विवाह करने के लिये गया और राजा बेन के समान नीच तो कोई नहीं होगा, जो लोक और वेद दोनो से विमुख हो गया।

विशेष—(१) इन पक्तियों में लक्ष्मण का क्रोधी स्वभाव व्यक्त हुआ है। (२) भाषा भावानुसारिणी है।

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहि मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छोड़ै छोनी॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रविबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥
कहत भरत गुन सील सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥
दो०—सुनि रघुबर बानी बिबुध देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो प्रभु को कृपानिकेतु॥ (पृष्ठ ३०)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरित मानस' के अयोध्याकाण्ड से उद्धृत हैं। ननिहाल से लौटने पर भरत जी राम बनवास की खबर पाकर बहुत दुःखी हुये और अपनी ग्लानि के निवारण के लिए पुरजन-परिजन सहित चित्रकूट जा पहुँचे। जब राम लक्ष्मण को भरत का समाचार मिला तो लक्ष्मण बहुत बिगड़े। उन्होंनें समझा, शायद भरत युद्ध करने आये हैं। प्रस्तुत उद्धरण में राम भरत की प्रशंसा करते हुए लक्ष्मण से कह रहे हैं :

व्याख्या—अन्धकार चाहे मध्याह्न के सूर्य को निगल जाय; आकाश चाहे बादलों में समाकर मिलजाय; गाय के खुर इतने जल में अगस्त्य जी डूब जायें

और धीर चाहे अपनी स्वाभाविक क्षमा अथवा सहनशीलता को छोड़ दें; मच्छर की फूंक मात्र से चाहे सुमेरु पर्वत उड़ जाय परन्तु हे बंधु ! भरत को राजमद कभी हो ही सकता। हे लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी शपथ और पिता जी की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, भरत के समान पवित्र पौर उत्तम भाई संसार में नही है। हे तात ! गुन रूपी दूध और अवगुण रूपी दूध और अवगुण रूपी जल का मिलाकर विधाता इस जगत् का निर्माण करता है। परन्तु भरत ने सूर्यवंश रूपी तालाब में हंस रूप जन्म लेकर गुण और दोष का विभाग कर दिया अर्थात् दोनों को अलग-अलग कर दिया। गुण रूपी धदू को ग्रहण कर और अवगुण रूपी जल को त्याग कर भरत ने अपने यश से जगत में उजियाला कर दिया है भरत जी के गुण, शील और स्वभाव को कहते श्री नेमचन्द्र जी प्रेम समुद्र में मग्न हो गये। श्री रामचन्द्र जी के शब्दों को सुनकर और भरत जी पर उनका प्रेम देखकर समस्त देवता उनकी प्रशंसा करने लगे और कहने लगे कि श्री रघुनाथ जी के समान कृपा के धाम प्रभु कौन हैं ?

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन ॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं ॥
बचन सपेम लखन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जियँ जाने ॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोरा ॥
मिलि न जाइ नहि गुदरत बनई। सुकबि लखन मन की गति भनई ॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥
उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट्ट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥

दो०—बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥ (पृष्ठ ३३)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'रामचरित मानस' के अयोध्या काण्ड से उद्‌धृत हैं। श्रीराम जी चित्रकूट पर निवास कर रहे हैं, तभी भरत जी शत्रुघ्न, मुनिवशिष्ठ और ग्राम निवासियों के साथ राम को अयोध्या पुनः लौटाने के लिए जाते हैं। उस समय के राम भरत मिलन का

वर्णन कवि ने यहां चित्रित किया है।

व्याख्या—छोटे भाई शत्रुघ्न और सखा निषादराज समेत भरत जी का मन प्रेम में मग्न हो रहा है। हर्ष-शोक, सुख-दुख आदि सब भूल गये। हे नाथ ! रक्षा कीजिए, हे गुसाईं रक्षा कीजिए। ऐसा कहकर वे पृथ्वी पर दण्ड की तरह गिर पड़े। प्रेम भरे वचनों से लक्ष्मण जी ने पहचान लिया और मन में जान लिया की भरत जी प्रणाम कर रहे हैं। वे श्रीरामजी की ओर मुँह किये खड़े थे, भरत जी पीठ पीछे थे; इससे उन्होंने देखा नहीं। अब इस ओर तो भाई भरत जी का सरस प्रेम, उधर स्वामी श्रीराम जी की सेवा की प्रबल परवशता न तो मिलते ही बनता है और न प्रेमवश उपेक्षा करते ही। कोई श्रेष्ठ कवि ही लक्ष्मण जी के चित्त की इस गति का वर्णन कर सकता है। वे सेवा को ही विशेष महत्वपूर्ण समझ कर उसी में लगे रहे मानो चढ़ी हुई पतंग को खिलाड़ी खींच रहा हो। लक्ष्मण जी ने प्रेम सहित पृथ्वी पर मस्तक नवाकर कहा—हे रघुनाथ जी ! भरत जी प्रणाम कर रहे हैं। यह सुनते ही श्रीराम जी प्रेम में अधीर होकर उठे। कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकस, कहीं धनुष और कहीं बाण। कृपानिधान श्रीराम ने उनका बलपूर्वक उठाकर हृदय से लगा लिया। भरत जी और श्रीरामजी के मिलने की रीति को देखकर सब अपने आपको भूल गये।

वशेष—(१) राम भरत का प्रेम द्रष्टव्य है।

(२) लक्ष्मण की कर्त्तव्य-निष्ठा ध्यातव्य है।

(३) अलकार उत्प्रेक्षा।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी
परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि थित अहमिति बिसराई
कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गांडर ताँती॥
मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी॥

समुझाए सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रससन लागे ॥
दो०—मिलि सपेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम।
भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम ॥ (पृष्ठ ३३)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियां गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'रामचरितमानस' के अयोध्या काण्ड से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में कवि ने राम-भरत मिलन का वर्णन किया है। कवि का कहना है :

व्याख्या—राम और भरत के मिलन के समय की प्रीति कैसे कही जाय ? वह तो कविकुल के लिए मन वचन और कर्म से अगम है। दोनों भाई मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को भुलाकर परम प्रेम से पूर्ण हो रहे हैं। कहिये, उस सच्चे प्रेम को कौन प्रकट करे ? कवि की बुद्धि किसी की छाया का अनुसरण करे ? कवि को तो अक्षर और अर्थ का सच्चा बल है। नट ताल की गति के अनुसार ही नाचता है। भरत जी और राम का प्रेम अगम्य है, जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का भी मन नहीं जा सकता। उस प्रेम का वर्णन मैं अपनी कुबुद्धि से कैसे कर सकता हूँ। भला, गाँडर की तांत से भी कहीं सुन्दर राग बजता सुना गया है। भरत जी और श्रीराम जी के मिलन का ढंग देखकर देवता भयभीत हो गये, उनकी धुक-धुकी धड़कने लगी। देव गुरु बृहस्पति ने समझाया, तब कहीं वे मूर्ख जागे और फूल बरसाकर प्रशसा करने लगे। फिर श्रीराम जी प्रेम के साथ शत्रुघ्न से मिलकर तब निषादराज केवट से मिले। प्रणाम करते हुये लक्ष्मण जी भरत जी से बड़े ही प्रेम से मिले।

विशेष—(१) भरत-राम-लक्ष्मण के मिलन के समय का प्रेम द्रष्टव्य है।
(२) अलंकार अतिशयोक्ति दृष्टान्त।

बिकल सनेहँ सीय सब रानी। बैठन सबहि कहेउ गुर ग्यानी ॥
कहि जग गति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा ॥
नृप कर सुरपुर गवनु सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा ॥
मरन हेतु निज नेहु बिचारी। भे अति बिकल धीर धुर धारी ॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लखन सीय सब रानी ॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राजु अकाजेउ आजू।

मुनिबर बहुरि राम समुझाए। सहित समाज सुसरित नहाए ॥
ब्रतु निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहें जलु काहुँ न लीन्हा ॥
दो०—भोरु भएँ रघुनंदनहि जो मुनि आयसु दीन्ह।
श्रद्धा भगति समेत प्रभु सो सबु सादरु कीन्ह ॥ (पृष्ठ ३५-३६)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियां गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित-रामचरित मानस के अयोध्याकाण्ड़ से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में कवि ने राजा दशरथ के मरण का समाचार पाने के अनन्तर नर-नारियों की व्यथा का चित्रण किया है। कवि का कहना है :

व्याख्या—सीता जी और सब रानियाँ स्नेह के मारे व्याकुल हैं। तब ज्ञानी गुरु ने बैठ जाने के लिए कहा फिर मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ जगत् की गति को मायिक कहकर अर्थात् जगत् माया का है, इसमें कुछ भी नित्य नहीं है, ऐसा कहकर कुछ परमार्थ की कथायें कहीं। इसके पश्चात वशिष्ठ जी ने राजा दशरथ के स्वर्ग गमन की बात सुनाई, जिसे सुनकर रघुनाथ जी ने असह्य दुःख पाया और अपने प्रति उनके स्नेह को उनके मरण का कारण विचार कर धीर धुरन्धर रामचन्द्र जी अत्यन्त व्याकुल हो गये। बज्र के समान कठोर, कड़वी वाणी सुनकर लक्ष्मण जी, सीता जी और सब रानियां विलाप करने लगीं। सारा समाज शोक से अत्यंत आकुल हो गया। मानो राजा आज ही मरे हों। फिर मुनिश्रेष्ठ जी ने श्रीराम जी को समझाया। तब उन्होंने समाज सहित मंदाकिनी नदी में स्नान किया। उस दिन प्रभु श्रीराम चन्द्र जी ने निर्जल व्रत किया। मुनि वशिष्ठ जी के कहने पर भी किसी ने जल ग्रहण नहीं किया। दूसरे दिन सवेरा होने पर मुनि वशिष्ठ जी ने श्री रघुनाथ जी को जो-जो आज्ञा दी, वह सब कार्य प्रभु श्रीरामचरित जी ने श्रद्धा-भक्ति सहित आदर के साथ किया।

विशेष—(१) करुण रस की धारा प्रवाहित है।
(२) भाषा भावानुकूल है।
(३) अलंकार अनुप्रास।

कहउं सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी ॥
तात कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ ॥
मुनि गन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं ॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना ॥
तात तुम्हहि मैं जानउँ नीकें। करौं काह असमंजस जी कें ॥
राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी ॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू ॥
ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा
दो०—मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु ॥ (पृ० ४२-४३)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरित मानस' के अयोध्या काण्ड से उद्धृत हैं। इन पक्तियों में श्रीराम भरत के प्रति अपना विश्वास और प्रेम व्यक्त कर रहे हैं।

व्याख्या—हे भरत! मैं स्वभाव से ही सत्य कहता हूँ, शिव जी साक्षी हैं, यह पृथ्वी तुम्हारी रखी ही रखी हुई है! हे तात! तुम व्यर्थ वाद-विवाद मत करो। बैर और प्रेम छिपाये नहीं छिपते। पक्षी और पशु मुनियों के पास वेधड़क चले जाते हैं, पर हिंसा करने वाले बधिकों को देखते ही भाग जाते हैं। मित्र और शत्रु को पशु-पक्षी भी पहचानते हैं, फिर मनुष्य शरीर तो गुण और ज्ञान का भण्डार ही है। हे तात! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ! क्या करूं? जी में बड़ी दुविधा है। राजा ने मुझे त्यागकर सत्य को रखा और प्रेम-प्रण के लिए शरीर को छोड़ दिया। उनके वचनों को मेटते मन में सोच होता है। उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच है। उस पर भी गुरु जी ने मुझे आज्ञा दी है। इसलिए अब तुम लो कुछ कहो, अवश्य ही में वही करता चाहता हूँ। तुम मन को प्रसन्न कर और संकोच को को त्याग कर जो कुछ कहो, मैं आज वही करूं। सत्यप्रतिज्ञ रघुकुल श्रेष्ठ श्रीराम जी का यह वचन सुनकर सारा समाज सुखी हो गया।

विशेष—(१) श्रीराम का भरत के प्रति अनन्य प्रेम ध्यातव्य है।

(२) भाषा प्रवाहपूर्ण और अवसरानुकूल है।

कहौं कहावौं का अब स्वामी। कृपा अंबुनिधि अंतरयामी॥
गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥
अपडर डरेउँ न सोच समूलें। रबिहि न दोसु देव दिसि भूलें॥
मोर अभागु मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषम काल कठिनाई॥
पाउ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला॥
यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई॥
जगु अनभल भल एकु गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ

दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच॥ (पृ० ४३-४४)

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यावतरण तुलसी द्वारा विरचित 'रामचरित मानस' के अयोध्या काण्ड के अवतरित है। चित्रकूट में श्रीराम के सम्मुख सभा जुड़ी हुई है, जिसमें भरत बोल रहे हैं।

व्याख्या—हे स्वामी! हे कृपा के समुद्र! हे अन्तर्यामी! अब मैं अधिक क्या कहूँ और क्या कहाऊँ? गुरु महाराज को प्रसन्न और स्वामी को अनुकूल जान कर मेरे मलिन मन की कल्पित पीड़ा दूर हो गयी। मैं मिथ्या भय से ही डर गया था, मेरे सोच की जड़ ही न थी। दिशा विभ्रम हो जाने पर हे देव! सूर्य का दोष नहीं है। मेरा दुर्भाग्य, माता की कुटिलता, विधाता की वाम-गति और काल की कठिनता इन सबने मिलकर पैर रोप कर मुझे नष्ट कर दिया था लेकिन शरणागत के रक्षक आपने अपना प्रण निबाहा और मुझे बचा लिया। यह आपकी कोई नही रीति नई है। यह लोक और वेदों में प्रकट है, छिपा नहीं है। सम्पूण संसार बुरा करने वाला हो, किन्तु हे स्वामी! केवल एक आप ही भले और अनुकूल हों, तो फिर कहिये, किसी की भलाई से भला हो सकता है? हे प्रभु! आप का स्वभाव कल्पवृक्ष के जैसा है, वह न कभी किसी के सम्मुख है और न प्रतिकूल। उस कल्पवृक्ष को पहचान कर जो उसके पास जाय, तो उसकी छाया ही सम्पूर्ण चिन्ताओं का विनाश करने वाली है। राजा-

रंक, भले-बुरे जगत में सभी उससे माँगते ही इच्छानुसार वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं।

जासु ग्यानु रबि भव निसि नासा। वचन किरन मुनि कमल बिकासा ।
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सिय राम सनेहु बड़ाई ॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू ॥
सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥
मुनि बहुबिधि बिदेहु समुझाए। राम घाट सब लोग नहाए ॥
सकल सोक संकुल नर नारी। सो बासरु बीतेउ बिनु बारी ॥
पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजन कर कौन बिचारू ॥

दो०—दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहाने प्रात ।
बैठे सब बट बिटप तर मन मलीन कृस गात ॥ (पृ० ४७-४८)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'रामचरित मानस' के अयोध्या कांण्ड से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में कवि ने श्रीराम के प्रेम की महिमा का वर्णन किया है।

व्याख्या—जिन राजा जनक का ज्ञान रूपी सूर्य भव। (आवागमन) रूपी रात्रि का नाश कर देता है और जिनकी वचन रूपी किरणें मुनि रूपी कमलों को खिला देती हैं, क्या मोह और ममता उनके निकट भी आ सकते हैं? यही तो श्रीराम जी के प्रेम की महिमा है। विषयी, साधक और ज्ञानवान् सिद्ध पुरुष-जगत् में ये तीन प्रकार के जीव वेदो ने बताये हैं। इन तीनों में जिसका चित्त श्रीराम के स्नेह से सरस रहता है, साधुओं की सभा में उसी का बड़ा आदर होता है। श्रीराम जी के प्रेम के बिना के ज्ञान शोभा नहीं देता, जैसे कर्णधार के बिना जहाज! वशिष्ठ जी ने विदेहराज जनक जी को बहुत प्रकार से समझाया। तदन्तर सब लोगों ने श्रीराम जी के घाट पर जाकर स्नान किया। स्त्री-पुरुष सब शोक से पूर्ण थे। वह दिन बिना ही जल के बीत गया, भोजन की बात तो दूर रही, किसी ने जल तक नहीं पिया। पशु-पक्षी और हिरनों तक ने कुछ आहार नहीं किया। तब प्रियजनों एवं कुटुम्बियों का तो विचार ही क्या किया जाय? निमिराज जनक जी और रघुराज रामचन्द्र जी

तथा दोनों ओर के समाज ने दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान किया और सब वड़ के वृक्ष के नीचे जा बैठे। सबके मन उदास और शरीर दुर्बल हो गये थे।

विशेष— अलंकार—रूपक।

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधू देवसरि बारी॥
राम सपथ मैं कीन्हि न काऊ। सो करि कहउँ सखी सति भाऊ॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहि उलीचे॥
जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा॥
कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ। पुरुष परिखिअहिं समयँ सुभाएँ॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेहँ सयानप थोरा॥
सुनि सुरसरि सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी॥

दो०—कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि॥ (पृष्ठ ५०)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'रामचरितमानस' के अयोध्या काण्ड से उद्धृत हैं। चित्रकूट में राम-परिवार तथा राजा जनक-परिवार दोनों विद्यमान हैं। सीता की माता सुनयना रामजननि कौशल्या से मिलने आई हैं। इन पंक्तियों में कौशल्या के माध्यम से कवि भरत के चरित्र का उद्‌घाटन कर रहा है।

व्याख्या—ईश्वर के अनुग्रह और आपके आशीर्वाद से मेरे चारों पुत्र और चारों बहुएं गंगा के जल के समान पवित्र हैं। हे सखि! मैंने कभी श्रीराम की शपथ नहीं ली, सो आज श्रीराम की शपथ करके सत्य भाव से कहती हूँ—भरत के शील, गुण, नम्रता, बड़प्पन, भाईपन, भक्ति, भरोसे और भलेपन का वर्णन करने में सरस्वती जी की बुद्धि भी हिचकती है। सीप से भला कहीं समुद्र को उलीचा जा सकता है। मैं भरत को सदा कुल का दीपक समझती हूँ। महाराज ने भी बार-बार मुझे यही कहा था। सोना कसौटी पर कसे जाने पर और रत्न पारखी के मिलने पर ही पहचाना जाता है। वैसे ही पुरुष की परीक्षा समय पड़ने पर उसके स्वभाव से ही हो जाती है किन्तु आज मेरा ऐसा कहना भी अनुचित है। शोक और प्रेम में विवेक की मात्रा कम हो जाती है अर्थात् लोग

कहेंगे कि मैं स्नेहवश भरत की प्रशसा कर रही हूँ। कौशल्या जी की गंगा जी के समान पवित्र करने वाली वाणी को सुनकर सब रानियाँ स्नेह के मारे आकुल-व्याकुल हो उठीं। कौशल्या जी ने फिर धैर्य धारण करके कहा- हे देवी मिथिलेश्वरी ! सुनिये, ज्ञान के भंडार श्री जनक जी की प्रिया आपको कौन उपदेश दे सकता है ?

रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई ।।
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं वन। जौं यह मत मानै महीप मन ।।
तो भल जतनु करब सुबिचारी। मोरें सोचु भरत कर भारी ।।
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं ।।
लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी। सब भइ मगन करुन रस रानी ।।
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेहँ सिद्ध जोगी मुनि ।।
सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्राँ कहेऊ ।।
देबि दंड जुग जामिनि बीती। राम मातु सुनि उठी सप्रीती ।।

दो०—बेगि पाउ धारिअ थलहि कह सनेहँ सतिभाय।
हमरें तो अब ईस गति कै मिथिलेस सहाय ।। (पृष्ठ ५०-५१)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'रामचरित मानस' के अयोध्या कांड से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में कवि ने कौशल्या जी की भरत सम्बन्धी भावना को व्यक्त किया है। कौशल्या जी का मिथलेश्वरी से कहना है :

व्याख्या—हे रानी ! अवसर पाकर आप राजा को अपनी ओर से जहाँ तक हो सके, समझाकर कहियेगा कि लक्ष्मण को घर रख लिया जाय और भरत वन को जाँय। यदि यह सलाह राजा के मन में बैठ जाय, तो भली-भाँति खूब सोच-विचार कर ऐसा प्रयास करें। मुझे भरत का अत्यधिक सोच है। भरत के मन में गूढ़ प्रेम है। उनके घर रहने में मुझे भलाई नहीं जान पड़ती। यह डर लगता है कि उनके प्राणों को कहीं कोई भय नहीं हो जाये। कौशल्या जी का स्वभाव देखकर और उनकी सरल तथा उत्तम वाणी को सुनकर सब रानियां करुण रस में निमग्न हो गईं। आकाश से पुष्प वर्षा की झड़ी लग गयी और धन्य-धन्य की आवाज होने लगी। सिद्ध, योगी और मुनि स्नेह से शिथिल हो

गये। सारा रनिवास देखकर स्तब्ध रह गया, तब सुमित्रा जी ने धैर्य धारण करके कहा कि हे देवि ! दो घड़ी रात व्यतीत हो गई है। यह सुनकर श्रीराम जी की माता कौशल्या प्रेमपूर्वक उठीं और सद्भाव से बोलीं—अब आप शीघ्र डेरे को पधारिये। हमारे तो अब ईश्वर ही गति है अथवा मिथिलेश्वर जनक जी सहायक हैं।

सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरतु धीर धरि भारी॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू॥
सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥
एहिं समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेबाधरमु कठिन जगु जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहिं बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥
दो०—राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सब कें संमत सर्ब हित करिअ पेमु पहिचानि॥ (पृष्ठ ५४)

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा लिखित 'रामचरित मानस' के अयोध्या कांड से उद्धृत है। सभा अन्तिम निर्णय के लिए जुड़ी हुई है। महाराज जनक ने राम को सत्यव्रती और धर्मपरायण कहा है। इसलिए भरत जी आज्ञा दें वह उनसे कहा जाय। इस बात को सुनकर भरत गद्गद् हो जाते हैं और कहते हैं :

व्याख्या—भरत जी यह सुनकर पुलकित शरीर हो नेत्रों में जल भरकर बड़ा धैर्य धारण करके कहने लगे—हे प्रभु ! आप हमारे पिता के समान प्रिय और पूज्य हैं और कुलगुरु वशिष्ठ जी के समान हितैषी तो माता-पिता भी नहीं हैं। विश्वामित्र जी आदि मुनियों और मंत्रियों का समाज है और आज के दिन ज्ञान के सागर आप भी उपस्थित हैं। हे स्वामी ! मुझे अपना बच्चा, सेवक और आज्ञानुसार चलने वाला समझकर शिक्षा दीजिए। इस समाज और पुण्य स्थल में आप जैसे ज्ञानी और पूज्य का पूछना। इस पर यदि मैं मौन रहता हूँ तो पापी समझा जाऊँगा और बोलना पागलपन होगा। तथापि मैं छोटे मुँह

बड़ी बात कहता हूँ। हे तात! विधाता को प्रतिकूल जानकर क्षमा कीजिए। वेद, शास्त्र और पुराणों में प्रसिद्ध है और जगत् जानता है कि सेवा धर्म बड़ा कठिन है। स्वामी-धर्म में और स्वार्थ में विरोध हैं। दोनों एक साथ नहीं निभ सकते। प्रेम को ज्ञान नहीं रहता और वैर अंधा होता है, मैं स्वार्थवश कहूँगा या प्रेमवश, दोनों में ही भूल होने का भय है। अतएव मुझे पराधीन जानकर, मुझ से न पूछकर, श्री रामचन्द्र जी के रुख, धर्म और व्रत को रखते हुए, जो सबके सम्मत और सबके लिए हितकारी हो, आप सबका प्रेम पहचान कर वही कीजिए।

विशेष—(१) भरत की भायप-भक्ति द्रष्टव्य है।

(२) अलंकार—अनुप्रास।

सभा सकुच बस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरजु भारी॥
कुसमय देखि सनेहु सभारा। बाढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥
सोक कनक लोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जगजोनी॥
भरत बिबेक बराहँ बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥
करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे। रामु राउ गुर साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥
हियँ सुमिरीं सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥
बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥
दो०—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥ (पृष्ठ ५५-५६)

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरित मानस' के अयोध्या काण्ड से उद्धृत हैं। भरत ने कहा है कि राम और जनक मुझे जो आज्ञा देंगे वह शिरोधार्य होगी। इस पर सभी संकुचित हो गये। सभा की इस प्रतिक्रिया पर भरत की स्थिति का वर्णन है :

व्याख्या—भरत जी ने सबको संकोच सहित देखा। रामबंधु भरत जी ने अत्यन्त धीरज धरकर और बुरा समय जानकर अपने उमड़ते हुए प्रेम को संभाला। जैसे बढ़ते हुए विंध्याचल को अगस्त्य जी ने रोका था। शोक रूपी हिरण्याक्ष ने सारी सभा की बुद्धि रूपी पृथ्वी को हर लिया जो विमल गुण

समूह रूपी जगत की योनि (उत्पन्न करने वाली) थी। भरत जी के विवेक रूपी विशाल वराह ने बिना ही परिश्रम के उसका उद्धार कर दिया। भरत जी ने प्रणाम करके सबके प्रति हाथ जोड़े तथा श्रीरामचन्द्र जी, राजा जनक जी, गुरु वशिष्ठ जी और साधु-सन्त सबसे विनती की और कहा—आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित बर्ताव को क्षमा कीजियेगा। मैं छोटे मुख से कठोर वचन कह रहा हूँ। फिर उन्होंने हृदय में सुहावनी सरस्वती जी का स्मरण किया। वे मानस से उनके मुखारविन्द पर आ बिराजी। निर्मल विवेक, धर्म और नीति से युक्त भरत जी की वाणी सुन्दर हंसिनी के समान गुण-दोष का विवेचन करने वाली है। विवेक के नेत्रों से सारे समाज को प्रेम से शिथिल देख, सबको प्रणाम कर, श्री सीता जी और श्री राम का स्मरण कर भरत जी ने आगे कहना प्रारम्भ किया।

विशेष—अलंकार—रूपक।

सभा सकल सुनि रघुबर बानी। प्रेम पयोधि अमिअ जनु सानी॥
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी॥
भरतहि भयउ परम संतोन। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू॥
कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी : बोले पानि पंकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुखु साथ गए को। लहेउ लाहु जग जनमु भए को॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलब देव मोहि देई। अवधि पाच पावौं जेहि सेई॥

दो०—देव देव अभिषेक हित गुर अनुसासनु पाइ।
आनेउ सब तीरथ सलिलु तेहि कहँ काह रजाइ॥ (पृष्ठ ५९-६७)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'रामचरित मानस' के अयोध्या काण्ड से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में श्रीराम जी की मधुर वाणी के श्रवण से उपस्थित जनों की शिथिलता (प्रेम के कारण) और भरत की भायप-भक्ति का चित्रण हुआ है। कवि का कहना है :

व्याख्या—श्रीरामचन्द्र जी की वाणी सुनकर, जो मानो प्रेम रूपी समुद्र के अमृत में सनी हुई थी, सारा समाज शिथिल हो गया ; सबको प्रेमसमाधि लग गई। यह दशा देखकर सरस्वती ने चुप साध ली। भरत जी को परम सन्तोष हुआ। स्वामी के सम्मुख होते ही उनके दुःख और दोषों ने मुँह मोड़ लिया। उनका मुख प्रसन्न हो गया और मन का विषाद मिट गया। मानो गूँगे पर

सरस्वती की कृपा हो गयी हो। उन्होंने फिर प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और कर-कमलों को जोड़कर वे बोले—हे नाथ ! मुझे आपके साथ जाने का सुख प्राप्त हो गया और मैंने जगत् में जन्म लेने का लाभ भी पा लिया । हे कृपालु ! अब जैसी आज्ञा हो, उसी को मैं शिरोधार्य आदरपूर्वक करूँ ? परन्तु हे देव ! आप मुझे वह अवलम्ब दें जिसकी सेवा कर मैं अवधि का पार पा जाऊं अर्थात् समय व्यतीत कर दूं । हे देव ! स्वामी, आपके अभिषेक के लिए गुरुजी की आज्ञा पाकर मैं सब तीर्थों का जल लेता आया हूँ, उसके लिए क्या आज्ञा होती है।

राजधरम सरबस एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई ॥
बंधु प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोषु न साँती ॥
भरत सील गुर सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू ॥
प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्ही - सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के ॥
कुल कपाट कर कुसल करम के : बिमल नयन सेवा सुधरम के ॥
भरत मुदित णवलम्ब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें ॥

दो०—मागेउ बिदा प्रनामु करिराम लिए उर लाइ ।
लोग उचाटे अमरपति कुटिल कुअवसरु पाइ ॥ (पृष्ठ ६३)

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'रामचरितमानस' के अयोध्या काण्ड से उद्धृत है। श्रीराम समझा-बुझाकर भरत जी को वापिस लौटा रहे हैं—इन पंक्तियों में उसी अवसर का चित्रण है।

व्याख्या—हे भरत जी ! राजधर्म का सर्वस्व (सार) भी इतना ही है। जैसे मन के भीतर मनोरथ छिपा रहता है। श्री रघुनाथ जी ने भाई को अनेक प्रकार से समझाया। परंतु कोई अवलम्बन पाये बिना उनके मन को संतोष और शांति नहीं मिली। इधर तो भरत जी का शील और उधर गुरुजनों, मन्त्रियों तथा समाज की उपस्थिति ! यह देखकर श्री रामचन्द्र जी संकोच तथा स्नेह के विशेष वशीभूत हो गये। अन्त में श्री रामचन्द्र जी ने कृपा कर अपनी खड़ाऊं दे दीं और भरत जी ने उन्हें आदरपूर्वक सिर पर धारण कर लिया। करुणा-निधान श्री रामचन्द्र जी की दोनों खड़ाऊँ प्रजा के प्राणों की रक्षा के लिए मानों दो पहरेदार हैं। भरत जी के प्रेम रूपी रत्न के लिए मानो डिब्बा है और जीव के साधन के लिए मानो राम-नाम के दो अक्षर हैं। रघुकुल की

रक्षा के लिए दो किवाड़ हैं। कुशल-कर्म करने के लिए हाथों की भाँति सहायक हैं और सेवा रूपी श्रेष्ठ धर्म को सुझाने के लिए निर्मल नेत्र हैं। भरत जी इस अवलम्बन के मिल जाने से परम हर्षित हैं। उन्हें ऐसा ही आनन्द का अनुभव हुआ, जैसा श्री सीताराम जी के रहने से होता। भरत जी ने प्रणाम करके विदा मांगी, तव श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। इधर कुटिल इन्द्र ने बुरा मौका पाकर लोगों का उच्चाटन कर दिया।

विशेष—अलंकार—रूपक।

मेरो यह अभिलाषु बिधाता।
कब पुरवै सखि सानुकूल ह्वै हरि सेवक-सुखदाता ॥ १ ॥
सीता-सहित कुसल कोसलपुर आवत हैं सुत दोऊ।
श्रवन-सुधा-सम बचन सखी कब आइ कहैगो कोऊ ? ॥ २ ॥
सुनि संदेस प्रेम-परिपूरन संभ्रम उठि धावोंगी।
बदन बिलोकि रोकि लोचन-जल हरषि हिये लावोंगी ॥ ३ ॥
जनकसुता कब सासु कहैं मोहि, राम लषण कहैं मैया।
बाहु जोरि कब अजिर चलहिंगे स्याम-गौर दोउ भैया ॥ ४ ॥
तुलसिदास यहि भांति मनोरथ करत प्रीति अति बाढ़ी।
थकित भईउर आनि राम-छवि मनहु चित्र लिखि काढ़ी ॥ ५ ॥
(पद संख्या १)

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'गीतावली' से उद्धृत है। इस पद में माता कौशल्या राम बनवास के उपरान्त सोच रही हैं।

व्याख्या—हे विधाता ! मेरी यह अभिलाषा है कि राम अपने अनुज और सीता सहित लौट आयें। न जाने विधाता मेरी इस अभिलाषा को कब पूरी करेंगे। दोनों पुत्र सीता सहित अवध लौट आवें और अमृतमय वाणी मुझे सुनायें। कब मेरे कानों में आकर कोई उनका प्रेमपूर्ण सन्देश सुनाये और मैं सुनकर सम्भ्रम की अवस्था में दौड़ जाऊँ और जब मैं उनका मुख देखूँगी तो आँखों में हर्ष के आँसू आ जायेंगे, किन्तु मैं उन आँसुओं को रोक लूँगी और हर्ष के साथ उन्हें अपने हृदय से लगा लूँगी। सीता कब आकर मुझे सास कहेंगी और राम-लक्ष्मण मुझे मैया कहेंगे। राम और लक्ष्मण मेरे इस आंगन में हाथ में हाथ देकर कब चलेंगे। इस प्रकार का मनोरथ करते-करते कौशल्या की और अधिक प्रीति बढ़ गयी। राम की छवि कौशल्या के सामने आ गयी। वह उनमें ऐसी लीन हो गयी मानो चित्र बना लिया हो।

विशेष—(१) मातृ अभिलाषा का मूर्त चित्र ह।
(२) पूर्ण पद में भाव सबलता है।
(३) अलंकार—उत्प्रेक्षा।

सुनि रन घायल लषन परे हैं
स्वामिकाज सग्राम सुभटसों लोहे ललकारि लरे हैं॥ १॥
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन-छिन गात सुखात, छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं॥ २॥
कपिसों कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनन्दन बिनु बन्धु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं॥ ३॥
'तात ! जाहु कपि संग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे है।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जिनु बिधिवस सुढर ढरे हैं॥ ४॥
अम्ब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥ ५॥

(पद-सख्या ६)

प्रसंग—प्रस्तुत पद 'गीतावली' से उद्धृत है। गोस्वामी जी उस समय का चित्रांकन कर रहे हैं जब लंका-युद्ध में लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर संजीवनी बूटी लेकर जाते हुए हनुमान भरत के बाण से आहत हो जाते हैं और उनसे लक्ष्मण की मूर्च्छा का समाचार ज्ञात हुआ। यहाँ सुमित्रा की मानसिक अभिव्यक्ति इस प्रकार है :

व्याख्या—सुमित्रा ने सुना कि लक्ष्मण युद्ध में घायल हो गये हैं। उन्होंने घमासान युद्ध किया था। मेघनाद जैसे शत्रु से राम के लिए (सीता लौटाने के लिए) भिड़ गये थे। सुमित्रा को पुत्र के घायल होने का शोक है और साथ ही उसे सन्तोष है कि उनका पुत्र राम के लिए लड़ा। इस प्रकार लक्ष्मण के हृदय में राम की भक्ति दृढ़ हो गयी है। इन दोनों भावों की प्रतिक्रिया के चिह्न सुमित्रा पर दिखाई पड़ते हैं। एक क्षण में तो उसके अंग कुम्हला जाते हैं और दूसरेक्षण वह पुलकित हो जाती है हनुमान से स्वाभाविक रूप से बातें करते पर भी माता सुमित्रा के नेत्र आँसुओं से भर आये। उन्होंने शत्रुघ्न से कहा कि रामचन्द्र जी आज भाई के बिना संकट में पड़ गये हैं। उन्हें इस समय सहायता की आवश्यकता है। यद्यपि सुग्रीव आदि उनके सहायक हैं, इसलिए हे पुत्र ! तुम हनुमान के साथ लंका जाओ। यह आज्ञा सुनकर शत्रुघ्न हाथ जोड़कर खड़े हो गये। वह हर्षपूर्वक पैंतरा बदल कर खड़े हो गये, मानो विधाता ने उन्हें

इसी रूप में ढाल दिया हो। सुमित्रा और शत्रुघ्न की दशा देखकर हनुमान, भरत आदि ग्लानि से उदास हो गये कि हमारा प्रेम उनके सामने कुछ नहीं। इसी समय माता ने सभी को समझा कर सावधान कर दिया।

छेमकरी ! बलि, बोलि सुबानी।

कुसल छेम सिय राम-लषन कब ऐहैं, अम्ब ! अवध रजधानी ॥१॥
ससिमुखि, कुंकुम-बरनि, सुलोचनि, मोचनि सोचनि बेद बखानी।
देवि ! दया करि देहि दरस फल, जोरि पानि बिनवहि सब रानी ॥२॥
सुनि सनेहमय वचन, निकट है मंजुल मंडल कै मड़रानी।
सुभ मंगल आनन्द गगन-धुनि अकनि-अकनि उर-जरनि जुड़ानी ॥३॥
फरकन लगे सुअंग विदिसि दिसि, मन प्रसन्न, दुख-दसा सिरानी।
करहि प्रनाम सप्रेम पुलकि तनु, मानि बिबिध बलि सगुन सयानी ॥४॥
तेहि अवसर हनुमान भरतसों कही सकल कल्यान-कहानी।
तुलसिदास सोइ चाह सजीवनि विषम वियोग ब्यथा बड़ि भानी ॥५॥

(पद-संख्या १६)

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'गीतावली' से उद्धृत है। इसमें कवि ने कौशल्या की राम के प्रति भावना की अभिव्यक्ति की है। माता कौशल्या छेमकरी चाल को सम्बोधित करती हुई कहती है:

व्याख्या—अरी छेमकरी ! मैं बलिहार जाती हूँ। अरी मैया ! तू अपनी सुन्दर वाणी के सच-सच बता कि सीता, राम और लक्ष्मण कुशलपूर्वक कब अपनी राजधानी अयोध्या को लौट आवेंगे ? हे देवि ! तू चन्द्रमा के समान मुख वाली, कुंकुम वर्ण और सुन्दर नेत्रों वाली है। वेदों ने तुझे सब प्रकार के शोकों से छुड़ाने वाली कहा है। तू दया करके हमें अपने दर्शनों का फल दे। इस प्रकार सब रानियाँ हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हैं। उनके ये स्नेहपूर्ण वचन सुनकर वह छेमकरी उनके पास होकर सुन्दर मण्डल बांधकर मंडराने लगी। उस समय आकश में उसकी शुभ, आनन्द और मंगलमयी ध्वनि सुन-सुनकर उनके हृदय की तपन शांत हो गयी। दिशा-विदिशाओं में सबके शुभ अंग फड़कने लगे। मन प्रसन्न हो गये और दुखमयी अवस्था की समाप्ति हो गयी तथा कौशल्या आदि सुचतुर स्त्रियाँ तरह-तरह की बलि और शकुन मनाती हुई प्रेम से पुलकित शरीर हो अपने आराध्य देवों को प्रणाम करने लगीं। इसी समय हनुमान जी ने भरत जी को सारा मंगल समाचार सुनाया। तुलसी[illegible] कहते हैं, उस मंगल समाचार रूप अभीष्ट संजीवनी बूटी ने उनकी अ[illegible] वियोग-वेदना को शान्त कर दिया।

विशेष—(१) इसमें मातृ-वात्सल्य की भावना स्पष्ट है।

(२) कवि की शकुन के प्रति आस्था व्यक्त हुई है।

(३) भाषा प्रवाहपूर्ण और संगीतात्मक है।

कवितावली

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर,
खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं।
तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीले गात कै कै,
लात के अघात सहै, जी मै कहै, कूर हैं॥
बाल किलकारी कै कै, तारो-दै दै गारी देत,
पाछे लागे, बाजत निसान ढोल तूर हैं।
बालधी बढ़न लागी, ढौर ढौर दीन्ही आगि,
बिन्ध की दवारि कैधों कोरि सत सूर हैं॥ (पद-संख्या ३)

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त तुलसीदास द्वारा रचित कवितावली से उद्धृत है। जब हनुमान लका गये तो उस समय उनकी पूंछ में आग लगाने और लंका-दहन का वर्णन है।

व्याख्या—सब राक्षस लोग अपनी-अपनी गली दौड़कर, कपड़े ,बटोर कर और उन्हें तेल में डुबा-डुबा कर लाते हैं और हनुमान जी की पूंछ में बाँधते हैं। वैसे ही खिलाड़ी हनुमान जी डरते हुए से शरीर को ढीला कर-करके उनकी लातों के आघात सहन करते हैं और मन-ही-मन कहते हैं कि वे सब बड़े कायर हैं। बालक किलकारी मार कर ताली बजा-बजा कर गाली देते हुए पीछे लगे हैं तथा नगाड़े, ढोल और तुरही बजाये जा रहे हैं। पूँछ बढ़ने लगी और राक्षसों ने उसमें जहाँ-तहाँ आग लगा दी, जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वह विंध्याचल पर्वत की दावाग्नि हो अथवा सौ करोड़ सूर्य चारों ओर जंगमगा रहे हों।

विशेष—(१) इन पंक्तियों में हनुमान के चरित्र का वर्णन हुआ है।

(२) अलंकार—संदेह और पुनरुक्तिप्रकाश।

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाउ जाल मानो
लंक लीलबे को काल रसना पसारी है।

कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर की तरवारि सों उघारी है।

'तुलसी' सुरेस-चापु, कैधौं दामिनी-कलापु,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।

देखें जातुधान-जातुधानीं अकुलानी कहैं,
काननु उजारयो, अब नगरु प्रजारि हैं ॥ (पद-संख्या ५)

प्रसंग—प्रस्तुद्ध पंक्तियाँ तुलसीदास द्वारा रचित कवितावली से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है जब हनुमान जी लंका गये और उस समय उनकी पूंछ में राक्षसों द्वारा आल लगा दी गयी।

व्याख्या—उस समय भयंकर ज्वाल-माला के सहित विशाल पूंछ ऐसी लगती थी मानो लंका को निगलने के लिए काल ने जीभ फैलायी है अथवा मानो आकाश मार्ग में अनेक धूमकेतु भरे हैं अथवा वीर रस रूपी वीर ने मानो तलवार निकाल ली है। गोसाईं जी कहते हैं कि यह इन्द्र धनुष है अथवा विजली का समूह है या सुमेरु पर्वत से अग्नि की भारी नदी बह चली है। उसे देखकर राक्षस और राक्षसियाँ व्याकुल हो रही हैं और कहती हैं—यह बन्दर वन को तो पूर्णतया उजाड़ चुका, अब यह नगर को भी जलायेगा।

विशेष -- (१) धूमकेतु विनाश के सूचक हैं।
(२) अलंकार—संदेह और उत्प्रेक्षा।

बीथिका-बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पवरि-पगार प्रति बानरु बिलोकिए।
अध-ऊर्ध बानर, बिदिसि-दिसि बानरु है,
मानो रह्यो है भरि बानरु तिलोकिए॥
मूदें आँखि हिय में, उघारें आंखि आगें ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ-तहाँ, और कोऊ कोकिए।
लेहु, अब लेहु, तब कोउ न सिखावो मानो,
सोई सतराइ जाइ, जाहि-जाहि रोकिए॥ (पद संख्या १७)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियां तुलसीदास द्वारा रचित कवितावली से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में उस समय का वर्णन है जब हनुमान जी लंका गये और उस समय उनकी पूंछ में राक्षसों द्वारा आग लगा दी गयी।

व्याख्या—हनुमान जी ऐसी शीघ्रता से घूम रहे हैं कि गली-गली, बाजार-बाजार, अटारी-अटारी, घर-घर, द्वार-द्वार, दीवार-दीवार पर बानर ही दिखाई पड़ रहा है। ऊपर, नीचे और दिशा-विदिशाओं में बानर ही दीखता है। मानो वह बानर तीनों लोकों में भर गया है। आंख मूंदने से हृदय में और आंख खोलने से आगे खड़ा दिखाई देता है। जहां और किसी को पुकारते हैं वहीं मानो हनुमान जी ही जा धमकते हैं। 'लो, अब लो, पहले तो किसी ने हमारी शिक्षा नहीं मानी'—इस प्रकार जिसे रोकते हैं वहीं सतरा (चिढ़) जाता है।

विशेष—अलंकार—उत्प्रेक्षा।

रावनु सो राजरोगु बाढ़त बिराट-उर,
दिनु-दिनु बिकल, सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्ध, मुनि,
होत न बिसोक, औत पावै न मनाक सो।
रामकी रजाइतें रसाइनी समीरसूनु
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान-बुट पुटपाक लंक-जातरूप-
रतन जतन जारि कियो है मृगांक-सो ॥ (पद-संख्या २५)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियां गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित कवितावली से अवतरित हैं। इन पंक्तियों में कवि ने रावण से उत्पन्न विराट् चिन्ता का चित्रण किया है।

व्याख्या—विराट् पुरुष के हृदय में रावण रूपी राजरोग बढ़ रहा था जिससे व्याकुल होकर वह दिनों-दिन समस्त सुखों से हीन होता जाता था। देवता, सिद्ध और मुनिगण अनेक प्रकार की औषधि करके हार गये ; परन्तु न तो वह शोक रहित होता था और न कुछ भी चैन पाता था। तब श्री रामचंद्र जी की आज्ञा से रस-वैद्य हनुमान जी ने समुद्र के पार उतर कर और लंका रूपी शिकारे को ठीक करके राक्षस रूपी बूटियों के रस में लंका के सोने और रत्नों को यत्नपूर्वक फूंक कर मृगांक (एक प्रकार की रस-औषधि विशेष) बना डाला।

विशेष—अलंकार—रूपक।

सोयको सनेहु, सीलु, कथा तथा लंकाकी
कहत चले चायसें, सिरानो पथु छन में।

कह्यो जुबराज बोलि बानरसमाजु, आजु
खाहु फल, सुनि पेलि पैठे मधुबन में ॥
मारे बागवान, ते पुकारत देवान गे,
'उजारे बाग अंगद', देखाए घाय तन में ।
कहै कपिराजु, करि काजु आये कीस,
तुलसीसकी सपथ, महामोदु मेरे मन में ॥ (पद-संख्या ३०)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित कवितावली से उद्धृत हैं। लंका दहन के पश्चात् हनुमान जी वापिस लौट रहे हैं, इन पंक्तियों में उसी समय का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—फिर वे सब बानर श्री जानकी जी के प्रेम और शील की तथा लंका की कथा बड़े उत्साह से कहते हुए चले, जिससे क्षणमात्र में रास्ता समाप्त हो गया। किष्किधा में पहुँचने पर युवराज अंगद ने कपि समाज को बुलाकर कहा, आज सब लोग फल खाओ। यह सुनकर वे सबके सब बलपूर्वक मधुवन में घुस गये। उन्होंने जिन बागवानों को मारा, वे पुकारते हुए दरबार में गये और शरीर में घाव दिखाकर कहने लगे कि युवराज अंगद ने बागों को उजाड़ दिया है और हम लोगों को मारा, तब सुग्रीव वे कहा, तुलसी के स्वामी श्री रामचन्द्र जी की शपथ हैं, आज मेरे मन में बड़ा आनन्द है ; ज्ञात होता है बानरगण कार्य कर आये हैं।

विशेष—(१) इन पंक्तियों में सुग्रीव की प्रसन्नता का चित्रण है।
(२) भाषा प्रवाह युक्त है।
(३) अलंकार—अनुप्रास।

विनय पत्रिका

सेवहु सिव चरन सरोज रेनु। कल्यान अखिल प्रद कामधेनु ॥१॥
कपूर गौर, करुना उदार। संसार-सार, भुजगेन्द्र हार ॥२॥
सुख जन्मभूमि, महिमा अपार। निर्गुन, गुननायक, निराकार ॥३॥
त्रयनयन, मयन-मर्दन महेस। अहँकार निहार उदित दिनेस ॥४॥
बर बाल निसाकर मौलि भ्राज। त्रैलोक सोकहर प्रमथराज ॥५॥
जिन्ह कहँ बिधि सुगति न लिखी माल। तिहकी गति कासीपति कृपाल॥६॥
उपकारी कोऽपर हर समान। सुर असर जरत कृत गरल पान ॥७॥

बहु कल्प उपायन करि अनेक। बिनु संभु कृपा नहिं भव बिबेक ॥८॥
बिग्यान भवन, गिरिसुता रमन। कह तुलसिदास मम त्रास समन॥
(पद-संख्या २)

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित विनय पत्रिका से उद्धृत है। इन पंक्तियों में कवि ने श्री शिव की स्तुति की है।

व्याख्या—सर्वकल्याण की देने वाली कामधेनु के समान, शिव जी के चरण-कमलों की रज का सेवन करो। शिव जी कपूर के समान गौर वर्ण अंग वाले हैं, करुणा के दाता हैं, असार संसार के सार हैं और वासुकि नाग का हार धारण करने वाले हैं। वे सुखों के आदि स्थान हैं, उनकी महिमा का कोई पार नहीं है, सत, रज, तम से परे हैं, सर्व दिव्य गुण-संयुक्त और अस्तिमाति आदि छः विकारों से दूर हैं। तीन नेत्र वाले, कामदेव का विध्वस करने वाले, देवाधिदेव शंकर अहंकार रूपी पाले के लिए, उदयकालीन सूर्य के समान हैं। उनके मस्तिष्क पर द्विज का चन्द्रमा विराजमान है। वे तीनों लोकों के दुःख को दूर करने वाले और गणों के स्वामी हैं। ब्रह्मा ने जिनके माथे पर मोक्ष का नाम तक नहीं लिखा, उन्हें भी काशीनाथ कृपालु शिव जी मुक्ति प्रदान करते हैं। जिन्होंने, देवों और दैत्यों को जलता हुआ देख, विष को पी लिया, ऐसे शंकर के समान संसार में और कौन दूसरा उपकार करने वाला है। अनन्त कल्पों तक अनेक प्रकार के साधन क्यों न करो, किन्तु बिना शिव की कृपा के इस मिथ्या संसार का सदसत् ज्ञान होना असम्भव है। तुलसीदास जी कहते हैं, विज्ञान रूप, पार्वती से प्रेम करने वाले शिव मेरे भय का नाश करने वाले हैं।

विशेष—(१) इन पंक्तियों में कवि ने भावपूर्ण शब्दों में शिव की स्तुति की है।

(२) भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है।

(३) अलंकार— अनुप्रास और रूपक।

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल मगु बिलसत बढ़त मोह-माया मलु ॥१॥
भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित, बन बिलोकु रघुबर-बिहार थलु।
सैल-सृंग भवभंग-हेतु लखु, दलन कपट-पाखंड दंभ-दलु ॥२॥

जहँ जनमे जग-जनक जगतपति, बिधि-हरि-हर परिहरि प्रपंच छलु ।
सकृत प्रबेस करत जेहि आश्रम, बिगत-बिषाद भये पारथ नलु ॥३॥

नकरु बिलब बिचारु चारुमति, बरष पाछिले सम अगिले पलु ।
मंत्र सो जाइ जपहि, जो जपिभे, अज़र अमर हर अचइ हलाहलु ॥४॥

रामनाम-जप जाब करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु ।
करिहैं राम भावतो मनको, सुख-साधन अनयास महाफलु ॥५॥

कामदमनि कामता, कलपतरु सो जुग-जुग जागत जगतीतलु ।
तुलसी तोहि बिसेषि बूझिये, एक प्रतीति-प्रीति एकै बलु ॥६॥

(पद-संख्या ४)

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'विनय पत्रिका' से उद्धृत है । इस पद में कवि ने चित्रकूट की स्तुति की है और उसकी महिमा का गुणगान किया है । कवि अपने चित्त को सम्बोधित करता हुआ कहता है :

व्याख्या—अरे चित्र ! अब भी सावधान हो जा और चित्रकूट को चल । कलियुग ने कुपित होकर मगल-कल्याण के मार्ग लुप्त कर दिए हैं। माया, मोह और पापों की निरन्तर वृद्धि हो रही है । श्रीराम पद अंकित भूमि को चलकर देख, वन को देख जो रघुवर का विहार-स्थल है और पर्वत की चोटियों को देख जो संसार के नाश के कारण और कपट, दम्भ, पाखण्ड के दल के नाशक हैं । जहाँ संसार के उत्पन्न करने वाले, जगत् के स्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने छल-प्रपंच छोड़कर जन्म लिया । जिस आश्रम में कुन्ती के पुत्र और नल एक बार प्रवेश करने मात्र से दुःख रहित हो गये । अब देर न कर । सुन्दर बुद्धि से अगले एक पल को पिछले वर्षों के समान विचार । (अर्थात् चित्रकूट बिना अब पल भर भी व्यर्थ न खो, वहाँ) जाकर वही मंत्र जप जिसे जपते हुए शिवजी हलाहल विष पीकर भी अजर-अमर हो गये । नित्य राम नाम रूपी जपयज्ञ करते पावन पयस्विनी में नित्य नहाते और उसका जल नित्य पीते श्री रामचन्द्र जी तेरा मनभाया करेंगे । सुख साधन और बिना परिश्रम ही महाफल— लोक में सुख और अन्त में भवसागर से मुक्ति । कामनाएँ पूर्ण करने के लिए कामता चिंतामणि और कल्पवृक्ष ही हैं, यह बात युग युगान्तर से पृथ्वी पर प्रसिद्ध है । तुलसीदास जी कहते हैं कि रे चित्त ! तुझे तो खासकर एक इन्हीं का विश्वास, इन्हीं से प्रेम और इन्हीं का बल रखना चाहिए ।

विशेष—(१) तुलसीदास जी को चित्रकूट से विशेष प्रेम था, यही कारण है कि उन्होंने यहाँ उसकी महिमा का गुणगान किया है।

(२) भाषा संस्कृत के शब्दों से युक्त तत्सम और प्रवाहपूर्ण है।

केशव ! काहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ।। १ ।।

सून्य भीतिपर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे ।। २ ।।

रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।। ३ ।।

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ।। ४ ।।

(पद-सख्या ८)

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'विनय पत्रिका' से उद्धृत है। यह एक बहुचर्चित पद है। इसमें कवि ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को अभिव्यक्ति दी है। कवि का कहना है :

व्याख्या—हे केशव तुम्हारी रचना अत्यन्त विचित्र है। हम इसे देखते हैं और समझ कर मन-ही-मन रह जाते हैं। तुम्हारी रचना के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता. क्या कहें, कुछ समझ में नहीं आता। चतुर चित्रकार ने चित्र बनाया है, उस चित्र का कोई आधार नहीं है, न उसमें कोई रंग है। इस चित्र का बनाने वाला आकार हीन है। यह चित्र धोने से मिटता नहीं है ; किन्तुमिटने या मरने का भय सदा बना रहता है। इसकी ओर देखने से दुःख होता है, क्योंकि इसमें फँसने से आवागमन का चक्र बंध जाता है। यह सृष्टि इतनी विचित्र है कि यहाँ सूर्य की किरणें पानी का आभास देती हैं और इस पानी में बड़े भयंकर मगरमच्छ रहते हैं, जो शरीरहीन हैं और जो सभी चर व अचर को खा जाते हैं—जो भी वहाँ पानी पीने चला जाता है। उल्लेखनीय है कि मरुस्थल में सूर्य की किरणें पानी का आभास देती हैं, जल का भ्रम उत्पन्न करती हैं इसलिए इसे मृगमरीचिका कहा जाता है। मृगतृष्णा के जल में वासना आदि के भयंकर मगरमच्छ रहते हैं और इस वासना से कोई नहीं बच सकता। कोई इस सृष्टि को सत्य कहता है, कोई असत्य कहता है। यही क्यों, कोई सत्य-असत्य

की प्रबलता को प्रमाण मानते हैं। अथवा यह कहा जा सकता है कि सत्य और असत्य को लेकर चलने वाले दोनों पक्ष अपनी-अपनी बात पर जोर देते हैं और केवल उसी को प्रमाण गानते हैं। तुलसीदास जी का कहना है कि जो व्यक्ति उक्त तीनों सिद्धान्तों को भ्रम-मात्र मानकर छोड़ देगा, वही अपने आपको पहचान सकता है। इसके बिना आत्मतत्व का ज्ञान हो ही नहीं सकता। यहाँ कवि का तात्पर्य है कि आत्म तत्व की परख दार्शनिक सिद्धान्तों को मानने या न मानने के वाद-विवाद में पड़कर नहीं हो सकती।

विशेष—(१) इसमें दार्शनिक अभिव्यक्ति है।

(२) अलंकार—काव्यलिंग, विशेषोक्ति, रूपकातिशयोक्ति।

हे हरि! कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जबलगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥ १ ॥

अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस पर्‌यो कीर की नाईं ॥ २ ॥

सपने व्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ॥ ३ ॥

श्रुति-गुरु-साधु-समृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥ ४ ॥

बहु उपाय संसार-तरन कहँ, बिमल गिरा श्रुति गावै।
तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै ॥ ५ ॥

(पद-संख्या १०)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित, 'विनय पत्रिका' से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में कवि ने प्रभु से प्रार्थना की है कि यह उसके मन में उत्पन्न सांसारिक भ्रम को दूर करे। कवि का कथन है:

व्याख्या—हे हरि! मेरे इस (संसार को सत्य और सुखरूप आदि मानने) भारी भ्रम को दूर क्यों नहीं करते? यद्यपि यह संसार झूठा है, असत्य है फिर भी जब तक आपकी कृपा नहीं होती, तब तक तो यह संसार सत्य ही दिखाई देता है। मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि शरीर, धन, पुत्र आदि विषय यथार्थ नहीं है, परन्तु ये प्रभु! इतने पर भी इस संसार से छुटकारा नहीं मिलता। मैं किसी दूसरे द्वारा बाँधे बिना ही अपने ही हठ से तोते की तरह परवश बँधा पड़ा हूँ। अभिप्राय यह है कि मैं अपने ही अज्ञान में फँस गया हूँ। जैसे किसी

को स्वप्न में अनेक प्रकार के रोग हो जायें जिससे मानो उसकी मृत्यु हो जाये और बाहर से वैद्य अनेक उपाय करते रहें, परन्तु जब तक वह जागता नहीं, तब तक उसका दुःख दूर नहीं होता ; इसी प्रकार माया के भ्रम में पड़कर लोग बिना ही हुए संसार की अनेक पीड़ा भोग रहे हैं और उन्हें दूर करने के लिए मिथ्या उपाय कर रहे हैं, पर तत्व ज्ञान के बिना कभी इन पीड़ाओं से छुटकारा नहीं मिल सकता। वेद, गुरु, संत और स्मृतियाँ—सभी एक स्वर से कहते हैं कि दृश्यमान जगत असत् है और दुःख रूप है। जब तक इसे त्याग कर श्री रघुनाथ जी का भजन नहीं किया जाता, तब तक ऐसी किसकी शक्ति है जो इस विपत्ति का नाश कर सके ? वेद पवित्र वाणी से संसार सागर से पार होने के अनेक उपाय बतला रहे हैं, किन्तु हे तुलसीदास ! जब तक 'मैं' और 'मेरा' दूर नहीं हो पाता तब तक जीव कभी सुख नहीं पा सकता।

विशेष—(१) इस पद में संसार को असत्य कहा गया है।

(२) पद में संगीतात्मकता द्रष्टव्य है।

नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलनिफरो सो ॥१॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि बेद परोसो ॥२॥
आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग-बियोग धरो सो ॥३॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥४॥
बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो ॥५॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
राम-नाम बोहित, भव सागर चाहै तरन तरो सो ॥६॥

(पद-संख्या १८)

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा लिखित 'विनयपत्रिका' से उद्धृत है। इस पद में तुलसीदास जी ने राम नाम का सर्वश्रेष्ठत्व और असत्य साधना की विफलता बतायी है। कवि का कहना है :

व्याख्या—हे प्रभु ! मुझे और दूसरा बल-भरोसा नहीं है। इस कलियुग में जितने कुछ साधन रूपी वृक्ष हैं, उनमें केवल परिश्रम रूपी फल फल रहे हैं।

अर्थात् उन साधनों के लिए चाहे जितना प्रयास किया जाये, पर हाथ कुछ नहीं आता, कलिकाल सबको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। तपस्या, तीर्थाटन, व्रत, दान, यज्ञ आदि जो जिसे अच्छा लगे सो करे। किन्तु इन सब कर्मों का फल पाने पर ही जान पड़ेगा, यद्यपि वेदों ने पत्तल भर-भरकर फलों को परोसे हैं। कहने का भाव यह है कि वेदों ने तो प्रत्येक सत्कर्म की फलश्रुति मनमानी बढ़ाकर लिख दी हैं, पर कलि महाराज के मारे सब कोई सत्कर्म सफल हो, तभी उनका फल प्राप्त हो ; पर यह होने वाला नहीं है, अतः सब निष्फल ही समझना चाहिए। शास्त्रों में कथित विधि से मनुष्य जप-तप और यज्ञ करते हैं किन्तु उनसे यथेष्ट फल की प्राप्ति नहीं हाती। योग सिद्धियों के साधन में सुख-स्वप्न भी नहीं है। उसमें भी रोग और वियोग प्रस्तुत हैं और संन्यास ग्रहण करने पर यह मन ऐसा बिगड़ जाता है, जैसे पानी के डालने से कच्चा घड़ा। काम, क्रोध, अहंकार, अज्ञान और लोभ ने मिलकर ज्ञान-वैराग्य को हर-सा लिया है। भाव यह है कि मन जब तक शांत और शुद्ध नहीं हुआ, तब तक संन्यास लेना और भी हानिकारक है। शास्त्रों के अनेक मत सुनकर और पुराणों में नाना प्रकार के पंथ देखकर जहाँ-तहाँ झगड़े ही जान पड़ते हैं। मेरे गुरु ने तो मुझे राम के भजन का ही उपदेश किया है और यही मुझे राजमार्ग के समान पसंद भी है, इसमें कोई विधा-बाधा नहीं है। हे तुलसी ! विश्वास और श्रद्धा के बिना जिसे बार-बार पच-पचकर मरना हो, वह भले ही मरे, किन्तु संसार-सागर से पार होने के लिए एक राम-नाम ही जहाज है। जिसे पार होना हो, वह इस पर चढ़कर पार हो जाये।

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहु
दिसि पायो ॥१॥

आस-बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार परी न छार,
मुँह बायो ॥२॥

असन-बसन बिनु बावरो जहँ-तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रानते तजि खोलि खलनि आगे, खिनु खिनु
पेट खलायो ॥३॥

नाथ ! हाथ कछु नाहिं लग्यो, लालच ललचायो।
साँच कहौं, नाच कौन-सो, जो न मोहि लोभ लघु हौं
निरलज्ज नचायो ॥४॥

श्रवन-नयन-मग मन लगे, सब थल पतितायो ।
मूँड़ मारि, हिय हारिकै, हित हेरि हहरि अब चरन-सरन
तकि आयो ॥५॥

दसरथ के समस्थ तुहीं, त्रिभुवन जसु गायो ।
तुलसी नमत अवलोकिये, बाँह-बोल बलि दै विरुदावली बुलायो ।६।
(पद-संख्या २५)

प्रसंग – प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'विनय पत्रिका' से उद्धृत है । इसमें कवि ने अपनो स्थिति का चित्रण किया है । वह प्रभु से विनय करता हुआ कहता है :

व्याख्या—हे प्रभु ! मैंने क्या करने को छोड़ रखा है ? कौन-सी ऐसी जगह है जहाँ मैं नहीं गया हूँ और किसके आगे मैंने मस्तक नहीं झुकाया ? किन्तु हे रघुनाथ जी ! बिना आपका सेवक हुए संसार में जन्म ले-लेकर मैंने दसों-दिशाओं में केवल दुःख ही पाया है । सुख किसे कहते हैं, यह आज तक जाना ही नहीं है । आशा के मारे खास दास होकर भी अपने को क्षुद्र प्रभुओं के आगे जताता फिरा । हा हा खाकर बार-बार द्वार-द्वार पर अपनी गरीबी सुनाई, मुँह बाया, पर उसमें खाक भी न पड़ी । भोजन और वस्त्र के बिना पागल-सा जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरा । प्राणों से प्यारी प्रतिष्ठा को भी तिलांजलि देकर दुष्टों के आगे क्षण-क्षण पर यह पेट खोलकर दिखाया, पर कहीं कुछ नहीं मिला । हे प्रभु ! लोभ के मारे बहुत लालच की, पर हाथ कुछ भी न लगा । सच कहता हूँ, ऐसा कौन-सा नाच बचा है, जो तुच्छ लोभ ने मुझे न नचाया हो । भाव यह है कि पेट भरने के लिए मैंने सब सम्भव प्रयास किये । कान, आँखें और मन अपने-अपने मार्ग पर लग गये; अपने-अपने विषय में लिप्त हैं । सब राजे-महाराजों की भी परीक्षा कर ली । कहीं भी सुख-शांति नहीं मिली, तब सिर पीटकर निराश हो गया । अब घबरा कर आपके चरणों की शरण आ गया हूँ, क्योंकि यहाँ मुझे अपना कल्याण ही दीखता है, निश्चय ही यहाँ मेरी दरिद्रता दूर हो जायेगी । हे दशरथ पुत्र राम ! आप हीं समर्थ और शक्तिशाली हैं । तीनों लोकों में आपका ही गुणगान होता है । देखिए, तुलसी आपके आगे सिर झुकाये खड़ा हुआ है । वह आप पर बलिहार जाता है, आपकी विरदावली और यश ने ही उसे बुलाया है, क्योंकि आप सबकी सहायता करने वाले हैं । कहने का भाव यह है कि अब तुलसी आपकी शरण में आ गया है और अब इसकी रक्षा आपको करनी ही होगी ।

विशेष—(१) इसमें कवि ने भगवान् का गुणानुवाद किया ।
(२) भक्ति की चरमावस्था यहाँ देखी जा सकती है ।

नवीन सूर-संग्रह

(आलोचना-भाग)

प्रश्न १—सूर के काव्य के भावपक्ष का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

अथवा

सूर ने अपने काव्य में वात्सल्य और शृंगार का जो अत्यंत उत्कृष्ट रूप चित्रित किया है उसका उदाहरण - निर्देशपूर्वक परिचय दीजिए।

उत्तर—सूरदास हिन्दी साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। निश्चय ही उनके काव्य में साहित्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष का अत्यन्त सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसीलिए तो किसी आलोचक नें 'सूर सूर तुलसी ससी' कह कर उन्हें हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया था।

सूरदास पुष्टिमार्गीय सन्त थे, इसीलिए बल्लभ के मतानुसार आपने कृष्ण-लीलाओं का ही गान किया है। सभी भक्तों की भांति सूर के काव्य का आरम्भ भी संसार की असारता, आत्मनिवेदन आदि भावों से होता है, किन्तु महाप्रभु बल्लभाचार्य जी से शिक्षा लेने के बाद उन्होंने लीलागान की परम्परा को अपनाया और अन्त तक इसी में तल्लीन रहे। सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार सूर ने कृष्ण सर्वांगीण जीवन को न लेकर बाल और यौवन अवस्था की कुछ झांकियां प्रस्तुत की हैं! यही कारण है कि सूर के काव्य में वात्सल्य और शृंगार रस की प्रधानता रही है। इन दोनों रसों का जितना रोचक और सजीव चित्रण सूर के काव्य में हुआ है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इस दृष्टि से सीमित विषय का चित्रण करने के कारण सूर का काव्य एकांगी प्रतीत होता है, किन्तु उनकी विशेषता इस बात में है किजीवन के जिस अंग को उन्होंने लिया उसमें वे अपना जोड़ नहीं रखते। इन दोनों भावनाओं का चित्रण करने में सूर को अद्धितीय सफलता प्राप्त हुई है। इसका कारण यह है कि सूर कृष्ण के अनन्य भक्त थे और यह तादात्म्य वात्सल्य और शृंगार दोनों

भावनाओं के माध्यम से सुचारु रूप से प्राप्त किया जा सकता है। 'सूर सागर' इस बात का प्रमाण है कि सूर इन दोनों भावनाओं को प्रस्तुत करने में सबसे आगे रहे हैं। नीचे कुछ उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि करना उपयुक्त होगा।

वात्सल्य रस—सूर इसके सम्राट हैं। अनेक आलोचकों ने यहाँ तक कहा है कि सूर का दूसरा नाम वात्सल्य है और वात्सल्य का दूसरा नाम सूर है। तात्पर्य स्पष्ट है कि वात्सल्य के क्षेत्र में सूर ने कोई ऐसा कोना न छोड़ा, जिसका उन्होंने वर्णन न किया हो। सम्भवतः इसीलिए आलोचकों ने स्वीकार किया था—'तत्व तत्व सूरा कही।' वस्तुतः सूर के काव्य को पढ़ते हुए यह आश्चर्य होता है कि एक ओर बीतराग सन्त ने बाल-लीला और बाल-मनोभावों का इतना हृदयग्राही चित्र कैसे प्रस्तुत किया। सहसा विश्वास होने लगता है कि सूर के कृष्ण-लीला वर्णन करने के लिए उदाहरणस्वरूप किस पद को लिया जाये और किसको छोड़ा जाय। यह एक समस्या है क्योंकि यह तो अगाध सागर है, जिसमें एक से एक बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, जैसे एक खांड की रोटी को जिधर से काटा जाय उधर से ही मीठी होगी, वैसे ही सूर सागर के जिस पद को उठायें, वही बाल-मनोभावों अथवा बाल-लीलाओं का दिव्य चित्र प्रस्तुत करने वाला होगा। फिर भी यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रलोभन रोका नहीं जा सकता।

बालकृष्ण पालने में सो रहे हैं। माता यशोदा लोरियाँ गाकर उन्हें सुलाने का प्रयत्न कर रही हैं, दूसरों को चुप रहने का संकेत करती हैं। कृष्ण को नींद आ गई तो उठने लगती हैं, किन्तु इससे पूर्व कि माता यशोदा उठें कृष्ण हड़बड़ा कर आँखें खोल लेते हैं। बालक के स्वभाव की कितनी सुन्दर झाँकी है। सूर के शब्दों को देखिए—

> जसोदा हरि पालने झुलावैं।
>
> हलरावैं दुलरावैं, मल्हावैं जोइ सोइ कछु गावैं।
> मेरे लाल को आउ निदरिया, काहे न आनि सुवावैं।।
> तू काहे नहिं वेगहि आवैं, तोकों कान्ह बुलावैं।।
> कबहुंक पलक हरि मूंद लेत हैं, कबहूं अधर फरकावैं।

माता के हृदय में बालक के विकास की कितनी उत्कट अभिलाषा रहती है। सूर ने यशोदा के रूप में इस तत्व को कितने सुन्दर शब्दों में उपस्थित किया है—

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरो लाल घुटुरवनि रेंगै, कब धरती पर द्वैक धरै ।।

माँ की ममता का इससे सुन्दर हृदयस्पर्शी चित्र अन्यत्र कहाँ उपलब्ध होगा ? माँ नहीं चाहती कि बच्चा एक क्षण के लिए भी उसकी आँखों से ओझल हो। न जाने कब क्या आपत्ति उस पर आ जाय, इसलिए वह बच्चे को डरा-धमका कर रोकना चाहती हैं। देखिए यशोदा कृष्ण को हौवे का डर दिखाकर द्वार पर जाने से किस प्रकार रोकती हैं—

खेलन द्वारि जात कत कान्हा।
आज सुन्यो वन हाऊ आयो, तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अबहु भजि आयो, रोवत देख्यो नाहिं।
कान तोर लेत सबहिन के लरिका जानत जाहिं।।

ईर्ष्या बाल-स्वभाव का प्रधान गुण होता है। कृष्ण के मन में बलदेव के प्रति इस प्रकार का भाव आना स्वाभाविक ही है, इसलिए जब कृष्ण ने देखा कि बलराम की चोटी लम्बी है और उनकी छोटी, तो माता के पास जाकर उपालम्भ भरे स्वर में शिकायत करते हुए कहते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किति बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूं है छोटी।

इधर बलराम हैं कि कृष्ण को चिढ़ाते हैं। ग्वाल-बालों को अपनी ओर मिला लेते हैं और तब 'मियाँ की दौड़ मस्जिद तक' कहते हैं। बस फिर कृष्ण के पास माता यशोदा को शिकायत करने के अतिरिक्त और चारा ही क्या था—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मो सों कहत मोल को लीन्हों तोहि जसुमति कब जायो ।।
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर ।।

यह सुनते ही माँ का मन द्रवित हो जाता है और वह कृष्ण को यह विश्वास दिलाती है कि—

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत हीं को धूत ।
सूर श्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ।।

कुछ वैज्ञानिक विचारधारा के लोग भले ही इसमें असत्य का अंश देखेंगे किन्तु सहृदयजनों को मातृ-हृदय की जो झाँकी इसमें उपलब्ध होती है वह अन्यत्र शायद ही मिल सके । माता और पुत्र की सहृदयता के ऐसे-ऐसे उदाहरण सूर के काव्य में न जाने कितने भरे पड़े हैं ।

बाल-स्वभाव की अत्यन्त मर्मस्पर्शी झांकियाँ माखन चोरी के प्रसंग में उपलब्ध होती है । कृष्ण ने चोरी करनी सीखी, तो चोरी छुपाने की कला भी तो आनी चाहिए । इस कला में भी कृष्ण प्रवीण हैं । अनेक बार रंगे हाथों पकड़े गये । जब कभी माँ के सामने पकड़कर ले जाये गये तो अत्यन्त ही कुशलता से माँ की ममता जगाकर उनके हृदय को द्रवित कर साफ बच गए । एक दृश्य देखिए—

मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो ।
ग्वाल बाल सब बैर पड़े हैं बरबस मुख लपटायो ।।

इतना ही नहीं, अपनी सफाई पेश करने के लिए कृष्ण ने बताया कि प्रातःकाल ही मैं गउएँ चराने के लिये चला गया, दोपहर को वंशीवट पर भटकता रहा और साँझ पड़ने पर घर आया हूं । फिर बड़ी बात तो यह है कि इन ग्वालिनों ने माखन छींके पर लटकाया हुआ था, वहाँ तक मेरे छोटे-छोटे हाथ कैसे पहुँच सकते हैं । माँ के हृदय के प्रभावित करने के लिए कृष्ण कितनी मनोवैज्ञानिक उक्ति कहते हें—

तेरे जिय कछु भेद उपजत है जान परायो जायो ।

फिर क्या था, माँ का क्रोध समाप्त हो गया, छड़ी फेंक दी और कृष्ण को गले लगा लिया ! वात्सल्य की इससे अधिक सुन्दर अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है । वात्सल्य रस के दो भेद होते हैं—संयोग-वात्सल्य और वियोग-वात्सल्य । सूर के काव्य में दोनों रूपों का सजीव चित्रण हुआ है । ब्रज में रहते हुए कृष्ण की बाल-लीलाओं का चित्रण संयोग-वात्सल्य के अन्तर्गत आता है । उसकी

कुछ पंक्तियां ऊपर दिखाई गई हैं। किन्तु कृष्ण के मथुरा जाने के बाद जननी का हृदय कृष्ण से मिलने के लिए अत्यधिक व्याकुल हो जाता है। कृष्ण से सम्बन्धित एवं कृष्ण की प्रिय वस्तुएं देखकर माता का हृदय रो उठता है। यशोदा के इस व्याकुल हृदय की झांकी यहां प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा। यशोदा माता देवकी को सन्देश देती हुई कहती हैं।

संदेसो देवकी सौं कहियो।
हौं तो धाय तिहारो सुत की, कृपा करत ही रहियो॥

कितनी करुणा और मार्मिकता है इन शब्दों में !

स्पष्ट है कि सूर के काव्य में वात्सल्य भाव का अत्यन्त विशद एवं सर्वांगीण चित्रण हुआ है।

शृंगार रस—सूर के काव्य का दूसरा प्रमुख रस है शृंगार। जिज्ञासा होती है कि सूर तो एक वीतराग संत थे, फिर उनके काव्य में शृंगारचित्रण क्यों ? कारण स्पष्ट है—माधुर्य भाव। शृंगार रस में पूर्ण आत्मसमर्पण के लिए सबसे अधिक स्थान होता है। सूर ने बाललीला, रासलीला, चीरहरण आदि के वर्णन में इसी आत्मसमर्पण का आदर्श उपस्थित किया है। राधा के रूप में सूर की अन्तरात्मा के दर्शन किए जा सकते हैं क्योंकि राधा की भांति ही अत्यन्त अनुराग और पूर्ण आत्मसमर्पण सूर को अभीष्ट था। शृंगार-चित्रण का एक और भी कारण हो सकता है, और वह यह है कि संतों और महात्माओं की रुचि सांसारिक वासनाओं से मुक्त होने की ओर रहती है। इन वासनाओं से मुक्त होने का यह सरलतम मार्ग है कि इन भावनाओं का ईश्वर के साथ सम्बन्ध कर दिया जाय। ऐसा करने से लौकिक वासनायें स्वतः शान्त हो जायेंगी। अतः सूर के काव्य में शृंगार-चित्रण की बात स्वाभाविक-सी है।

सूर के काव्य में आश्रय और आलम्बन कृष्ण और राधा हैं। इन दोनों का प्रेम बचपन के परिचय से प्रारम्भ होता है और शैशव का यह स्नेह अवस्था के अनुरूप यौवन के अनुराग में परिणत हो जाता है। फिर उसमें शृंगार-रस का सर्वांगीण और सुचारु निर्वाह देखा जा सकता है। राधा से कृष्ण के प्रथम परिचय का एक दृश्य देखिये—

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
कहां रहित ! काकी तू बेटी ? देखि नाहिं कबहूं ब्रजखोरी।

काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपुनी पौरी।
सुनत रहत स्रवननि नंद ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैं हैं, खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमणि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥

इसके पश्चात् तो राधा-कृष्ण का मिलना-जुलना दिन-प्रति दिन बढ़ने लगा और फिर पनघट पर, यमुना के किनारे रासलीला आदि में उनके प्रेम का दिव्य रूप प्रकट होने लगा। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि सूर के श्रृंगार में न तो अश्लीलता है और न वासनात्मकता ही। वहाँ तो केवल कृष्ण के प्रति अत्यन्त अनुराग है, जिसका लक्ष्य लौकिक वासनाओं को अध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करना मात्र है।

वात्सल्य की भाँति श्रृंगार के दो रूप होते हैं—संयोग-श्रृंगार और वियोग-श्रृंगार। ब्रज में रहते हुए गोपियों तथा राधा के साथ क्रीड़ा करना, रास रचना आदि संयोग-श्रृंगार के अन्तर्गत आते हैं और कृष्ण के मथुरा जाने के बाद गोपियों की दयनीय दशा और उनकी व्याकुलता का वर्णन वियोग श्रृंगार के अन्तर्गत आता हैं। सूर ने संयोग-श्रृंगार की भांति वियोग-श्रृंगार का भी मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। यह कह दिया जाय कि सूर को संयोग-श्रृंगार की अपेक्षा वियोग-श्रृंगार के चित्रण में अधिक सफलता प्राप्त हुई है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसका कारण यह भी है और वह यह है कि संयोग-श्रृंगार की भावना तो सूर के लिए कल्पना की वस्तु थी, किन्तु वियोग उनके अनुभव का विषय था। इसीलिए उनका वियोग-चित्रण असंदिग्ध रूप से अधिक मार्मिक बना है।

भ्रमरगीत का प्रसंग सूर के काव्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें वियोग-श्रृंगार की छटा देखी जा सकती है। उद्धव द्वारा निर्गुण का सन्देश दिए जाने पर गोपियाँ कितनी मार्मिकता के साथ अपनी अनन्यता और विवशता प्रकट करती हैं। देखिए—

ऊधो मन न भयो दस-बीस।
एक हुतो, सो लगो स्याम संग, को अवराधे ईश॥

विरह की अनुभूति का मार्मिक चित्रण गोपियों की उक्तियों में सर्वत्र

देखा जा सकता है। जो वस्तुयें कृष्ण के साथ रहने पर अत्यन्त सुखकर लगतीं थीं, वही वस्तुयें कृष्ण के वियोग में अत्यन्त दुखदाई बन गईं। बादलों का गरजना, मोरों का बोलना, यमुना के दृश्य आदि सभी तत्व गोपियों के हृदय को दुखी कर देते हैं। गोपियों का विश्वास है कि कृष्ण के वियोग में सारे संसार को जल जाना चाहिए, इसीलिए तो कृष्ण के जाने के बाद भी मधुबन को हरे-भरे रूप में देखकर गोपियाँ कहती हैं—

> मधुबन तुम कत रहत हरे ?
> बिरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

इस वियोग की अनुभूति का चित्रण करने के लिए 'भ्रमर गीत' में सूर ने व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है जिससे भाषा में अत्यधिक रोचकता आ गई है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूर के काव्य में मुख्य रूप से वात्सल्य और श्रृंगार—दो भाव ही चित्रित किए गये हैं और इनका चित्रण करने में कवि को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है।

प्रश्न २—सूर के काव्य के कलापक्ष का युक्तियुक्त विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्यों ने साहित्य के दो पक्ष स्वीकार किये हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष के अन्तर्गत साहित्य का वर्ण्य-विषय आता है जबकि कलापक्ष के अन्तर्गत साहित्य की भाषा, अलंकार, छन्द आदि आते हैं। एक महान् और सफल कवि की सबसे बड़ी पहचान यही है कि उसके काव्य में भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों का ही निर्वाह हो। इस दृष्टि से जब हम सूरदास जी के साहित्य का अध्ययन करते हैं तो यह कहते हुए हर्ष होता है कि उनके काव्य में जितना विषय एवं भाव-जगत का उदात्त चित्रण किया गया है उसका कला-पक्ष भी उतना ही महान् और श्रेष्ठ है। कलापक्ष के तत्वों की दृष्टि से उनके काव्य का विवेचन प्रस्तुत है।

सूरदास जी ब्रजपति और ब्रजभूमि के समान ब्रजभाषा के अनन्य उपासक हैं। हों भी क्यों नहीं, यह भाषा उनके आराध्य कृष्ण की लीला-भूमि की भाषा जो है। ब्रजभाषा का जितना निखरा और सुकोमल रूप सूर के काव्य में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भावानुरूप भाषा का प्रयोग उनकी

भाषा की प्रमुख विशेषता है। उनसे व्याकरण के नियमों का भी सुचारु रूप से निर्वाह हुआ। आज के विद्वान् तो सूर की भाषा के आधार पर ही व्रज-भाषा का व्याकरण तैयार कर रहे हैं। शब्द-समूह के दृष्टिकोण से ये अत्यन्त उदार थे। जहाँ उन्होंने संस्कृत के तत्सम रूपों को एवं शब्दों को अधिकाधिक रूप में अपनाया है वहाँ अरबी, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया है। उनके काव्य में स्थान-स्थान पर देशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह अवश्य स्मरणीय है कि सूर ने विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में अपनाकर हिन्दी के अनुरूप ढालकर अपनाया है।

लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से उनकी भाषा में प्रभावोत्पादकता पर्याप्त मात्रा में आ गई है। एक महान् कवि होने के नाते सूरदास स्वयं एक सूक्तिकार थे। आपकी सूक्तियाँ स्वयं लोकोक्तियों का रूप धारण कर गई हैं।

निष्कर्ष-रूप में सूरदास जी का भाषा पर असाधारण अधिकार था, शब्दावली उनकी वशवर्तिनी थी, भावानुरूप भाषा का प्रयोग करने में वह अपूर्व रूप से दक्ष थे। शब्द-चित्रण प्रस्तुत करने की कला सूर की अपनी विशेषता थी।

अलंकार-योजना—काव्य और अलंकार का अटूट सम्बन्ध है। रचना सुन्दर हो और उसमें अलंकारों का प्रयोग न हो, यह असम्भव है। विश्व का साहित्य इस बात का साक्षी है कि महान् कवियों के काव्य में अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य रूप से हुआ है। सूर का काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। सूर के काव्य के मुख्य रस हैं—शृंगार और वात्सल्य। इन दोनों भावों का चित्रण विकास की स्थिति तक सूर ने पहुंचाया है, जिससे उनके वर्णनों में चमत्कार और कहीं-कहीं वक्रता भी आ गई है। इसलिए उनमें अलंकारों का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है। सूर के अलंकार-प्रयोग के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पाई है। अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया है। इसलिए उनके

अलंकार केशव के अलंकारों की भाँति काव्य पर भार बनकर नहीं आये, अपितु तुलसी और मीरा के अलंकारों की भाँति सौन्दर्य-सृष्टि के साधन बनकर आए हैं।

सूर ने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग अधिक किया है क्योंकि भाव-सौंदर्य का चित्रण ही उनका उद्देश्य था। अर्थालंकारों में भी आपने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि साम्यमूलक अलंकारों को अधिक अपनाया है। निम्न उदाहरणों से यह स्पष्ट है—

रूपक :—"चरण कमल बंदौं हरिराइ।"

रूपकातिशयोक्ति :—"नन्द नन्दन मुख देखो माई।"

खंजन, मीन मृग वारिज, मृग पर दृग अति रुचि पाई।'

अपन्हुति :—चातक न होइ, होइ कोइ विरहिन नारी।"

फिर भी यह नहीं समझना चाहिये कि सूर के काव्य में शब्दालंकारों का बहिष्कार किया गया है। यमक, वक्रोक्ति, श्लेष आदि की छटा भी उनके काव्य में यत्र-तत्र देखने को मिलती है।

छन्द—'सूर-सागर' गेय पदों में लिखा गया है। गीतिकाव्य ही सूर की भावनाओं के अनुकूल था। सूर एक महान भक्त थे इसलिए उनके हृदय में भावनाओं की प्रधानता थी। हार्दिक अनुभूति और भावनाओं के प्रकाशन के लिए गीतिकाव्य ही सर्वाधिक उपयुक्त साधन हो सकता था। सूर की गीति-पद्धति परम्परागत रूप में प्राप्त हुई थी फिर भी उसमें अनुकरण नहीं है। बल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद जब सूर कृष्ण की लीलाओं का गान करने में तत्पर हुए, तो उन्होंने जयदेव और विद्यापति को बहुत पीछे छोड़ दिया।

सूर के गीत अत्यन्त सुकोमल, मधुर और हृदयस्पर्शी हैं। गीतिकाव्य के सभी लक्षणों—भावात्मकता, गेयता, संक्षिप्तता आदि का सुचारु निर्वाह आपके गीतों में हुआ है। इन्हीं गुणों के कारण आज भी सूर के गीत अत्यधिक लोक-प्रिय हैं। सूर के गीतों में विविधता और विचित्रता दोनों ही गुण विद्यमान हैं। एक ही भाव को विविध रूपों में एवं चमत्कारपूर्ण शैली में उपस्थित करना

सूर को खूब आता है। इसलिए कृष्ण की बाल-लीलाओं को सूर ने अनेकानेक पदों में उपस्थित किया है। यदि यह कह दिया जाये कि वात्सल्य-वर्णन की भाँति गीतिकाव्य के क्षेत्र में भी सूर अद्वितीय हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी।

शैली—इस दृष्टि से भी सूर का क्षेत्र व्यापक है। प्रमुख रूप से सूर ने तीन शैलियाँ अपनाई हैं—

(क) वर्णनात्मक शैली—कृष्ण के रूप और कार्य-व्यापार का चित्रण करने के लिए एवं किसी आख्यान अथवा पौराणिक प्रसंग की ओर संकेत करने के लिए इस शैली को अपनाया गया है। इस शैली में काव्य सौष्ठव कुछ कम ही प्रदर्शित है।

(ख) दृष्टकूट पद-शैली—'साहित्य-लहरी' में इसी शैली को अपनाया गया है। इसमें विशिष्ट प्रकार की पद-रचना होती है। कई आलोचकों का मत है कि यह सूर की स्वाभाविक शैली नहीं है। वस्तुतः सूर के काव्य में वर्णित भक्ति-भावना के लिए यह शैली बहुत उपयुक्त सिद्ध भी नहीं हुई है।

(ग) दृश्य चित्रण-शैली—'सूर-सागर' में अनेक उत्सवों और दृश्यों का भी वर्णन किया गया है। इन प्रसंगों का वर्णन करते हुए सूर ने जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किए हैं वे देखते ही बनते हैं। सजीव शब्दावली में दृश्यों को ऐसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि दृश्य आंखों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठता है। कुछ चित्र साधारण और फीके भी हैं और उनमें कलात्मकता का अभाव भी खटकता है।

समवेत-रूप से स्वीकार करना होगा कि सूर का भाव-पक्ष जितना उदात्त और महान है उतना ही महान और चमत्कारपूर्ण कलापक्ष भी है।

प्रश्न ३—'सूर सूर तुलसी ससि'—इस उक्ति के संदर्भ में सूरदास और तुलसीदास के काव्य का युक्तियुक्त मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर—महाकवि सूर और तुलसी हिन्दी-साहित्य-गगन के सूर और चन्द्र कहे जाते हैं। इस उक्ति का यह अर्थ नहीं है कि चन्द्रमा की तरह तुलसी, सूरदास से काव्यक्षेत्र में छोटे हैं। यह उक्ति तो किसी के द्वारा अनुप्रास के

लोभ में लिखी गई प्रतीत होती है। इन दोनों महान् कवियों में किसको छोटा-बड़ा कहा जाये ? इस उक्ति का यही अर्थ है कि सूर के काव्य में सूर्य की तरह चकाचौंध की शक्ति है तो तुलसी के काव्य में चन्द्रमा के समान शीतलता। दोनों की तुलना के लिए उनके काव्य का विवेचनात्मक अनुशीलन आवश्यक है।

सूर और तुलसी लगभग एक ही समय में हुए और दोनों ने अपनी-अपनी रीति से सगुणोपासना का आँचल पकड़ा। सूरदास ने जहां कृष्ण के लोकरंजन रूप को ग्रहण किया वहाँ तुलसी ने राम के लोकरंजक और रक्षक दोनों रूपों का चित्रण किया है। तुलसीदास के समक्ष राम का समस्त जीवन था और सूरदास के समक्ष प्रमुखतः कृष्ण का बाल्यकाल। किन्तु तुलसी की बाललीला वा वर्णन मर्यादित है। वे राजकुमारों के साथ खेलते हैं, परन्तु सूर का बाल-चरिण अत्यन्त स्वाभाविक है। तुलसी के वर्णन में 'खेलन में को काको गुसैयाँ" की भावना नहीं है। सूर के वात्सल्य की विशेषता केवल इसी में नहीं कि उन्होंने बचपन की विविध दशाओं का स्वाभाविक और वैज्ञानिक चित्रण किया है। उन्होंने माता के हृदय की अकुलाहट तथा बेचैनी का भी बड़ा सजीव चित्र अंकित किया है।

सूर और तुलसी दोनों ने शृंगार का वर्णन सफलता से किया है। तुलसी का शृंगार-वर्णन मर्यादित है। सूर ने रसराज के प्रत्येक अंग का स्पर्श किया है। सूर ने सूरसागर में तो वियोग का सागर ही उड़ेल दिया है। तुलसी का संयोग-शृंगार बड़ा मर्यादित है। उनके वियोग से दुःख है, किन्तु वह भाग्य प्रेरित है। उसमें मान के लिए स्थान नहीं है। एक पत्नीव्रत होने के कारण ईर्ष्या आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। सीता, गोपियों की भाँति रामचन्द्र को उपालम्भ भी नहीं दे सकतीं।

तुलसी ने शृंगार-वर्णन प्रशंगवश ही किया है और वह भी मर्यादा के अन्तर्गत। जनक-वाटिका में राम-सीता-मिलन का दृश्य अंकित है किन्तु अत्यन्त मार्यादित रूप में। वन-गमन प्रसंग में ग्राम-बालिकाओं के स्वाभाविक आकर्षण का ही दर्शन है। दूसरी ओर सूर का प्रेम वर्णन कहीं-कहीं पर तो औचित्य की सीमा को भी पार कर जाता है।

सूर की साधना का क्षेत्र कृष्ण का लोकरंजक स्वरूप था, जबकि तुलसी नें राम के लोक-रक्षक रूप को प्रमुखता दी। सूर में सौन्दर्य ही सौन्दर्य है, जबकि तुलसी के काव्य में शक्ति, शील और सौन्दर्य का समन्वय है। इस रचना-दृष्टिकोण के भेद के कारण दोनों महाकवियों के काव्य में थोड़ा सा अन्तर हो गया है। उसे दृष्टि में रखते हुए हम दोनों के साहित्यिक महत्व पर विचार करेंगे।

सूर ने मानव प्रकृति के वात्सल्य और प्रेम इन दो भावों तक ही अपने को सीमित रखा है। तुलसी ने प्रत्येक परिस्थित में मनोदशाओं का चित्रण किया है। उनका अधिकार समस्त मानव-हृदय पर है। शृंगार, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, हास्य, शान्त और वात्सल्य-सभी रसों का सम्यक् प्रस्फुटन तुलसी के काव्य में हुआ है। ऐसे अनेक सूक्ष्म भावों का निरूपण किया है जहाँ तक सूर की पहुँच नहीं हो सकी है। सूर की दृष्टि यद्यपि वात्सल्य और शृंगार पर ही रही, परन्तु वे इन क्षेत्रों का कोना-कोना झांक आये। बाल-चेष्टाओं का जैसा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक स्वरूप सूर के काव्य में उपस्थित हुआ है उसमें तुलसी बहुत पीछे रह गये हैं। तुलसी का वर्णन सुन्दर होते हुए भी सूर की तरह स्वाभाविक नहीं हैं। इसका सबसे बड़ा कारण राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप ही है जो शिशु-क्रीड़ाओं में भी संयम सिखाता है। कृष्ण जहाँ खेल में बेइमानी करने में भी नहीं चूकते वहाँ राम बन्धु और मित्रों को हारी हुई बाजी जिता देते हैं। सूर के कृष्ण बलराम की शिकायत करने में कमी नहीं उठा रखते, किन्तु भरत को गर्व है कि राम ने कभी उनका मन दु:खी नहीं किया। भरत का निम्न कथन देखिये:—

सिसुपन ते परिहरेहु न संगु।
कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रति कृपण रीति जिव जोही॥
हारहुँ खेल जितायहु मोही॥

राम के बाद "बन्धु सेबक को" सराह कर बसन-गज-वाजि की भेंट करते हैं:—

बन्धु सखा सेवक सराहि, सनमानो सनेह संभारे।
दिये वसन गज वाजि सुम, साजि सुभांति संवारे।

कहाँ तो बलदाऊ का "हाऊ" द्वारा कृष्ण को भयभीत करना और कहाँ राम का गम्भीर स्नेह ; दोनों में वही अन्तर है जो यथार्थ और आदर्श में ।

मर्यादा की भावना के कारण ही तुलसी रति-भाव की गहराई तक नहीं पहुँच सके । तुलसी की भक्ति सेवक-भाव की है जबकि सूर की सख्य-भाव की । तुलसी ने अवसर के अनुकूल शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का मार्मिक चित्रण किया है; परन्तु वे मर्यादा से तनिक भी इधर-उधर नहीं हो सके । यही कारण है कि जहाँ सूर मे नैतिकता के ऊपर उठकर भावों के महासागर में आनन्द की किलोलें की हैं वहाँ तुलती के मर्यादावादी क्षेत्र में उच्छृङ्खलता का स्थान नहीं है ।

भाव-क्षेत्र के अतिरिक्त फला-क्षेत्र में दोनों ही सफल सरकार है। अलंकार विधान में दोनों में से कोई भी एक-दूसरे से कम नहीं हैं पर सूर की अपेक्षा तुलसी के काव्य में रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, अतिशयोक्ति आदि का अत्यन्त सफल प्रयोग मिलता है ।

वियोग-शृंगार के जितने भाव सूर ने अंकित किये हैं वे तुलसी के साहित्य में नहीं हैं, अंतः शृंगार और वात्सल्य में सूर तुलसी को बहुत पीछे छोड़ जाते है, तुलसी का अधिकार समस्त मानव हृदय पर हीं है ।

सूर ने गीति-काव्य की रचना की, जब कि तुलली ने गीति-काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य सब कुछ रचा । तुलसी ने प्रचलित सभी काव्य-पद्धतियों संत-कवियों की दोहा-शैली, प्रेम-गाथाकारों की दोहा-चौपाई शैली, वीरगाथा काल तथा गंग आदि भाटों के कवित्त आदि को अपनाया । तुलसी का व्रज और अवधी दोनों पर समान अधिकार है, जबकि सूर ने ब्रजभाषा में हीं रचना की ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसी का साहित्य-क्षेत्र व्यापक है और सूर का संकुचित, किन्तु शृंगार और वात्सल्य में सूर तुलसी से बहुत आगे हैं । तुलसी मानव-जीवन के विभिन्न रूपों के वर्णन में अद्वितीय हैं । राम भक्ति के प्रचार का उत्साह, लोक-रक्षा की भावना, धार्मिक एवं साहित्यिक धाराओं में सामंजस्य उपस्थित करने की प्रेरणा से तुलसीदास ने हिन्दी-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया है ।

(व्याख्या भाग)

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं ।।
या देही को गरव न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि में तन कृमि, कै विष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहैं।
कहँ वह नीर, कहाँ वह शोभा, कहं रंग-रूप दिखैहैं, ।
जिन लोगनि सौ नेह करत हैं तेई देखि घिनैहैं ।
घर के कहत सकारे काढ़ौ, भूत होइ घरि खैहैं।
जिन पुत्रनहिं बहुत प्रतिपाल्यो, देवी-देव मनैं हैं ।।
तेई लै खोपरी बांस दै, सीस फौरि बिखरै हैं।
अजहुँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि में कछु पैहैं ।।
नर-वपु धारी नाहिं जन हरि कौ, जम की मार सो खैहैं ।
सूरदास भगवन्त भजन बिन बृथा सु जन्म गवैहैं ।।
(विनय पद, १३)

प्रसंग—प्रस्तुत पद में महात्मा सूरदास शरीर की नश्वरता का वर्णन करते हुए ईश्वर का उपदेश दे रहे हैं ।

व्याख्या—जिस दिन शरीर में से आत्मा-रूपी पक्षी उड़ ज़ायगा, उसी दिन इस शरीर-रूपी वृक्ष के सभी पत्ते झड़ जायंगे और वह वृक्ष ही नष्ट हो जायगा। इस शरीर का गर्व नहीं करना चाहिये क्योंकि मरने के बाद तो इस शरीर को गीदड़, कौए और गिद्ध ही खाँयेंगे। या तो यह शरीर कीड़ा बनेगा या विष्टा या फिर धूल बन कर चारों ओर उड़ेगा। कहाँ जल होगा, कहाँ शोभा होगी और कहाँ वह रूप-रंग होगा, यह सब कुछ तो नष्ट हो जायेगा। जिन मनुष्यों से अधिक प्रेम किया था, वे ही मृत शरीर को देखकर घृणा करेंगे। परिवार और सगे कहेंगे कि मृत शरीर को शीघ्र ही घर से निकालो, नहीं तो वह भूत बनकर हमको खा जायेगा। जिन पुत्रों को उत्पन्न कर पाला, देवी-देवताओं की मनौतियां की, वे ही बांस लेकर खोपड़ी

पर मारेंगे और शीश को फोड़कर इधर-उधर फेंक देंगे। हे मूर्ख! अब भी तू सत्संग की प्राप्ति में लग जा और संतों के उपदेशों की प्राप्ति कर ले यह मनुष्य-शरीर धारण करने वाला व्यक्ति ईश्वर का नहीं है, यह तो यम की ही मार खायेगा। सूरदास जा कहते हैं कि भगवान के भजन बिना हे मनुष्य! तू व्यर्थ अपना मूल्यवान जन्म क्यों व्यर्थ खोता है?

विशेष—भगवान-भजन और सत्संग से ही मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है, ऐसा कवि का विचार है।

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा शब्द रसाल।
भ्रम-भौंयो मन भयो पखावज, चलत असंगत चाल॥
तृषना नाद करत घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बांध्यो, लोभ तिलक दियो भाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहीं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करो नन्दलाल॥
(विनय, पद संख्या १६)

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य महाकवि सूरदास रचित है। इसमें कवि ने अपने आराध्य भगवान कृष्ण से अपने उद्धार की याचना की है।

व्याख्या—सूरदास जी कहते हैं कि हे गोपाल कृष्ण, अब मैं इस संसार के चक्र में बहुत कष्ट पा चुका हूं, अब आप मेरा उद्धार करो हे भगवान! मैंने काम और क्रोध का चोला पहन करके तथा अपने गले में विषय-बासना की माला डालकर काफी नाच कर लिया है। हे ईश्वर, सांसारिक नृत्य में अधिक मोह के नूपुर की सतत ध्वनि आ रही है, अर्थात् मैं इस जगत के मोह में भटक गया हूँ और उस नूपुर से निंदा का सुन्दर शब्द निकलता है अर्थात् मैं सर्वदा निंदा करने आदि में ही लगा हुआ हूँ।

आगे कवि कहता है कि हे ईश्वर मैं भ्रम में भ्रमित हो गया हूँ और मेरा मन मृदंग के रूप में बज रहा है तथा वह कुसंगति की चाल चल रहा है। इसके अतिरिक्त भूख-प्यास आदि सताने वाले तत्व हृदय के अन्दर नाद

करते हैं और मैंने लोभ के लालच का तिलक अपने लगा लिया है। अतः, हे प्रभू मैं सभी ओर से विश्व के चक्कर में फंस गया हूँ। हे प्रभू मुझे जल स्थल और अन्य किसी बात की सुधि नहीं रही, मैंने करोड़ों मायाविनी कलाएं दिखाईं, अनेक दुष्टतापूर्ण काम किये, पर अब हे भगवान ! मुझे अब इस अविद्या, अन्धकार के अज्ञान से दूर करके मेरा मन शान्त करो।

विशेष—(१) भक्तिपरक आत्मनिवेदन उच्चकोटि का है।
(२) रूपक अलंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है।
(३) भाषा सरल और अभिव्यक्ति मार्मिक है।

तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी।
जिनकें बस अनिमिष अनेक गन अनुचर आज्ञाकारी ॥
बहत पवन, भरमत ससि दिनकर, फनपति सिर न डुलावैं।
दाहक गुन तजि सकत न पावक, सिन्धु न सलिल बढ़ावै ॥
सिव-बिरंचि-सुरपति समेत सब सेवत प्रभु-पद चाए।
जो कछु करन कहत सोई सोई कीजत अति अकुलाए ॥
तुम अनादि कविगत, अनंत-गुन-पूरन परमानन्द।
सूरदास पर कृपा करो प्रभु श्री वृन्दावन-चंद ॥
(विनय, पद संख्या १७)

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में भक्त कवि सूरदास भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी विनय प्रदर्शित करते हुए उनके महिमामय रूप का गुणगान कर रहे हैं और उन्हे सभी देवताओं तथा तत्वों से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए उनसे अपने ऊपर कृपा करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

व्याख्या :—हे प्रभु ! मैं तो तुम्हारी ही कृपा की भिक्षा मांगता हूँ। तुम अपने आप में इतने अधिक महिमामय हो कि अनेक गण आज्ञाकारी सेवक प्रत्येक क्षण तुम्हारे वश में रहते हुए तुम्हारी सेवा को तत्पर रहते हैं। तुम्हारी आज्ञा से पवन चलता है, सूर्य एवं चन्द्र भ्रमण करते दिखाई देते हैं और शेष अपने सिर को बिना हिलाए खड़े रहते हैं(यह विश्वास है कि पृथ्वी शेष के सिर पर आज्ञा स्थिर है, जो कभी हिलता नहीं)। अग्नि में जो दाह-शक्ति उसे वह तुम्हारी आज्ञा के कारण त्याग नहीं सकती, अर्थात् अग्नि की दाह शक्ति भी

तुम्हारे ही कारण से है। समुद्र भी तुम्हारा संकेत पाये बिना अपने जल में वृद्धि नहीं कर सकता, अर्थात अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ सकता। भगवान् शिव, ब्रह्मा और इन्द्र सहित सभी देवता-गण तुम्हारे चरणों की सेवा में लगे रहते हैं और जो कुछ भी उन्हें करने के लिए कहते हो उसे पूरा करने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। हे प्रभु कृष्ण! तुम अनादि हो, तुम्हें पूर्णरूपेण समझा नहीं जा सकता, अनंत प्रकार के गुणों से परिपूर्ण तुम भक्तों को परम आनंद प्रदान करने वाले हो।

सूरदास कहते हैं कि हे वृन्दावन-क्षेत्र को अपनी स्निग्ध ज्योति से प्रकाशित करने वाले भगवान कृष्ण मुझ पर अपनी कृपा बनाए रखो।

विशेष :—(१) इस पद में भगवान कृष्ण का परब्रह्म महिमामय स्वरूप प्रकाशित किया गया है। (२) 'तुम अनादि, अविगत-अनंत--गुन-पूरन परमानंद में अनुप्रास अलंकार का उत्कृष्ट रूप दर्शनीय है, (3) भक्त-कवि सूरदास का यह पद उनके द्वारा सख्य-भाव अपनाए जाने से पूर्व रचा गया, जिसमें तुलसी की भाँति दास्य-भाव की छाया स्पष्टतः देखी जा सकती है।

धनि जननी जो सुभटहिं जावै।
भीर परें रिपु को दल दलि-मलि कौतुक करि दिखरावै॥
कौसिल्या सौं कहति सुमित्रा, जनि स्वामिनी दुख पावै।
लछिमन जनि हौं भई आज सपूती, राम-काज जो आवै॥
जीवै तौ सुख बिलसै जग में, कीरति लोकनि गावै।
मरै तो मंडल भेद भानु को, सुरपुर जाइ बसावै॥
लोह गहैं लालच करि जिय कौ, औरौ सुभट लजावै।
सूरदास प्रभु जीति शत्रु कौं, कुशल-छेम घर आवै॥

(रामचरित, पद संख्या ९)

प्रसंग —यह पद भगवान राम के वनवास के सदर्भ में लिखा गया है। राम वन में हैं और इधर अयोध्या में उनके विषय में कौशल्या और सुमित्रा वार्तालाप कर रही हैं। सुमित्रा कौशल्या से कहती है :—

व्याख्या :—वह जननी धन्य है जो वीर-पुत्र को जन्म देती है। वीर संकट आने पर शत्रुओं के दल का विनाश करता है और यह कार्य उसके लिए एक

क़ौतुक के समान ही होता है। समित्रा कौशल्या से कह रही हैं कि वे किसी भी प्रकार के दुःख का अनुभव, अपने मन में न करें क्योंकि उन लक्ष्मण को, जो राम के साथ ही वन में गए हैं, जन्म देकर वह स्वयं धन्य हो गई हैं। उन लक्ष्मण का एक ही कार्य है— राम की सेवा में प्रस्तुत रहना। ऐसा वीर यदि जीवित रहता है तो पृथ्वी पर सर्वत्र सुख फैलता है और इस कारण प्रत्येक व्यक्ति उसकी कीर्ति का गान करता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो वह सूर्य-मंडल का भेदन कर आकाश स्थित देवताओं के लोक की समृद्धि करता है। ऐसा वीर ही वास्तव में वीर है। अन्य वीर जो रण-क्षेत्र में अपने प्राणों के मोह के कारण आत्म-रक्षा की भावना से शस्त्रों को धारण करते हैं वे स्वयं तो वीर होते ही नहीं अन्य वीर-पुरुषों को भी लजाते हैं।

सूरदास अपनी यह कामना प्रकट करते हैं कि भगवान राम अपने शत्रु रावण को विजित कर कुशलतापूर्वक घर लौट आयेंगे।

विशेष :— (१) यह रामचरित से सम्बन्धित पद है और इसमें भी सूरदास का भक्ति व्यक्तित्व अपने उदात्त रूप में प्रकट हुआ है। (२) 'मरै तों मंडल भेदि भानु कौ, में अनुप्रास है। (३) भगवान राम का सूरदास ने कृष्ण के लोकरंजक-स्वरूप से भिन्न लोकरंक्षक स्वरूप प्रकट किया है।

> कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
> प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रंग खेलत।
> सिव सोचत, विधि बुद्धि विचारत, बट बाढ़्यौ सागर जल झेलत ।।
> बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग-दंसीनि सकेलत।
> मुनि मन भीत भए, भुव कंपित, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
> उन ब्रजवासिन वात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत ।।
>
> (वात्सल्य, पद संख्या ६)

प्रसंग —बाल रूप श्री कृष्ण की झाँकी का वर्णन है। बच्चा किस प्रकार अन्तर्निहित हो अपने में ही प्रसन्न होता है और अनेकों क्रीड़ाएँ करता है उसी का वर्णन किया गया है।

व्याख्या —भगवान अपने पालने में अकेले लेटे हुए हैं। उन्होंने अपने हाथ से पैर का अँगूठा पकड़ कर मुँह में दिया हुआ है। अपने में प्रसन्न हो रहे हैं और अपने-आप ही खेल रहे हैं। यह दृश्य देखकर शिव विचार में पड़

गए, विधाता भी विचार कर रहे हैं। वह वृक्ष बढ़ गया है। सागर का जल बढ़ गया है। बादल यह सोचकर कि कहीं प्रलय तो नहीं आ रही है इसलिए घुमड़-घुमड़कर चल पड़े हैं और दिशाओं के स्वामी हाथी अपने दाँतों को आगे बढ़ा रहे हैं। मुनियों के मन में भय उत्पन्न हो गया है। सम्पूर्ण भुवन कांप उठे हैं। शेष नाग ने अपने सहस्त्रों फन फैला दिये हैं, बाकी समस्त प्राणी एवं देवता भयभीत हो उठे हैं। इन सब बातों को व्रजवासिनी बालाएँ समझ भी न पाईं। केवल सूरदास ही समझ पाये हैं कि वह पैर मारकर इन समस्त संकटों को हटा रहे हैं।

विशेष—कृष्ण पारब्रह्म पमेश्वर हैं। जब वह साधारण बालकों की-सी लीला करते हैं तो देवता, शिव, इन्द्र, मुनि कोई भी इन रहस्यों को समझ नहीं पाता और वह आशंकित हो उठते हैं।

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिम्ब पकरिबैं धावत
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौ कर सौं पकरन चाहत
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुन-पुन तिहि अवगाहत
कनक भूमि पर कर पग छाया, यह उपमा इक राजति
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति
बाल दसा सुख निरखि यशोदा पुनि-पुनि नन्द बुलावति।
अंवरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु कौं दूध पिलावति॥
(वात्सल्य, पद संख्या १३)

प्रसंग—यह पद्य महाकवि सूरदास द्वारा रचित बाल-लीला के पदों से लिया गया है। इसमें कवि बालकृष्ण का कमनीय बर्णन करते हैं।

व्याख्या—सूरदास वहते हैं। कि भगवान कृष्ण अपने घुटनों के बल चलते हुये किलकारी मारते हुये आते है और मणियों से जड़े हुए सोने के आँगन में अपनी परछाइं देखकर उसे पकड़ने के लिए दौड़ते हैं। कभी भगवान कृष्ण अपनी छाँह को देखकर उसे अपने हाथ में पकड़ना चाहते और कभी-कभी वे किलकारी मारकर कृष्ण हँसते हैं। और हँसने के साथ उनके अग्रभाग के दो दाँत बड़े सुन्दर लगते हैं और बार-बार अपनी परछांई को पकड़ना

चाहते हैं। सूरदास कहते हैं कि स्वर्ण से सुशोभित भूमि पर भगवान कृष्ण की हाथ और पैरों की छाया अत्यन्त सुन्दर लगती है। उसके लिए केवल एक ही उपमा अच्छी लगती है कि मानो ऐसा लग रहा है जैसे धरती की प्रत्येक मणि अपने हाथ में भगवान के चरण-कमलों को पकड़ना चाहती हो। इस प्रकार बच्चे की दशा देखकर माता यशोदा बार-बार नन्द को अपने पास बुलाती है और अपने आँचल के नीचे कृष्ण को ढककर दूध पिलाती हैं। यह अनुपम सौन्दर्य है।

विशेष— (१) कृष्ण के बाल-रूप की झाँकी बड़े ही मनोरम ढंग से चित्रित की गई है।

(२) बालक और माता के व्यवहार को सूर ने बड़ी कुशलता से छन्दोबद्ध किया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनके अन्तःस्थल में बैठकर उनकी भावनाओं को समझा हो। यह वर्णन सूर जैसे कुशल एवं भावुक कलाकार द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(३) उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार है, बाल-वर्णन सुन्दर है। अनुभूति अत्यन्त सरस है। कृष्ण की क्रीड़ा से मन मोहित हो जाता है।

> **हरि अपने आंगन कछु गावत।**
> **तनक-तनक चरननि सों नाचत मनहीं मनहिं रिझावत॥**
> **बांह उठाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत।**
> **कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर में आवत॥**
> **माखन तनक आपनें कर लै, तनक बदन मैं नावत।**
> **कबहुँक चितै प्रतिबिम्ब खम्म मैं, लौनी लिए खवावत॥**
> **दुरि देखति यशुमति यह लीला, हरष आनन्द बढ़ावत।**
> **सूर स्याम के बाल-चरित नित-नित ही देखत भावत॥**

(वात्सल्य, पद संख्या २६)

प्रसंग—बचपन में बच्चे जो स्वाभाविक क्रियाएँ करते हैं उनका मनोरम, हृदयग्राही और सुन्दर चित्रण सूर ने सीधी-सादी एवं बड़ी ही रसपूर्ण भाषा में किया है।

व्याख्या—बाल-कृष्ण अपने आंगन में अकेले बैठे हैं और मस्त होकर कुछ गा रहे हैं। अपने छोटे-छोटे पैरों से नाच-नाचकर बड़े ही प्रसन्न

हो रहे हैं तथा अपने मन को लुभा रहे हैं। कभी अपनी बाँह उठाकर काली और श्वेत गायों को आवाज देकर बुला रहे हैं, कभी वह नन्द 'बाबा' कहकर पुकारते हैं तो कभी घर के अन्दर घुस जाते हैं। वह थोड़ा सा माखन हाथ मे लेकर अपने शरीर पर लगा लेते हैं और कभी खम्भों में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर उसको माखन खिलाने लगते हैं। यशोदा छिपी हुई खड़ी हैं और कृष्ण की यह लीला देखकर बड़ी ही आनन्दित हो रही हैं। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण की रोज-रोज यही बाल लीलायें देखने पर भी नित्य ही नवीन प्रतीत होती हैं। यहाँ पर भाव यह है कि बाल-लीला के लालित्य से जनक और जननी इतने आत्मविभोर हो जाते हैं कि बालकृष्ण की लीलाओं की पुनरावृत्ति भी उन्हें नहीं प्रतीत होती।

विशेष --(१) अपने में ही मस्त होकर गाना, नाचना तथा माखन को शरीर पर मलना एवं प्रतिबिम्ब देखकर उसे अन्य बालक समझकर खिलाना बढ़ी ही स्वाभाविक बाल मनोवृत्ति है। नेत्रहीन सूर ने हृदय के नेत्रों से कृष्ण की झाँकी के दर्शन किये हैं और इसी कारण यह चित्रण बड़ा स्वाभाविक एवं सजीव बन पड़ा है।

(२) भाषा सजीव और प्रवाहमयी है।

मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल को लीन्हौं तू जसुमति कब जायौ ?
कहा करौं इहि रिस के मारें खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता को है तेरौ तात॥
गोरे नन्द यशोदा गोरी तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत हँसत सबै मुस्कात॥
तू मोहि कौं मारन सीखी, दाऊहिं कबहुँ न रीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातें जसुमति सुनि-सुनि खीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही कौं घूति।
सूर स्याम मोंहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥
(वात्सल्य, पद संख्या ३२)

प्रसंग —बालकों का परस्पर लड़ना और माँ से शिकायत करना तथा माँ का बच्चे को समझाना दिन-प्रतिदिन के जीवन में घटित होता ही रहता

है। कृष्ण और वलराम भाई हैं। अवस्था में थोड़ा ही अन्तर है। अतः छेड़-छाड़ का स्वाभाविव ही है। कृष्ण खीझ उठे हैं वलदाऊ से और माँ के पास उपालंभ लेकर आये हैं।

व्याख्या—बालक कृष्ण वलराम के व्यवहार से रुष्ट होकर माता के समीप आते हैं। उनसे कहते हैं—हे माता, यह वलराम मुझे बहुत चिढ़ाता है। मुझ से कहता है कि तुझे यशोदा माता ने पैदा नहीं किया है अपितु मोल का लिया है। माँ मैं क्या करूँ, इसी क्रोध के कारण मैं खेलने नहीं जाता। वह मुझसे बार-बार पूछता है कि कौन तुम्हारी माता है तथा कौन तुम्हारा पिता है। क्योंकि यशोदा और नन्द बाबा दोनौं ही गोरे हैं तव तू कहाँ से काला हो गया। तू उनका पुत्र है तो तुझे भी गोरा होना चाहिए था। यहीं नहीं उसके साथ समस्त ग्वाल-बाल भी ताली बजाकर हँसते हैं और वलराम उन्हें सिखाता है। हे माँ, तू मुझे तो सदैव मारती रहती है, परन्तु वलराम पर कभी भी क्रोध नहीं करती। इस प्रकार जब कृष्ण ने क्रोध में भरकर अपनी माता से शिकायत की तो यह बातें सुनकर वे रीझने लगीं और मन ही मन प्रसन्न हो उठी। फिर कृष्ण को साहस बँधाते हुये कहने लगीं।

हे कृष्ण, यह वलराम तो जन्म का ही दुष्ट है। तुम उसकी बातों पर विश्वास मत करो। उसने शरारत में ही ऐसा कह डाला होगा। हे कृष्ण, मुझे गऊओं के धन की शपथ तू मेरा पुत्र है और मैं तेरी माता हूं।

विशेष—(१) बाल-मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण बड़ा हृदयस्पर्शी हैं।
(२) स्वभावोक्ति एवं अनुप्रास अलंकार है।
(३) वात्सल्य रस है।

जेंवत स्याम नन्द की कनिया।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत, छवि निरखत नन्द रनियाँ ।।
बरी, बरा बेसन बहु भाँतिनि व्यंजन विविध अगनियाँ।
डारत, खात, लेत अपने कर, रुचि मानत दधि दोनियाँ ।।
मिली दधि माखन मिश्रित करि मुख नावत, छवि धनियाँ।
आपुन खात, नन्द मुख नावत, छवि कहत न बनिया ।।
जो रस नन्द-जसोदा विलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नन्द अचवन लीन्हौं, माँगत सूर जुठनियाँ ।।
(वात्सल्य, पद संख्या ३४)

प्रसंग—इस पद में सूर ने नन्द जी की गोद में भोजन करते हुए कृष्ण का बहुत ही भावपूर्ण चित्र अंकित किया है।

अर्थ—बालकृष्ण नन्दजी की गोद बैठे हुए भोजन खा रहे हैं। कुछ खा रहे हैं, कुछ धरती पर गिरा रहे हैं। यशोदा जी उनकी इस छवि को प्रसन्न होकर देख रही हैं। अगोनी के टुकड़े, बेसन और पिट्ठी के बने हुए पकवान के टुकड़े तथा और दूसरे भिन्न-भिन्न व्यंजन खाते हुए कुछ नीचे डाल रहे हैं। कुछ हाथों में लिए हुए हैं तथा खाते हुए अत्यन्त रुचि ले रहे हैं। मिस्री, दही और मक्खन मिला कर श्रीकृष्ण मुख में डाल-डालकर खा रहे हैं और अत्यन्त शोभायमान हैं। जो सुख नन्द और यशोदा जी को मिल रहा है, वह तीनों भुवनों में भी मिलना अत्यन्त कठिन है। भोजन करके नन्द जी ने कुल्ली की। सूरदास जी तो केवल कृष्ण और नन्दजी की बची हुई जूठन की ही कामना करते हैं।

विशेष—(१) कृष्ण की बालसुलभ चेष्टाओं का स्वाभाविक वर्णन हुआ है।

मुरली तऊ गुपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नंदलालहिं, नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाइ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आज्ञा करवावति, कटि टेढ़ौ ह्वै आवति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नार नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर-पल्लव पलुटावति॥
भृकुटि, कुटिल नैन नासा-पुट, हम पर कोप करावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन धर सीस डुलावति॥
(मुरली-स्तुति, पद-सख्या ७६)

प्रसंग—गोपियों को आश्चर्य हो रहा है कि मुरली अनेक प्रकार से कृष्ण को नाच नचाती है फिर भी उन्हें अच्छी लगती है। बांसुरी बजाते समय कृष्ण की छटा का वर्णन हैं।

व्याख्या—गोपियाँ आश्चर्य चकित होकर आपस में वार्त्तालाप करते हुए कहती है कि यह मुरली अनेक प्रकार से कृष्ण को नाच नचाती है (तंग करती

है) किंतु फिर भी उन्हें यह अच्छी लगती है। इस मुरली के कारण ही उन्हें एक पैर से खड़ा होना पड़ता है, जैसे इसका उन पर बड़ा भारी अधिकार हो। कोमल शरीर वाले कृष्ण से यह अपनी आज्ञाओं का पालन कराती है, यहां तक कि उसके बोझ के मारे उनकी कमर टेढ़ी हो जाती है। यही नहीं, यह मुरली हमें भी नहीं देख सकती। कृष्ण इसके अधिकार में आकर हम पर क्रोध करते हैं। कृष्ण की हम पर कुपित होने की कल्पना हमें इस बात से होती है कि मुरली बजाते समय और हमारी ओर देखते हुये उनकी भृकुटियां तन जाती हैं, नेत्र स्थिर हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं तथा नथुने फैल जाते हैं। (ये सब क्रोध के लक्षण हैं) कृष्ण इस मुरली के इतने कृतज्ञ हो गये हैं कि इसे बजाते समय अपनी गर्दन झुका लेते हैं और यह उसकी ओष्ठ-रूपी शैय्या पर लेट कर अपने चरणों को उनसे दबवाती है। सूरदास कहते हैं कि क्षण भर के लिये उनकी गर्दन को हिलती देख हम कृष्ण के प्रसन्न होने की कल्पना कर लेते हैं।

विशेष—(१) इस पद में मुरली बजाते समय कृष्ण की मुद्रा का चित्रण किया गया है।

(२) ईर्ष्या का सुन्दर वर्णन है।

(३) श्लेष और रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग है।

+ + +

गवालिन तुम कत उरहन देहु ?

पूछहु जाई श्याम सुन्दर को, जिहि दुख जुर्‌यो सनेह ॥
जन्मत ही तें भई विरत चित, तज्यो गाउँ, गुन गेहु।
एकहि पाउँ रही हो ठाढ़ी हिम-ग्रीष्म-ऋतु मेहु ॥
तज्यो मूल साखा सुपत्र सब, सोच सुखानी देहु।
अगिनि सुलाकत मुर्‌यो न तन-मन, बिकट बनावत बेहु ॥
बकतीं कहा बांसुरी कहि-कहि, करि-करि तामस तेहु।
सूर श्याम इहिं भाँति रिझै किनि, तुमहुँ अधर रस लेहु।

(रास-लीला, पद संख्या ९९)

प्रसंग—गोपिकाओं को बाँसुरी से सौतिया डाह है क्योंकि वह कृष्ण को बहुत प्रिय है और उसके बजाते समय वह सुध-बुध खो बैठते हैं। अतः ईर्ष्या

होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार बांसुरी को दिन-प्रतिदिन विरोध एवं व्यंग-बाण सहने पड़ते है अत: वह गोपिकाओं को अपने प्रिय होने का कारण बताती है।

व्याख्या बाँसुरी कहती कि गोपियो ! तुम क्यों उपालम्भ देती हो ? इसके लिए तुम श्यामसुन्दर के पास जाओ और उनसे इसका कारण पूछो कि मैंने कितना दुख उठाकर यह मिलन-सुख पाया है। पैदा होते ही मुझे संसार से अपना मोह छोड़ना पड़ा। मुझे अपना गांव गुण एवं गृह सब कुछ छोड़ना पड़ा। मैं एक ही पैर से खड़ी रही। चाहे गर्मी हो, जाड़ा हो या वर्षा हो। मुझे जड़, शाखा एवं पत्ते सब कुछ छोड़ना पड़ा और मैंने अपने शरीर को सुखा दिया। आग के जलने पर मेरा तन-मन सब कुछ झुलस गया और मेरा वेष भी अजीब बना दिया गया। बाँसुरी कहती है कि हे ग्वालिनी ! तुम ईर्ष्यालु-हृदय से क्या-क्या व्यर्थ की बातें बकती रहती हो। सूरदास जी कहते हैं कि सूर के श्याम इसी प्रकार रीझते हैं। अत: मेरी भाँति दुख सहकर तुम भी भगवान के अधर-सुधा-रस का पान करो।

विशेष:— ब्रह्म एवं प्रिय की प्राप्ति के लिए-बड़े बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। अपनत्व एवं अपने सुख को मिटाना पड़ता है, तब जाकर प्रिय-मिलन के सुख की प्राप्ति होती है।

सखी इन नैनन तें घन हारे।
बिनु ही ऋतु बरसत निसि-वासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
दिसन सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे।।
ढुरि ढुरि बूँद परत कंचुकि पर, मिलि काजर सों मारे।
मानों परम कुटी सिव कीन्हीं, दिवि मूरति धरि न्यारे।।
सुमिरि-सुमिरि गरजत जल छांडत, अंसु सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिन गिरिधर धर प्यारे।।
(गोपिका-विरह, पद-संख्या ११३)

प्रसंग— कृष्ण के वियोग में एक गोपिका अपने नेत्रों के चिरंतन प्रवाह को देखकर घन से उनकी तुलना कर रही है। बादलों के सदृश नेत्र भी निरन्तर बरस रहे हैं परन्तु इनमें एक अन्तर है। बादलों के बरसने की कोई अवधि तो होती है, परन्तु आँखें तो निरन्तर बरसती ही रहती हैं।

व्याख्या—गोपिका अपनी अन्य सखी से कहती है कि हे सखी ! इन नेत्रों से तो बादल भी हार मान चुके हैं। बादल ऋतु के समय के अनुसार बरसते हैं, परन्तु यह नेत्र तो बिना ही ऋतु के निरन्तर बरसते रहते हैं। जिस प्रकार वर्षा के उपकरण प्रभंजन' जल-प्रवाह आदि हैं उसी प्रकार मेरे श्वास-प्रश्वास प्रभन्जन की तरह हैं और नेत्रों का प्रवाह बादल के जलवर्षण के समान है। सुख तो नदी के किनारे के वृक्षों के समान है, जो वियोग के जल-प्लावन से कभी भी बहाया जा सकता है। वचनों के पंछी भी किसी सुन्दर दिशा में अपना बसेरा खोजकर बैठ गये हैं। बार-बार हृदय में प्रियतम का स्मरण होता है और आँखों से आंसुओं की धाराएं बह निकलती है। मानों बादलों के साथ जो गर्जन है, वही स्मरण मेरे साथ है और दोनों का ही परिणाम जल-वर्षण है। आज समस्त व्रज वियोग के जलप्लावन में डूब रहा है। एक बार तो गोपाल ने गिरि को अंगुली पर उठा कर हमारी रक्षा की थी, अब उनके अभाव में आज हमारी कौन रक्षा करेगा।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में सांगरूपक है। बादल और नेत्रों की परस्पर चित्रमयी तुलना की गई है।

(२) सखी के नेत्रों का जल-प्लावन, आँखों की पुतलियों का मन्द पड़े रहना, बार-बार स्मरण होना और आँखों की राह आंसुओं का बरसना, गोपिका के वियोग-चित्र को मूर्तिमान रूप में प्रस्तुत कर देता है।

बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे।
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह ज्वर कारे॥
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नाँव तुम्हारे।
देखो सकल बिचारि सखी जिय, बिछुरन को दुख न्यारे॥
जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम बान अनियारे।
सूरदास प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यो सिन्धु करि खारे॥

(गोपिका-विरह, पद-संख्या ११६)

प्रसंग—विरहणी गोपिका पपीहे को लक्ष्य करके कहती हैः—

व्याख्या—हे पपीहा' तुम चिरंजीवी होओ ! तुम रात-दिन अपने प्रियतम का नाम लेकर पिउ-पिउ चिल्लाते रहते हो, इसी विरह के ज्वर से तुम्हारा शरीर भी काला पड़ गया है। तुम दूसरों के दुःख को देखकर दुखित होते

हो, वास्तव में तुम्हारा चातक नाम सार्थक है। सखी ! यह बात बिल्कुल सच्ची है कि सब दुखों से बिछुड़ने का दुःख और भी न्यारा होता है। जिसको प्रेम का तीखा बाण लगता है, वही उसकी पीड़ा को पहचान सकता है, अन्य नहीं। कवि सूरदास कहते हैं कि समुद्र के किनारे रहकर भी, पपीहा (चातक) स्वाति की बूंद की आशा में प्यासा रहता है और समुद्र का जल ग्रहण नहीं करता।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपिकाएं चातक के प्रेम को अपने लिए सहानुभूति-सूचक मानकर उसकी प्रशंसा करती हैं। चातक पिऊ-पिऊ चिल्लाकर मानो प्रियतम की याद ताजी रखता है।

(२) सुनहु गोपी हरि को संदेस।
करि समाधि अन्तर्गति ध्यावहु, यह उनको उपदेश ।।
वै अविगति अविनासी पूरन, सब घट रहे समाय।
निर्गन ज्ञान लिनु मुक्ति नहीं है, बेद पुराननि गाइ ।।
सगुन रूप तजि निर्गन ध्यावो, इक चित मन लाइ
यह उपाय् करि बिरह तरो तुम, मिलै ब्रह्म तब आई ।।
दूसह संदेस सुनत माधो को, गोपीजन बिलखानी।
सूर विरह की कौन चलावै बूड़त मन बिनु पानी ।
(गोपिका-विरह, पद-संख्या १२१)

प्रसंग—कृष्ण मथुरा चले गये। स्वयं तो नहीं आये, परन्तु उन्होंने संदेश देकर अपने सखा उद्धव को भेजा। उद्धव व्रज पहुँच गये हैं। कृष्ण के सखा हैं, अतः समस्त गोपिकायें उन्हें घेर कर खड़ी हो गईं और ऊधो उन्हें कृष्ण का संदेश सुना रहे हैं।

व्याख्या—उद्धव कहते हैं कि हे गोपियो ! तुम कृष्ण का उपदेश सुनो ! उनका यह उपदेश है कि तुम समाधि लगाकर उनका मन में, अन्तरात्मा में ही ध्यान करो। वे अज्ञात हैं। उनके स्वरूप को कोई जान रहीं सकता। वे सदा अखण्ड है और सदा पूर्ण-स्वरूप हैं। वह समस्त पदार्थों एवं सब हृदयों में समाये हुए हैं। तत्वज्ञान अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को जाने बिना मुक्ति नहीं होती, आवागमन से छुटकारा नहीं मिलता; ऐसा वेद-पुराणों में कहा

गया है। तुम सब अन्तःकरण और मन से एकमात्र उस ब्रह्म का, उनके सगुण-साकार रूप को त्याग कर निर्गुण निराकार रूप का ध्यान करो। तुम वह उपाय करो जिससे तुम्हें ब्रह्म या पूर्ण-परमेश्वर मिल जाये।

कृष्ण के इस असह्य संदेश को सुनकर गोपियां फूट-फूट कर रोने लगीं। सूरदास कहते हैं कि विरह की बात तो कौन कहे, वे बिना पानी के डूबती हुई-सी प्रतीत होने लगी अर्थात् विरह के सागर में डूब गई।

विशेष—इन पंक्तियों में उद्धव ने गोपियों को योग की साधना का उपदेश दिया है।

> **अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।**
> **अब कैसे रहति स्याम रँगराति, ए बातें सुनि रूखी॥**
> **अवधि गनत इक टक मग जोवत, तब ऐ इत्यों नहिं झूखी।**
> **इते मान इहि योग सन्देसन' सुनि अकुलानी दूखी॥**
> **सूर सकत हठ नाव चलावत, एसरिता हैं सूखी।**
> **बारक वह मुख आनि देखावहू, दुहिपै पिवत पतूखी॥**

(गोपिका विरह, पद-संख्या १२३)

प्रसंग—यह पद्य महाकवि सूरदास द्वारा रचित 'भ्रमरगीत'-प्रसंग से लिया गया है। इस पद्य में एक गोपी प्रेम के क्षेत्र की विलक्षणता का चित्रण कर रही हैं।

व्याख्या - गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, हमारी ये आंखें भगवान कृष्ण के रूप-दर्शन की भूखी हैं। हे उद्धव ! अब तुम यह बताओ कि भगवान कृष्ण के रूप और रस से पगी हुई ये आँखें अब तुम्हारी सूखी योग की बातें सुनकर कैसे धैर्य धारण कर सकती हैं। इन आँखों की दशा विचित्र है।

गोपियां कहती हैं कि जब ये आंखें अवधि गिनती थीं और एकटक होकर मार्ग देखती थीं तब ये इतनी दुःखी नहीं हो पायी थीं जितनी कि अब तुम्हारे इस योग के संदेश को सुन करके व्याकुल हो गई हैं और दुखी हुई हैं। गोपियां उद्धव से निवेदन करती हैं कि यदि हमें सुखपूर्वक देखने की कामना है तो फिर दुबारा एक बार हमें कृष्ण का वही दोनों हाथों से दूध दुहते हुए और पीते हुए मुख दिखला दो। हे उद्धव, हम तो उसी सौन्दर्य की

उपासिका हैं और अब विरह के कारण हमारी सरसता सूख गई है तुम दृढ़तापूर्वक इसमें अपनी ज्ञान की नाव मत चलाओ क्योंकि हमारी यह हृदय-रूपी सरिता सूख गई है।

विशेष — (१) 'पिवत पतूखी' में अनुप्रास अलंकार है।

(२) इस पद्य में गोपियों ने अपने मनोभावों को ज्ञान और हृदय के समन्वय के रूप में चित्रित किया है। यह तर्क भी है और हृदय की विवशता भी।

> ऊधौ, कोकिल कूजत कानन ।
> तुम हम को उपदेस करत हो, भस्म लगावन आनन ।।
> औरों सींगी सखी संग लै, टरत चढ़े पषानन ।
> बहुरो आइ पपीहा के मिस, मदन दहत निज बानन ।।
> हम तो निपट अहीरि बावरी, योग दीजिए जानन ।
> कहा कथन मौसी के आगे, जानत नानी नानन ।।
> तुम तो हमहिं सिखावन आये, मुक्ति होइ निर्वानन ।
> सूर मुक्ति कैसे पुजति हैं, वा मुरली के तानन ।।

(गोपिका-विरह, पद-संख्या १२९)

प्रसंग — बसन्त का आगमन है और उस मधुमास में भी उद्धव योग का उपदेश देते हैं तो गोपियाँ उनके तर्क को निरर्थक बताते हुए कहती हैं : —

व्याख्या — अरे उद्धव ! तुम्हें कुछ बसन्त की भी खबर है? वह देखो वन में कूक-कूक कर कोयल बसन्त के आगमन की सूचना दे रही है। ऐसे सुहावने और उत्तेजक समय में भी तुम हमें मुख पर भस्म लगाने की शिक्षा दे रहे हो। परन्तु तुम्हें यह नहीं पता कि बसन्तोत्सब में मुंह पर अबीर और गुलाल लगाया जाता है। हम तुम्हारे उपदेशानुसार सब कुछ छोड़ कर पाषण-शिलाओं पर आरूढ़ होकर अवश्य सिंगी फूंकतीं परन्तु क्या करें हमें तो काम चैन नहीं लेने देता। वह तो पपीहा के बोलों को लेकर अपने कुसुम-बाणों से हम पर चोट करता है। हम तो प्रेम में नितान्त पगली अहीरन हैं। इस योग के पात्र तो ज्ञानी हैं। यदि उन्हीं को योग शिक्षा दोगे तो उचित होगा। प्रत्युत्तर में यदि कहो कि तुम्हारे प्रियतम ही इस पर बल दे रहे हैं, तो

उसका उत्तर यह है कि तुम नहीं जानते कि यथार्थ में कृष्ण योगी हैं या भोगी ? हम तो उनकी नस-नस जानती हैं। अतः हमारे सम्मुख उन्हें योगी कह कर हम पर रोब मत डालो, क्योंकि हमारे आगे उनका यह बनावटी रूप ठहर नहीं सकेगा। कहीं कोई मौसी के सम्मुख ननिहाल की शेखी बघार सकता है ? नहीं। क्योंकि मौसी भी तो उसी घर की बेटी है जो कि उससे अधिक जानती है। अतः योग की चर्चा छोड़ दो और हमें श्यामसुन्दर की मनोहर मूर्ति की चर्चा गाने दो।

सूरदास कहते हैं कि गोपियां कह रही हैं कि तुम्हारी मुक्ति का आनन्द उस मुरली की तानों के आनन्द की तुलना कैसे कर सकता है।

विशेष—अपह्नुति और लोकोक्ति अलंकार हैं।

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन क्रम बचन नन्द नन्दन, उर यह दृढ़ करि पकरी ॥
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि, कान्ह कान्ह जकरी।
सुनत योग लागत हमैं ऐसौं. ज्यों करुई ककरी।
सुतौ व्याधि हमकौ लै आये, देखि सुनि न करी।
यह तौ सूर ताहि लै सौंपौं, जिनके मन चकरी ॥

(गोपिका-विरह, पद-संख्या, १३०)

प्रसंग—गोपियाँ सगुण में अपनी दृढ़ता वर्णन करती हुई उद्धव से कह रही हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! जिस प्रकार हारिल पक्षी का व्रत है कि वह जमीन पर पैर नहीं रखती, लता के आधार के अभाव में वह अपने चगुल में दबी हुई लकड़ी के आधार पर ही अपने अटल व्रत को ठीक निभाती है उसी प्रकार हमने भी हरि को पकड़ रखा है, उन्हें हम जीते जी नहीं छोड़ सकतीं। मनसा, वाचा, कर्मणा हमने हृदय में हरि को ही दृढ़ता से जमा रखा है। सोते, जागते, स्वप्न और प्रत्यक्ष में सदा कृष्ण के ही दर्शन और उन्हीं की पुकार रहती है। मधुप ! तुम्हारा योग सुनने में कड़वी ककड़ी के स्वाद सा प्रतीत होता है। जो हमने कभी न देखी न सुनी, उसी व्याधि को आप हमारे लिए ले आये। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यह योग तो उनके

लिए उपयुक्त है जिनके चंचल मन इधर-उधर ही भटकते रहते हैं। योग नाम ही चित्त-वृत्ति-निरोध का है और निरोध का उपदेश भटकने वाले आवारा के लिए उपयुक्त है। जिसकी चित्तवृत्तियाँ पहले से ही अचंचल हैं उसके लिए योग व्यर्थ है।

विशेष— (१) इस पद में उपमा अलंकार है।

ऊधो मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुन्दर कगरी औ कुजंन की छाहीं ॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि-गहि बाहीं ॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं ॥
अनगन भांति करी बहु लीला जसुदानंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै यह कहि कहि पछिताहीं ॥

(कृष्ण-उद्धव-संवाद,पद-संख्या १३४)

प्रसंग—प्रेम कभी एक तरफा नहीं होता है। इधर गोपियाँ कृष्ण को रटती हैं तो उधर कृष्ण को भी गोपियों का विस्मरण नहीं होता। वह उद्धव से कहते हैं कि ब्रज की उन मधुर स्मृतियों को भूल नहीं पाता हूं।

व्याख्या—कृष्ण अपने सखा उद्धव से कहते है कि हे उद्धव! मुझे ब्रज भूलता नहीं है तथा उसकी याद मेरे हृदय से हटती नहीं है। ब्रज में सूर्य की कन्या यमुना की सुन्दर कछारें हैं और घने-घने कुंजों की छाया भी है।ब्रज की वे गायें, वे बछड़े और दुहनियाँ! जबकि हम गोशाला में (गायों के बाँधने का स्थान खारिक कहलाता है) दूध दोहने जाते थे तथा मेरे साथी वे सभी ग्वाले जो गाते हुए हुल्लड़ मचाते हुए हाथ में हाथ डाल कर नाचते गाते थे, मुझसे भूले नहीं जाते। हे उद्धव! यह मथुरा सोने की नगरी है और यहाँ मोती और मणियों की खान अवश्य है; परन्तु जब मुझे ब्रज में भोगे हुए सुखों का स्मरण होता है तो मेरा हृदय वहाँ पहुँचने के लिए बरबस रो उठता है और शरीर की सुधबुध भूल जाती है। मैंने वहाँ अनेक प्रकार की लीलायें की थीं जिन्हें यशोदा और नन्द ने हँस-हँसकर निभाया था। सूरदास जी कहते ह कि कृष्ण उद्धव से इतना कहते-कहते चुप हो गए और ब्रज की याद कर-कर के पश्चाताप करने लगे।

विशेष—प्रेम में वह शक्ति है कि भगवान को भी वश म कर लेती है। जिस काम को योगी-मुनि नहीं कर सकते उसी काम को प्रेमी अपने प्रेम के द्वरा कर लेता हैं।

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपै प्रान दह्यो॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सौं, सम्पति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सौं, सम्मुख बान सह्यो॥
हम जो प्रति करी माधव सौं, चलत न कछू कह्यो
सूरदास प्रभु बिन, दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो॥

(गोपिका-विरह, पद-संख्या ११५)

प्रसंग:— कृष्ण के मथुरा-गमन के पश्चात् गोपिकाएँ विरह की ज्वाला में जलने लगीं। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि इस संसार में प्रेम करने वाले व्यक्ति को कभी भी सुख प्राप्त नहीं होता। इसी संदर्भ में एक गोपिका दूसरी से कह रही है:—

व्याख्या:— हे सखी! प्रेम करने के पश्चात् किसी को भी सुख नहीं प्राप्त हुआ है। देखो, पतंगे ने अपने पूरे मन से आकर्षित होकर दीपक की लौ से प्रेम किया किन्तु जैसे ही वह उसके पास पहुँचा कि उसे जल कर अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। भ्रमर कमल से प्रेम करता है और उसमें रमण करने लगता है किंतु जब कमल समय पर अपनी पंखुड़ियों को बन्द कर लेता है तो भ्रमर बीच में ही फँस कर रह जाता है, अतः उसे भी सुख नहीं मिलता कष्ट ही उठाना पड़ता है। हरिण ध्वनि-नाद से मुग्ध होकर ठहर जाता है किन्तु अगले ही क्षण उसे व्याध का बाण सहना पड़ता है। जिससे उसके प्राण चले जाते हैं। और हमने जो कृष्ण से प्रेम किया है उसके विषय में तो कुछ भी नहीं कहते बनता। सूरदास गताते हैं कि कृष्ण के बिना यह दुख दिगुणित हो गया है और नेत्रों से निरंतर अश्रु-वर्षा होती रहती है।

विशेष:— (१) गोपीकाओं के विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति इस पद में हुई है। (२) उदाहरण अलंकार की सुन्दर नियोजना है।

द्वितीय-पत्र

तैयार करने की विधि

इस प्रश्न पत्र का पाठयक्रम निम्नलिखित है और अंकों की दृष्टि से इसका विभाजन इस प्रकार से हुआ है :

१. मध्यमा काव्य संग्रह	७० अंक
२. पथिक	७० अंक
३. रस, छन्द, अलंकार आदि	३० अंक
	कुल १०० अंक

काव्य के लिए निर्धारित पुस्तकों में से ५० अंकों की व्याख्या करने के लिए आएगी। शेष २० अंकों के आलोचनात्मक प्रश्न आएंगे। उन प्रश्नों के रूप इस प्रकार हो सकते हैं :

१. प्रसाद जी युगान्तरकारी कवि थे, उनके पठित काव्यों और उपलब्ध जीवनी के आधार पर प्रमाणित कीजिए।

२. पंत जी की काव्य-चेतना कि विकास को देखते हुए उनके व्यक्तित्व और कृतित्त्व का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

३. निराला जी के व्यक्तित्व के अनुरूप उनके कृतित्त्व में भी निरालापन है। स्पष्ट कीजिए।

४. प्रसाद, पंत, निराला आदि की अभिन्नताओं एवं भिन्नताओं को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

इस प्रकार के प्रश्न तैयार करने के लिए निम्न बातों का ध्यान रखें :

(क) पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तक में प्रदत्त सारी सामग्री का एक बार सूक्ष्म अध्ययन अवश्य करें।

(ख) प्रस्तुत गाइड में दिए गए आलोचनात्मक प्रश्नों को ढंग से तैयार करें।

(ग) विशेष प्रवृत्तियों वाले कवियों (जैसे छायावादी, प्रगतिवादी आदि) की काव्यगत शैलियों, मान्यताओं और विशेषताओं का सभी प्रकार से ध्यान रखें।

(घ) आलोचनात्मक उत्तरों में कवियों की कविताओं और आलोचकों के मतों के उद्धरण भी रहने चाहिएँ। अतः इस प्रकार के उद्धरण कण्ठस्थ करना आवश्यक है।

व्याख्या करने का ढंग :—कविता का सामान्य अर्थ वाक्य बद्ध कर देना ही व्याख्या नहीं कहलाता। व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि निम्नलिखित बातों का पूर्ण ध्यान रखा जाए।

१. पद्य-भाग किस पुस्तक में संकलित किस कवि की कौन-सी कविता में से लिया गया है।

२. यदि उद्धत पद्य प्रबन्ध काव्य में से लिया गया है, तो निश्चय ही उसका कुछ पूर्वापर प्रसग रहता है—उसकी जानकारी बहुत ही आवश्यक है, नहीं तो ठीक व्याख्या संभव नहीं हो सकती। वहाँ कथानक और उसके विकास के क्रमशः रूपों की जानकारी बहुत आवश्यक है।

३. यदि व्याख्येय पद्य मुक्तक कविता से लिया गया है, तो उसका मूल-भाव स्मरण होना आवश्यक है। तभी उचित एव स्पष्ट व्याख्या संभव हो सकती है।

४. पहले प्रसंग (ऊपर संख्या १, २, ३, में बताए अनुसार) लिखना चाहिए। उसमें कविता का सार-तत्त्व और व्याख्येय पद्य का मूल तत्त्व आ जाना चाहिए। उसके बाद दूसरे पैरे से व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि प्रसंग में दिया गया मूल भाव एकदम स्पष्ट हो जाय। फिर तीसरे पैरे में व्याख्यायित भाग का सारांश भाव के रूप में देना चाहिए। अन्त में अगला पैरा और 'विशेष' या 'टिप्पणी' शीर्षक देकर भाषा, भावना और अभिव्यक्ति सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख होना चाहिए। इसमें छन्द, अलंकार विशेष प्रकार के विचार, दर्शन, अन्तर्कथा आदि बातों का चित्रण रहता है।

रस, छन्द, अलंकार

ये सभी काव्याङ्ग माने जाते हैं। इनके लिए 'संक्षिप्त अलंकार मंजरी' और 'अलंकार मुक्तावली' नामक सहायक पुस्तकों का निर्देश दिया गया है। स्पष्टतः इन दोनों में रसों और छन्दों आदि का निर्देश नहीं मिलता। अतः

उनके लिए गाइड पर निर्भर किया जा सकता है। क्योंकि समस्त निर्धारित रस-छन्द इसमें दे दिए गए हैं।

कभी-कभी अलंकार, छन्द, रस आदि के नाम देकर उनके लक्षणा-दोहरण और स्पष्टीकरण पूछा जाता है।

कई बार प्रश्न-पत्र में दिए गए पद्यों में से ही छन्द, रस और अलंकार आदि बताने के लिए कह दिया जाता है। ऐसा निरन्तर अभ्यास से ही संभव हो सकता है कि विद्यार्थी पद्य पढ़ करके ही उसमें विद्यमान छन्द, अलकार और रस का निरूपण कर सके। अतः निरन्तर अभ्यास अनिवार्य है।

कई बार छन्द, अलंकार और रस आदि की उपयोगिता भी पूछ ली जाती है, अतः ऐसे प्रश्नों के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

छन्दों में मात्रा और गण-निर्देश अच्छे अंक प्राप्त करने के लिए बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार कुछ अलंकारों के भेदोपभेद बताना भी अनिवार्य होता है। अतः उत्तर के लिए अलंकारों का चयन सावधानी से करना चाहिए।

—

मध्यमा काव्य-संग्रह

आलोचना भाग

प्रश्न १—आधुनिक काव्य को राष्ट्रीय भावना, क्रांति तथा अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धांतों ने कहाँ तक प्रभावित किया है ? उदाहरण देकर बताइये।

अथवा

आधुनिक काव्य की प्रमुख धाराओं का परिचय दीजिये।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २०१४)

अथवा

आधुनिक काव्य की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

(मध्यमा परीक्षा सं० २०२५)

उत्तर—आधुनिक काव्य का जन्म यों तो भारतेन्दु के समय से ही माना जाता है, परन्तु उसमें परिमार्जन का कार्य द्विवेदी-युग में ही हुआ। ब्रज-भाषा और खड़ी बोली का मिश्रण भारतेन्दु-काल में चलता रहा। खड़ी बोली का स्वरूप वस्तुत: द्विवेदी-काल में ही निखरा।

इस काल में छन्दों का विस्तार हम पाते हैं। रीतिकालीन पद्धति पर प्रयोग में आने वाले कवित्त और सवैया या सूरदास की गीतिका की ही प्रधानता न रही, बल्कि विभिन्न मात्रिक छन्दों का प्रयोग होने लगा जिसमें हरिगीतिका छन्द का प्रयोग अधिक हुआ। पिंगलशास्त्र के नियमों का उल्लंघन करने के लिए आधुनिक काल प्रसिद्ध है। छन्दों के बन्धन टूट गए और जन-वाणी मुक्त होकर फैलने लगी। संस्कृत के वार्णिक छन्दों का भी आधुनिक साहित्याचार्यों ने अपनी कविता में प्रयोग किया है। इस दिशा में कवि-सम्राट पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की अमर कृति 'प्रियप्रवास' को हिन्दी-जगत में प्रचुर ख्याति प्राप्त हुई है।

उर्दू की बहारों के ढंग पर कुछ कवियों ने हिन्दी में अपनी रचनाएं की, परन्तु उर्दू की शैली पर हिन्दी में कविता सफल न हो सकी। उदाहरण के लिए निराला के 'बेला' और 'नये पत्ते' संग्रहों को लिया जा सकता है। उमरखैय्याम

की रुबाइयों का अनुवाद श्री बच्चन जी ने किया और हिन्दी साहित्य में साकी-बाला, प्याला, मदिरालय आदि के गीत गाए। अधिकतर कवियों का झुकाव हिन्दी के छन्दों की ओर रहा और इन छन्दों में ही रचनाएं की गईं।

प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा मुक्तक काव्य अधिक लिखे गए। प्रबन्धात्मकता का अभाव रहा है। हिन्दी-जगत् के यशस्वी कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने मुक्तक काव्य के अतिरिक्त खण्डकाव्य और महाकाव्य लिखे हैं। उनके प्रबन्धात्मक काव्यों में 'यशोधरा', 'साकेत' बहुत ही प्रसिद्ध हुए हैं। 'प्रियप्रवास' अयोध्या-सिंह उपाध्याय का अनुपम प्रबन्ध-काव्य है। प्रसाद जी की 'कामायनी' और उदयशंकर भट्ट की 'तक्षशिला' नामक रचनाए हिन्दी साहित्य की प्रबन्ध-काव्य परम्परा के अन्तर्गत ही हैं। इसके अतिरिक्त 'साकेत-सन्त' से भी हिन्दी प्रबन्ध काव्यों की श्री-वृद्धि हुई है। खंडकाव्यों में 'जयद्रथ वध', 'वैदेही वनवास' के अतिरिक्त और भी अनेकों खंडकाव्यों की रचना हुई ! मुक्तक काव्य का ही आधिपत्य आधुनिक काल में दिखाई पड़ता है। गीत का प्रयोग महादेवी वर्मा, पंत और निराला ने अपनी रचनाओं में करके हिन्दी खड़ीबोली में सरसता, माधुर्य, लावण्य एवं मादकता लाने का प्रयत्न किया है। ध्वनि, संगीतमयता, चित्रमयता आदि गुणों का समाहार द्रष्टव्य है।

विषय-वैविध्य का तो कहना ही क्या। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक—सभी प्रकार के विषयों पर कविताएं लिखी गईं। राष्ट्रीयता का स्वर तीव्र रहा है। भारतेन्दु काल से ही राष्ट्रीय-चेतना करवटें बदलती आ रही थी, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति का भिन्न-भिन्न कालों में होना प्रकृतिगत है। स्वतन्त्रता सग्राम की झंकार हमें भारतेन्दु की वाणी में सुनाई पड़ी थी। वह और भी तीव्र एवं अमन्द रूप से हमें गुप्त जी 'भारत-भारती' में सुनाई पड़ी। 'भारत-भारती' राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का सन्देश देती है और कवि की मंगल-कामना उसके इन शब्दों में व्यंजित होती है:—

मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती॥

माखनलाल जी की वाणी हिन्दी के सभी अन्य कवियों के स्वर की अपेक्षा तीव्र, मर्मस्पर्शिनी तथा अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सशक्त है।

कवि एक 'भारतीय आत्मा' है। उसमें गुलाम भारत की तड़प है, चीख है जो बंधनों को चूर-चूर करने के संकल्प में बलिदान को पूजा के मधुर तथा सूली को प्रियतम की सेज से अधिक कोमल समझती है।

सखे बतादे कैसे गाऊं, अमृत मौत के दाम न हो।
जगे एशिया, हिले विश्व, पर राजनीति का नाम न हो॥

स्वतन्त्रता के पक्ष में सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' का बहुत बड़ा हाथ रहा है। कवयित्री की यह मंगल-कामना अन्त में स्वतंत्रता के रूप में परिणत हो जाती है। भारत-माता दासता की कड़ियों को तोड़कर मुक्त हो गई। जहाँ पर लक्ष्मीबाई का स्मारक हो, वह देश आखिर कब तक पराधीन रह सकता है? सुभद्राकुमारी चौहान की इन पंक्तियों में कितनी हृदयग्राहिता है—

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी।
ये तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनासी॥
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फांसी।
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी॥
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंख, हमने सुनी कहानी थी॥
खूब लड़ी मर्दानी वह तो, झाँसी वाली रानी थी।

जहाँ पर एक ओर राजनीतिक गानों का स्वर ऊंचा रहा, वहाँ भारत के अतीत इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। प्राचीन आदर्शों के प्रति गहन श्रद्धा की अभिव्यक्ति हुई। वर्तमान दशा पर खेद प्रकट किया गया और भावी को मंगलमय बनाने की भावना प्रकट की गई। आधुनिक काव्य के विषय केवल राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहे हैं। सामाजिकता की दीन दशा से हमारे आधुनिक कवि विमुख नहीं रहे हैं। समाजवाद, प्रगतिवाद, उपयोगितावाद से सम्बंधित विषय वर्णित किए गए। किसानों, श्रमिकों, दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व किया गया। उनकी दीन दशा का चित्रण बड़ी ही मार्मिक भाषा में किया गया। निराला जी की ये पंक्तियाँ हमें श्रमिकों की दारुण दशा की ओर झाँकने के लिए विवश करती हैं और उनका उचित समाधान चाहती हैं—

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हिंदी का आधुनिक साहित्य मुक्त नहीं कहा जा सकता है। छायावाद उसी साहित्य के फलस्वरूप हमारे हिंदी साहित्य में आया है। कीट्स, कालरिज शैली के साहित्य ने हमारी साहित्य काव्य-परम्परा को नई रंगत दी। प्रकृति का मानवीकरण, अमूर्त विधान, प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग छायावाद के अनन्य अवयव हैं। प्रसाद, पन्त और निराला ने भाषा को अधिक मृदु, मंजुल और सरस बनाने पर बल दिया। कोमल-कांत-पदावली का जहाँ तक हो सका है, भरसक प्रयोग हुआ है।

आर्य समाज के प्रभाव के कारण और विज्ञान के कौतूहलपूर्ण कार्यों ने अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता के कारावास से बाहर आने की प्रेरणा दी। परमात्मा की उपासना मन्दिर अथवा तीर्थ में न होकर मन में होने लगी। गुह्य अथवा रहस्यमय भावों के उद्घाटन आरम्भ हो गए। प्रियतम की याद में जीव को जो तड़पन हुई उसकी अभिव्यक्ति रहस्यवाद के नाम से अभिहित हुई। महादेवी वर्मा इस वाद के प्रमुख स्तम्भो में से मानी जाती हैं।

रहस्यवाद से उन्हें स्वाभाविक प्रेम है। आत्मा की चिरन्तन विकलता तथा ब्रह्म के संयोग के लिए अपार तड़पन सन्त काव्य में सभी स्थानों पर पाई जाती हैं। वही भावना महादेवी जी के अनेक गीतों में पाई जाती है।

'दूर प्रिय से हूं, अखण्ड सुहागिनी भी हूं।

तथा

फिर विकल हैं प्राण मेरे।
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूं उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर आज मेरे प्राण घेरे।

आधुनिक कवियों को रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा अधिक प्रिय रहे हैं। प्रसाद गुण का आधिक्य है। राष्ट्रीय गीतों में ओजगुण और रहस्यवादी तथा छायावादी कविताओं में माधुर्य गुण की प्रधानता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काव्य समाज का दर्पण है। उसमें युग की सभी प्रचलित धाराओं को स्थान दिया गया है। विषय संकुचित एवं संकीर्ण नहीं रहा। युग की सभी प्रवृतियों की छाप आधुनिक कविता के पृष्ठ पर अंकित है।

स्मृति-संकेत

१. आधुनिक काव्य का जन्म भारतेन्दु-काल में, परिमार्जन द्विवेदी युग में। २. इस युग में छन्दों के नियमों का उल्लंघन हुआ, जनवाणी मुक्त हो गई। संस्कृत के वार्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ। ३. प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा मुक्तक काव्य अधिक लिखे गए। खंड काव्यों और महाकाव्यों की भी रचना हुई। ४. सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सभी विषयों पर कविताएं लिखी गईं। राष्ट्रीयता का स्वर तीव्र। ५. भारत के अतीत इतिहास की पुनरावृत्ति। ६. समाजवाद, प्रगतिवाद, उपयोगितावाद से सम्बन्धित विषयों का वर्णन। ७. हिन्दी का आधुनिक-साहित्य पाश्चात्य-साहित्य से प्रभावित। ८. रूढ़िवादिता का विरोध। ९. आधुनिक कवियों को रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा अधिक प्रिय। १०. आधुनिक काव्य समाज का दर्पण।

प्रश्न २—प्रगतिवाद की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुये प्रगतिवादी काव्य की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का जन्म सन् १९३६ से माना जाता है। कार्ल मार्क्स की विचारधारा ने पूँजीवाद की जीर्ण-शीर्ण भित्ति को आमूल-चूल हिला दिया। नया विचार, नई प्रेरणा, नये उत्साह की भव्य रश्मि से मानव-मन का तिमिर-लोक आलोकित हो उठा। प्रगतिवाद ने श्रमिक वर्ग के अधिकारों के लिए आन्दोलन चलाया और श्रमिक को निजी अधिकार-रक्षा के लिए संघर्ष करने के लिए अग्रसर किया। जैसा कि हम जानते हैं, साहित्य युग-प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता है; इसलिए यह प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में भी लक्षित होती है।

प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया है। छायावाद के भीतर कल्पना की रंगीन कूँची से भावों को चित्रित किया जाता रहा है, इसलिए उसमें सत्य और शिव की अपेक्षा सुन्दर की मात्रा अधिक है। प्रगतिवाद में यथार्थ का ग्रहण

किया गया, सुन्दर की अपेक्षा सत्य और शिव की ओर प्रवृत्ति अधिक रही। चित्रमयी, लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक भाषा के स्थान पर सरल, सुबोध भाषा का प्रयोग होने लगा। निराला जी की कविताओं में प्रगतिवाद की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। 'तोड़ती पत्थर' निराला जी की मुक्त छन्द में लिखी कविताओं में से एक है, जिसमें केवल चित्रण एवं तथ्य कथन मात्र है। ऐसी प्रगतिवादी कविताओं में भाषा का रँगाव-सजाव नहीं है।

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर
चढ़ रही थी धूप गर्मियों के दिन।
दिवा का तमतमाता रूप, उठी झुलसाती हुई लू।
रुई ज्यों जलती हुई भू गर्द चिनगी छा गई,
प्रायः हुई दोपहर, वह तोड़ती पत्थर।

इसी प्रकार से प्रकृति के सुकुमार कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त की वाणी में भी प्रगति की गुन्जार सुनाई पड़ती है। 'युगान्त', युगवाणी' तथा 'ग्राम्या'— इन तीनों में उनकी विचारधारा का मोड़ नामकरण से ही प्रतीत होता है। जीवन की समस्याओं के प्रति जागरुक होकर जो कविताएँ उनकी लेखनी से उद्भूत हुईं वे सब इन सब संग्रहों में आकलित हैं। समाज के बन्धनों से जकड़े हुए मनुष्य, नारी तथा कलाकार के प्रति मौन न रह सके। युग की इन परिस्थितियों से उनके कवि-सुलभ हृदय में एक ठेस लगी और वे जीवन के 'सत्यम्' की खोज में आकुल हो उठे। 'ग्राम्या' में उन्होंने ग्राम-जीवन के अगणित सहानुभूतिपूर्ण मार्मिक चित्र खींचे हैं। पन्त जी की कामना है कि पुरातन व्यवस्था जो विषमता का मूल कारण है, नष्ट हो जानी चाहिए और उनके अनुसार युग की आवश्यकतानुसार नूतन व्यवस्था का निर्माण अभीष्ट है।

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क जीर्ण।
हिमताप पीत, मधुवात भीत, तुम बीतराग जड़ पराचीन।
निष्प्राण विगत युग ! भृतविहंग ! जग नीड़ शब्द और श्वासहीन
च्युत भ्रस्त व्यस्त पंखों से तुम, झर झर अनन्त में हो विलीन।

२. आर्य संस्कृति के वैतालिक—आपने अपने काव्यों में आर्यों के प्राचीन आदर्शों का गुणगान किया है। वक संहार, वन-वैभव आदि इसके प्रमाण हैं।

३. अतीत के प्रेमी—आप अतीत से प्रेरणा लेते हैं। वर्तमान के लिए अतीत आदर्श होता है :—

"वर्तमान यह आयोजन है, निज भावी जीवन का।
कुछ अतीत संकेत मिले तो अधिक लाभ वह जन का।।"

४. युग के साथ—युग की सभी भावनाएँ आपके काव्य में हैं। राष्ट्रीय जागरण के लिए भारत-भारती का स्वर गम्भीर है। झंकार में छायावाद, द्वापर में क्रान्ति, साकेत में राजा-प्रजा के सम्बन्ध वाले विचार व्यक्त हुए हैं जिसके कारण आप प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं।

५. गृहस्थ के कवि—आपने साकेत' और 'पंचवटी' में आर्य परिवारों के आदर्श स्वरूपों का चित्रण किया है।

६. उपेक्षित पात्रों के प्रति सहानुभूति—गुप्त जी 'साकेत' में उपेक्षिता उर्मिला के व्यक्तित्व को प्रकाश में लाए हैं, 'द्वापर' में ब्राह्मण-पत्नी विधृता को, 'यशोधरा' में यशोधरा को और 'साकेत' में रानी कैकेयी के चरित्र को भी ऊँचा उठाया है।

७. नारी जागरण के दूत—आपने अपने काव्य में जागृत नारी का स्वरूप भी उपस्थित किया है। 'यशोधरा इसका प्रमाण है।

८. सोद्देश्य कवि—गुप्त जी 'कला कला के लिए नहीं, जीवन के लिए' पर विश्वास रखते थे।

मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

९. उत्तम भावाभिव्यक्ति—गुप्त जी ने आदर्शों को उपस्थित करने के साथ-साथ काव्यत्व को भी सदा निभाया। आपने आधुनिक गीति-शैली को 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसी प्रबन्ध रचनाओं में सफलता के साथ प्रयुक्त करके दिखाया। इन गीतों में आपने अति सुन्दर भाव प्रस्तुत किए। छायावादी और रहस्यवादी दोनों प्रकार की रचनाएँ 'झंकार' में पाई जाती हैं।

१०. शैली—आपकी शैली प्रसाद गुण-गुम्फित है। आपने मुहावरेदार सरल

भाषा का प्रयोग किया है। मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध शैली में आपकी प्रतिभा विशेष सफल रही है।

स्मृति-संकेत

१. सन् १८८६ में चिरगांव में जन्म, मुंशी अजमेरी से शिक्षा, मधुसूदन दत्त का प्रभाव, महावीरप्रसाद द्विवेदी से कवित्व शिक्षा। २. भारत-भारती, सा[illegible], पंचवटी, गुरुकुल, यशोधरा, अनघ, रंग में भंग, वन-वैभव, शकुन्तला आदि प्रमुख काव्य। ३. समन्वयवादी, आर्य-संस्कृति के गायक, अतीत से मोह, युग के प्रतिनिधि, गृहस्थ के कवि, नारी-जागरण के सन्देश, सोद्देश्य कवि, उत्तम भावाभिव्यक्ति, प्रसाद गुण-युक्त शैली, प्रबन्ध में सफल। छोटे शब्दों का सफल प्रयोग।

प्रश्न ४—अयोध्यासिंह उपाध्याय की रचनाओं का परिचय देकर उनके कवित्व की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—अयोध्यासिंह उपाध्याय हिन्दी के आधुनिक युग के कवि-सम्राट् कहे जाते थे। आपने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में ही समान अधिकार के साथ रचना की है।

उपाध्याय जी का साहित्य

मौलिक महाकाव्य—प्रियप्रवास, वैदेही वनवास।

स्फुट काव्य—चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, पद्य-प्रसून, पारिजात, ऋतुमुकुर, काव्योपवन, प्रेमपुण्योपहार प्रेमप्रपंच आदि।

नाटक—रुक्मिणी-परिणय, प्रद्युम्न-विजय।

उपन्यास—अधखिला फूल, ठेठ हिन्दी का ठाठ।

आलोचनात्मक—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'कबीर-वचनावली' पर आलोचना।

अनूदित—रिपवान विंकल, वेनिस का बाँका (उपन्यास), नीति-निबंध (निबंध संग्रह), उपदेश कुसुम, विनोद वाटिका (गुलिस्ताँ और गुलजार दबिस्ताँ के अनुवाद)।

समीक्षा—उपाध्याय जी ने 'प्रिय प्रवास' में भ्रमर गीत की प्राचीन कथा को ही नवीन रूप में उपस्थित किया है। इसमें उन्होंने कृष्ण के जीवन की

गोवर्धन-धारण आदि अलौकिक घटनाओं को बुद्धिवादी रूप में ग्रहण करने के योग्य कर दिया है। नन्द-यशोदा का वात्सल्य और गोपियों का कृष्ण के प्रति भाव, कृष्ण का समाजसेवक रूप, राधा का लोकसेविका का चरित्र आपकी नवीन उद्भावनाएँ हैं। केवल आठ कोस की दूरी से भी कृष्ण गोकुल क्यों न आ सके ? इसका उत्तर आपने प्रिय-प्रवास में दिया है। राधा का स्वरूप जो इस काव्य में उपस्थित किया है, बड़ा ही कलापूर्ण है—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी, कल हासिनी, सुरसिका, क्रीड़ाकलापुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी
श्री राधा मृदुभाषिनी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं॥

आगे के पद्यों में उसका चरित्र-चित्रण भी अति उदात्त हुआ है। इसी के अन्तर्गत 'पवन दूत' उपाध्याय जी की मौलिक उद्भावना है। इसमें पवन के द्वारा राधा ने कृष्ण के पास संदेश भेजा है। यह कालिदास के मेघदूत की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है।

'वैदेही वनवास' में सीता वनवास की कथा को नये रूप में उपस्थित किया है। इसमें राम सीता को बताये बिना चुपचाप निर्वासित नहीं करते बल्कि सारी परिस्थितियाँ सीता के समक्ष रखकर स्वयं उससे परामर्श करते हैं। इस प्रकार उन्होंने राम और सीता दोनों के चरित्र को ऊँचा उठा दिया है। 'रस कलश' उनके ब्रज भाषा पर अधिकार का अच्छा प्रमाण है। उसके उदाहरण भी विषय की व्यापकता लिए हुए हैं। नाटक और उपन्यासों के क्षेत्र में अवश्य उपाध्याय जी को सफलता नहीं मिली है। उपन्यास तो केवल भाषा का नमूना ही उपस्थित करते हैं। आलोचनाएं आपकी अवश्य प्रौढ़ हैं। आपकी लेखनी गद्य और पद्य दोनों में समान गति से चलती थी।

शैली—उपाध्याय जी की शैलियाँ व्यापक हैं। प्रबंध, मुक्तक, गीति—सभी कुछ आपने लिखा है। संस्कृत के वर्ण वृत्तों में प्रियप्रवास, उर्दू छंदों में चोपदे, मात्रिक छंदों में वैदेही वनवास लिखा गया है। रसकलश ब्रजभाषा में लिखा गया है। शेष रचनाएँ खड़ीबोली में हैं। इनके भी दो रूप हैं—एक संस्कृत के तत्सम शब्दों से पूर्ण, दूसरी शुद्ध बोलचाल की। पहले प्रकार का प्रयोग प्रिय-

प्रवास में निपुणता के साथ हुआ है, दूसरे का स्फुट रचनाओं में।

इस प्रकार सभी विषयों, सभी शैलियों में समान अधिकार रखने के कारण वे कवि सम्राट् कहे जाते थे।

स्मृति-संकेत

१—मौलिक और अनूदित साहित्य, प्रियप्रवास, वैदेही वनवास, पारिजात, ऋतुमुकुर, रसकलश रुक्मिणी—परिणय आदि मौलिक; रिपवान विकल, वेनिस का बांका, उपदेश—कुसुम अनूदित। २—प्रियप्रवास, भ्रमरगीत की कथा, नवीन दृष्टिकोण, पवनदूत की उद्भावना, राधा और कृष्ण का नवीन रूप, वैदेही वनवास में सीता निर्वासन की कथा, सीता के परामर्श, राम सीता के चरित्र को ऊँचा उठाया। 'रस कलश' में रस विवेचन ब्रजभाषा में.-नाटक और उपन्यास में असफलता। ३—खड़ीबोली और ब्रजभाषा में रचना, खड़ीबोली तत्सम-प्रधान व बोलचाल का। महाकाव्य पहले रूप में, चौपदे द्वितीय रूप में।

प्रश्न ५—प्रसाद की रचनाओं में से मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों प्रकार के एक-एक ग्रन्थ का नामोल्लेख कीजिए। जयशंकर प्रसाद के काव्य की विशेषताएँ भी लिखिए। (मध्यमा परीक्षा, सं० २००७)

'प्रसाद' जी के 'आंसू' में दार्शनिकता किस सीमा तक है? तर्कसंगत उत्तर दीजिए। (मध्यमा परीक्षा, सं० २००८)

अथवा

प्रसाद (अथवा महादेवी वर्मा) की काव्यगत विशेषताओं का परिचय देते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए (मध्यमा परीक्षा, सं० २०२१)

उत्तर—जयशंकर प्रसाद आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली कवि हुए हैं। उन्होंने द्विवेदी-युग की नीरस इतिवृत्तात्मकता से हिन्दी कविता को मुक्त करके एक नया मोड़ दिया। छायावाद और रहस्यवाद के नवीन लोक का मार्ग दिखाया। भाव, भाषा, कला आदि सभी को आपने आमूल बदल दिया। इसी कारण उनका समकालिक युग प्रसाद-युग के नाम से पुकारा जाता है।

प्रसाद जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध सब कुछ लिखा और जो कुछ लिखा अधिकार के साथ लिखा। उनका साहित्य निम्नलिखित है—

१. महाकाव्य—कामायनी। २. काव्य—प्रेम-पथिक' आंसू, चित्राधार, कानन-कुसुम, महाराणा का महत्त्व, प्रेमपथिक, झरना, लहर, नाटक—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, विशाख, राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी, जन्मेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, कामना, एक घूंट। भावनाट्य—करुणालय। उपन्यास—कंकाल, तितली। कहानी—इन्द्रजाल, छाया, आँधी, आकाशदीप, प्रतिध्वनि। निबंध—काव्य और कला तथा अन्य निबंध।

उपर्युक्त रचनाओं पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों शैलियों में रचना की है। 'कामायनी' प्रसाद जी का महाकाव्य है जिसमें उन्होंने आदिपुरुष मनु की कथा को मनोवैज्ञानिक रूपक के रूप में वर्णित किया है। इनकी बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ एक ओर ऐतिहासिक कथा का विकास होता है, वहाँ मनोवृत्तिओं के द्वन्द्व और विकास का मनोहारी चित्र भी सामने आता है। यह सारा काव्य शैवदर्शन की भूमि और मनोविज्ञान पर आधारित है। वैसे महाकाव्य होने के नाते उसमें युग की भावनाएँ भी विद्यमान हैं। काव्यक्षेत्र के छायावाद, रहस्यवाद, भौतिकवाद के विरुद्ध गांधीवाद के विचार भी इसमें वर्तमान हैं। काव्य में छायावाद और रहस्यवाद का समन्वय-सा है।

'लहर' और 'झरना' में इनके छायावादी और रहस्यवादी गीत हैं जो कि हिन्दी में नवीन प्रवृत्तियों के सूचक हैं। 'आँसू' प्रसाद के प्रेम व्यथित हृदय का द्रवीभूत रूप है। इसमे दार्शनिक तत्त्वों का समावेश बताया जाता है। वैसे तो प्रसाद की प्रत्येक कृति में चाहे वह कविता हो, चाहे नाटक सभी में दार्शनिक प्रभाव लक्षित होता है। पर इतना अवश्य कहना होगा कि 'आँसू' पर दर्शन का प्रभाव बहुत न्यूनमात्रा में हैं। विशेषकर अपनी वेदना की अभिव्यक्ति इन्होंने छायावादी प्रतीकों द्वारा की है।

> झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद माला।
> पाकर इस शून्य हृदय को सबने था डेरा डाला॥

यह प्रतीकों के प्रयोग का उदाहरण है। इसमें दार्शनिक झलक देखिए—

> अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना।
> सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना॥

जीवन की जटिल समस्या क्यों बड़ी जटा सी कैसी।
उड़ती है धूल हृदय में किसकी विभूति है ऐसी ।।

इन पंक्तियों में दार्शनिक शैली अवश्य है, पर यह केवल हृदय की अनुभूति का निरूपण मात्र है। स्वतन्त्र रूप के इनका दार्शनिक महत्व नहीं है। 'प्रेम-पथिक' आदि उनकी प्रारम्भिक रचनाएं हैं। जिन कारणों से उनकी कविता रसिकों के हृदय का हार बनीं, वे विशेपताएं निम्नलिखित हैं—

१—सांस्कृतिक एवं गौरवमय अतीत से सम्बद्ध अथवा मौलिक विषय।

२—शैव एवं बौद्ध दर्शन का प्रभाव। 'कामायनी' पर दोनों का प्रभाव स्पष्ट है।

३—प्रेम और यौवन के 'काव। 'आँसू' इसका सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

४—प्रकृति के चितेरे—प्रकृति के सौम्य और रौद्र दोनों रूपों का वर्णन।

५—अन्तर्जगत् के चित्रकार—भावनाओं के कवि, 'कामायनी' उदाहरण है।

६—सौन्दर्य के कुशल उद्भावक—मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण।

७—शाश्वत भावनाएं, विश्वजनीन सन्देश।

८—क्रान्तिकरी—स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन, विद्रोह का स्वर मौन।

९—नवीन गीतिकाव्य के प्रवर्तक—अंग्रेजी के लीरिक श्रेणी के गीति-काव्य।

१०—मूर्त्त के लिए अमूर्त्त एवं अमूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमानों का प्रयोग।

११—लाक्षणिक वक्रता।

१२—छायावाद और रहस्यवाद का प्रवर्तन, 'कामायनी' का उदाहरण।

१३—ध्वन्यात्मकता, व्यंजना-प्राधान्य।

१४—प्रतीकों का प्रयोग।

१५—ध्वनिपूर्ण व्यंग्यप्रधान संस्कृत मसृण वर्णों का प्रयोग।

१६—वर्ण-छन्दों के स्थान पर मात्रिक छन्दों का एवं स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग।

उपर्युक्त विशेषताएँ उनके काव्य में सर्वत्र पाई जाती हैं। इन्हीं के कारण उन्होंने हिन्दी कविता की रूपरेखा बदल दी और वे युग-प्रवर्त्तक बन गये।

स्मृति-संकेत

१—बहुमुखी साहित्य—कामायनी, आँसू, महाराणा का महत्व, प्रेम-पथिक, लहर, झरना। २—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि नाटक। कंकाल, तितली उपन्यास। आंधी, आकाशदीप आदि कहानियाँ। ३—कामायनी दर्शन पर आधारित मनोवैज्ञानिक, रूपक काव्य। आँसू वेदना का प्रकाशन, दार्शनिक तत्व साधारण। लहर, झरना छायावाद की आरम्भिक रचनाएँ। ४—अतीत से सम्बन्ध, शैव और बौद्ध दर्शन का प्रभाव। प्रेम और यौवन के कवि, प्रकृति-चित्रण, अन्तर्वृत्ति चित्रण, सौन्दर्योद्भावक, शाश्वत भावना, क्रान्ति, गीति-काव्य, अमूर्त्त उपमानों का प्रयोग, लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, तत्सम प्रधान भाषा, प्रतीक, मात्रिक छन्द।

प्रश्न ६—निराला अथवा माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य की विशेषताओं का परिचय दीजिये। (मध्यमा परीक्षा, सं० २०१५)

अथवा

निराला अथवा पन्त की काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख करते हुए हिन्दी साहित्य में उनका स्थान निश्चित कीजिये।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २०१२,२०१९)

अथवा

हिन्दी गीति साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए महाकवि निराला के काव्य-सौन्दर्य की समीक्षा कीजिये। (मध्यमा परीक्षा, सं० २०२१)

उत्तर—नवीन कविता के इतिहास में यदि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का नाम न लिया जाया तो समझिये कि कुछ भी नहीं लिखा गया। उनका नाम छायावादी कविता के साथ जुड़ा हुआ है। प्रसाद ने नवीन कविता को प्रेम और यौवन का सन्देश दिया, पन्त ने कोमलकान्त पदावली दी तो निराला ने उसे जीवन और सौंदर्य दिया। बंगाल में पलने के कारण बंग-साहित्य एवं बंग-संस्कृति का आप पर अच्छा प्रभाव था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से उनमें राष्ट्रीयता एवं प्राणिमात्र के प्रति करुणा के भाव भर गए। इन्हीं महापुरुषों के व्यक्तित्व से उन पर दार्शनिकता और वेदान्त का प्रभाव भी आया जो कि अकर्मण्य बनाने वाला नहीं है। २० वर्ष की अवस्था

में विघुर जीवन-यापन के लिए बाध्य होने से वेदना का इस कवि के हृदय पर प्रबल आघात हुआ और उसकी प्रतिक्रिया जीवन क्षेत्र में सर्वत्र मिली पर उसकी ओर आशावादिता ने उनको निरन्तर आगे बढ़ाया।

निराला जी का साहित्य

१—कविता—अनामिका, परिमल, तुलसीदास, बेला, गीतिका, कुकुरमुत्ता। २—उपन्यास—अलका, अप्सरा, प्रभावती, निरुपमा आदि। ३—कहानी-संग्रह—लिली। ४—निबन्ध—प्रबन्ध—पद्म। ५—आलोचना—रवीन्द्र-कविता-कानन, पंत और पल्लव।

निराला की भाव-भूमि, शब्द-योजना, रचनाओं का नामकरण, विषय-निर्वाचन, शैली सब कुछ निराली है। जैसे प्रसाद जी हिन्दी को 'कामायनी' दे गये, उसी प्रकार उन्होंने 'तुलसीदास' नामक ओजस्वी रचना दी है। उनकी कविता छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद सबको स्पर्श करती है।

काव्यगत विशेषताएँ

१—दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता।

२—प्रमुख विद्रोही कवि—आपका विद्रोही स्वर सबसे उग्र है।

३—भावों की गूढ़ता—दार्शनिक आधार के कारण कविता का भाव दुर्बोध हो गया है।

४—निराले और गूढ़ प्रतीक। इनके कारण 'गीतिका' बहुत जटिल बन गई है।

५—छन्द स्वातन्त्र्य—आपने स्वच्छन्द छन्द का 'जूही की कली' आदि में सफलता से प्रयोग करके इसे लोकप्रिय बनाया।

६—संगीत का पुट—आपकी कविता में निराली गेयता रहती है जो बंगाली शैली की है।

७—व्यंग्य-बाहुल्य—इसका उदाहरण 'कुकुरमुत्ता' है इसमें कुकुरमुत्ता को गुलाब से अच्छा कहकर सर्वहारा वर्ग की पूंजीपति वर्ग पर विजय दिखाई गई है।

८—रहस्यवाद दर्शन पर आधारित, गम्भीरता अधिक।

९—पुरुषत्व—आपने रहस्यवाद में अपने पुरुषत्व को आंच नहीं आने दी।

१०—छायावादी—कविता में संस्कृत की अधिकता, प्रगतिवादी सरल रहती है।

११—दृढ़ आशावादी—संघर्षों में जूझकर भी आशावादी रहे।

१२—राष्ट्रीयता एवं अभ्युत्थान का सन्देश—राष्ट्रीयता को लेकर कजलियाँ लिखीं।

१३—लाक्षणिक वक्रता—निराला जी ने लाक्षणिक प्रयोग किए।

इनके आधार पर कहा जा सकता है कि निराला जी हिन्दी साहित्य गगन के चमचमाते तीन नक्षत्रों में से एक थे।

स्मृति-संकेत

१—बग संस्कृति और साहित्य का प्रभाव। २—रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द से दर्शन व वेदान्त का प्रभाव, राष्ट्रीयता एवं करुणा। ३—तुलसीदास वेला, अनामिका, परिमल, कुकुरमुत्ता, गीतिका, अलका, अप्सरा, प्रभावती, लिली, प्रबन्ध–पद्म, रवीन्द्र–कविता–कानन। ४—विशेषता—दार्शनिकता, विद्रोही कवि, भावगाम्भीर्य, गूढ़ प्रतीक। ५—छन्द-स्वातन्त्र्य, संगीत, व्यंग्य, रहस्यवाद दर्शनमूलक, पुरुषत्व, आशावादी, तत्समप्रधान शब्दावली, लाक्षणिक वक्रता।

प्रश्न ७—पन्त जी की काव्य-सम्बन्धी विशेषताएँ लिखिये।

उत्तर—छायावाद को कोमलकान्त पदावली देने वाले पन्त जी प्रकृति के क्रोड़ास्थल अलमोड़ा के रहने वाले हैं। नित्य प्रकृति-निरीक्षण के कारण इनके हृदय पर प्रकृति का गहरा प्रभाव पड़ा है। इन्होंने अपने व्यक्तित्व को प्रकृति के साथ इस प्रकार मिला लिया है कि उसके समक्ष मानवीय सौन्दर्य भी तुच्छ लगता है।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले तेरे ! बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन।

बंगे साहित्य का अध्ययन इन्होंने भी किया है। स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द ने इन्हें भी प्रभावित किया। सामयिक समस्याओं की उपेक्षा ये भी न कर सके। धीरे-धीरे लेखनी और तूलिका के माया-जाल से निकल कर

वास्तविक जीवन क्षेत्र में आ गए। 'युगान्त' तक आते-आते उनकी छायावादी यात्रा पूर्ण हो जाती है। रचना का नाम इसी बात का सूचक है। इसके बाद 'युगवाणी और 'ग्राम्या' प्रगतिवादी रचनाएँ हैं। इनके भाव, भाषा और शैली सब पहले से पृथक हैं। इनकी रचनाओं में सुकुमारता अधिक होने और सुकुमार विषयों पर कविता करने के कारण ही इनको सुकुमार प्रकृति का कवि कहा गया है। जीवन संघर्षों के झोंके इन्होंने भी खाये हैं। इनके छायावाद की विशेषता यह रही है कि जीवन को कभी नहीं भूले हैं। पल्लव, गुंजन, ग्रंथि, वीणा आदि रचनाओं में जीवन पर भी विचार किया गया है। पल्लव में 'परिवर्तन' कविता बडी प्रौढ़ है। ये प्रकृति के सौम्य रूप का ही चित्रण करते हैं किन्तु परिवर्तन में भीषण रूप का भी चित्रण हुआ है।

रचनाएँ

१—महाकाव्य—लोकायतन।

२—काव्य—पल्लव गुंजन, ग्रन्थि, वीणा, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-धूलि, स्वर्ण-किरण, उत्तरा, अतिमा, स्वर्णिम रथ-चक्र।

३—नाटक—ज्योत्स्ना, रजतशिखर, शिल्पी।

आप 'रूपाभ' नामक पत्र निकालते हैं जिसमें सामयिक रचनाओं पर समीक्षा रहती है।

पन्त पर पश्चिम के रोमांटिक कवियों का पर्याप्त प्रभाव है। इन्हें हिन्दी का वर्ड्सवर्थ भी कहते हैं।

विशेषताएँ

१—विद्रोही कवि—प्राचीन काव्य-रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का तीव्र स्वर है।

२—प्रकृति प्रेमी कवि—एक मात्र पन्त ने प्रकृति को आत्मगत किया है—

> हाँ सखि, आओ बाँह खोलकर मिलकर गले जुड़ा लें प्राण,
> फिर तुम तम में मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान॥

३—प्रमुख छायावादी—आप छायावाद के स्तम्भ हैं। छायावाद के कलापक्ष के तत्त्वों—लाक्षणिक भाषा, अमूर्त उपमान-उपमेय, प्रतीकात्मकता, ध्वन्या-

त्मकता और मानवीकरण व विशेषण विपर्यय—को उन्होंने अपनी कविता में सर्वाधिक स्थान दिया है।

४—नारी के प्रति उदार भावना—नारी को वे माँ, सखी, सहचरी, प्राण के नामों से पुकारते हैं।

५—संस्कृत की कोमलकान्त पदावली—यह अब प्रगतिवादी कविता में छूट गई है।

६—छन्द-स्वातन्त्र्य—विषय के अनुरूप स्वयं छन्द का निर्माण करते हैं।

७—युगसहचर—पंत युग को भुलाने वाले कवि नहीं हैं। वे कल्पनालोक में विचरने वाले दूसरे कवियों को कहते हैं—

क्या ताक रहे गगन, मृत्यु, नीलिमा, गहन
देखो भू को, जीव-प्रसू को।

अन्त में छायावाद की काल्पनिक कविता छोड़कर प्रगतिवाद की यथार्थप्रधान कविता करने लगे हैं।

८—रहस्यवाद—रहस्यवाद आपने अधिक नहीं अपनाया। कहीं-कहीं प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर अज्ञात रहस्यमय शक्ति का भान करते हैं, पर सर्वत्र नहीं।

इस आधार पर कह सकते हैं कि पन्त छायावाद के महान् कवि हैं।

स्मृति-संकेत

१—प्रकृति के वातावरण में पलने से प्रकृति-प्रेम, जीवन से ऐक्य सौम्य प्रकृति-चित्रण। २—बंग-साहित्य, स्वामी रामकृष्ण परमहंस के दर्शन एवं पश्चिमी-साहित्य का प्रभाव। ३—छायावादी रचनाओं में भी जीवन पर विचार। ४—पल्लव, गुञ्जन, ग्रन्थि, वीणा, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या। ५—विशेषता—विद्रोही कवि, प्रकृति से आत्मीयता, छायावाद के तत्वों का अधिक प्रयोग, नारी के प्रति उदार भावना, कोमलकान्त-पदावली, छन्द-स्वातन्त्र्य, युग-सहचर, रहस्यवाद अधिक नहीं।

प्रश्न ८—'पंत' प्रकृति के सुकुमार कवि हैं। सिद्ध कीजिये।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २०१२)

अथवा

पन्त के प्रकृति चित्रण की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—पंत का प्रकृति-वर्णन हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उनके प्रकृति वर्णन की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। नीचे इन विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन किया जावेगा—

१—प्रकृति का आलम्बन-रूप में चित्रण—पंत जी के काव्य में प्रकृति का आलम्बन-रूप में चित्रण अनेक स्थानों पर हुआ है। ये सभी वर्णन सरस, सुन्दर और स्वाभाविक हैं। एक चित्र देखिए—

सुरपति के हम ही हैं अनुचर
जगत प्राण के भी सहचर।
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के प्रिय जीवन धर।

२. प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण—उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण करना एक बहुत पुरानी परिपाटी है। पंत जी ने भी इस पद्धति पर प्रकृति का वर्णन किया है। पवन कवि के मानस में स्थित भावों को और भी उद्दीपन करती है—

आज रहने दो यह गृहकाज
प्राण ! रहने दो यह गृहकाज
आज जाने कैसी बातास
छोड़ती सौरभ श्लथ उच्छ्वास।

३—प्रकृति का अलंकारिक रूप में चित्रण—पंत जी ने अलंकार-विधान प नए नए उपमान प्रकृति से लिये हैं। पुरानी परिपाटी से चले आ रहे उपमानों को भी उन्होंने ग्रहण किया है तथा नवीन कल्पनाएँ भी इसी क्षेत्र में उन्होंने की हैं। दो उदाहरण देखिए—

(i) घटा सी नव असाढ़ सी सुन्दर।
(ii) उकसे थे अम्बियों से उरोज।

४. रहस्यभावना के रूप में प्रकृति का चित्रण—रहस्यवादी कवि प्रकृति में उस परोक्ष सत्ता के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। पंत जी भी 'मौन निमन्त्रण' में व्यक्त अखण्ड सत्ता का धूमिल आभास देखते हैं। कवि सोचता है कि सारा संसार तो सो

गया है ? मानव मात्र की आँखों में नींद भरी हुई है, स्वप्न पल रहे हैं, ऐसे शान्त वातावरण में ये नक्षत्र क्यों जाग रहे हैं ? क्या इनके माध्यम से उस चिरन्तन सत्ता का मुझे आमन्त्रण है—

स्तब्ध ज्योत्सना में सब संसार,
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान।
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन।

५—प्रकृति का मानवीकरण—प्रकृति में चेतना का आरोप करके पंत जी ने प्रकृति वर्णन को अत्यन्त सजीव और सुन्दर बना दिया है। पंत के काव्य में मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। 'सन्ध्या' के वर्णन में किस कुशलता से कवि ने मानवीय चेतना का आरोप किया है—

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहरी फैला केश कलाप।
मधुर, मंथर, मृदु, मौन।

इसके अतिरिक्त पंत के काव्य में प्रकृति का चित्रण उपदेश, प्रतीक, संवेदना, दार्शनिक तथ्यों की उद्भावना आदि के रूप में भी हुआ है। 'निराला' जी के शब्दों में 'पंत प्रकृति के सुकुमार कवि हैं।'

स्मृति-संकेत

(१) पंत के प्रकृत-चित्रण का हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान।

(२) विशेषताएँ—आलम्बन-रूप में चित्रण, उद्दीपन-रूप में चित्रण, आलंकारिक-रूप में चित्रण, रहस्य-भावना के रूप में चित्रण, प्रकृति का मानवीकरण।

प्रश्न ९—"महादेवी जी नश्वर मानव के हृदय की अविनश्वर वेदना को साकार मूर्ति हैं। गीति-काव्य में ही उनको अभिव्यक्ति निहित है और करुणा

ही उनके भाव-पथ का सम्बल है।" उपर्युक्त उदाहरण की युक्तियुक्त विवेचना कीजिये।

उत्तर—महादेवी जी पर अपनी माता की आस्तिक भावना और बौद्ध-दर्शन दोनों का प्रभाव है। आप पहले भिक्षुणी बनना चाहती थीं किन्तु १३ वर्ष की अवस्था में ही विवाह हो जाने से उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका। ब्रजभाषा से कविता आरम्भ करके खड़ीबोली की ओर पदार्पण किया। 'तेरी उतारूं आरती, माँ भारती' इस राष्ट्रीय कविता से इनके खड़ीबोली के काव्य का आरम्भ हुआ। नीरजा, नीहार, रश्मि, सान्ध्यगीत आदि आपके काव्य-संग्रह अब 'यामा' और 'दीपशिखा' के नाम से संगृहीत हुए हैं। छायावाद और रहस्यवाद की काव्य-रचना में आपका नाम शीर्षस्थान में आता है। प्रसाद ने छायावाद को जन्म दिया, पंत ने उसे प्रांजलता दी, निराला ने ओज दिया, तो महादेवी ने उसे वेदना के आँसू दिये।

महादेवी जी उस अनन्त सत्ता के प्रेम की पथिक हैं किन्तु इस चारों ओर वर्तमान जगत् की ममता उन्हें उस प्रिय से मिलने में रोकती है और वे अपने जीवन-दीप को तिल-तिल कर जलानें में ही सुख मानती हैं :—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।
तू जल-जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलना-मय
मधुर मिलन में मिल जाता तू
उसके मधु स्मित में घुल मिल॥

उन्होंने पीड़ा में ही प्रिय की एकात्मकता समझ ली है। अश्रुहार से प्रिय का शृंगार ही उनकी साधना है—

"मैं नीर भरी दुख की बदली"
"अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री।
"अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली।"

गीत मानव-हृदय के मनोवेगों की रागात्मक अभिव्यक्ति है। अतिशय वेदना और आनन्द ही गीत के रूप में प्रकट होते हैं। महादेवी अन्तर में व्यथा का सागर संजोए हुए हैं। उनकी अभिव्यक्ति गीतों में करने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। वे तभी पुकार कर कह सकती हैं—

'मिलन का मत नाम ले, मैं विरह चिर हूँ ।'

उनकी व्यथा केवल अपने लिये न होकर जगती के आंसू भी लिये हुए है । नश्वर जगती को छोड़ वे प्रिय से नहीं मिलना चाहतीं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ।
रहने दो हे देव ! मेरा यह मर मिटने का अधिकार ।।

दूर रहकर ही वे प्रिय से अपने सौभाग्य का अनुभव करती हैं—

'दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ ।'

महादेवी जी के गीत हिन्दी-साहित्य की सम्पत्ति हैं ।' उनमें तन्मयता, तीव्र अनुभूति और व्यथा का दान—सभी कुछ है । संस्कृत पदावली उनका भूषण है ।

स्मृति-संकेत

१—आस्तिक भावना और बौद्ध दर्शन का प्रभाव । भिक्षुणी बनने की इच्छा अपूर्ण । २—नीरजा, नीहार, रश्मि, सान्ध्यगीत का नव संग्रह दीपशिखा, यामा । ३—अनन्त सत्ता से प्रेम, मिलन की इच्छा नहीं, पीड़ा में जीवन साधना । ४—दु:खी जगत के प्रति ममता, अश्रुहार से प्रिय अर्चना । ५—गीत साहित्य की सम्पत्ति । संस्कृत पदावली भूषण ।

प्रश्न १०—माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा हैं' । इस कथन की उनके काव्य द्वारा पुष्टि कीजिए ।

उत्तर—माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय छायावाद के प्रवर्तक हैं । जब अन्य छायावादी कवि प्रकृति प्रेम की बातें कर रहे थे, उस समय चतुर्वेदी जी देश-प्रेम से ओत-प्रोत कविताएं लिख रहे थे। उनकी शैली, शब्द-गठन, भाषा का स्वरूप आदि सभी निराले हैं । छन्द आदि भी स्वछन्द ही हैं । काव्य की रूढ़ियों में वे नहीं बंधे हैं । उनके काव्य में दो प्रकार का प्रेम है—देश-प्रेम और कृष्ण-प्रेम । कृष्ण-प्रेम से सम्बन्ध रखने वाली कविताओं में भी राष्ट्रीयता भरी है । स्वाधीनता-संग्राम में आपने जेल-यात्रा भी की । आपकी कविताओं में जोश है, ओज-गुण है । भावों के तूफान को भाषा सँभाल नहीं पाती है । इसी कारण कविता कुछ दुर्बोध हो गयी ।

देश-प्रेम की कविताओं में कहीं तो देश के लिए बलिदान की कामना है, कहीं देश के नवयुवकों को बलिदान के लिए आमन्त्रित किया गया है और कहीं

स्वयं देश की प्रशंसा की गई है ? आपकी कविता 'पुष्प की अभिलाषा' बलिदान की कामना के लिए प्रसिद्ध है। नीचे लिखी पंक्तियाँ—

मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।।

करोड़ों कण्ठों पर स्थित हैं। 'कैदी और कोकिला' में जेल में पड़े कवि की आत्मा की छटपटाहट है। 'हिम-किरीटिनी' के गीत भारत-माता के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, पराधीन भारत के युवकों की विवशता पर कटाक्ष करते हैं। 'जवानी' कविता युवकों को स्पष्ट शब्दों में देश के लिए बलिदान का संदेश देती है।

"पहन ले नर मुण्डमाला उठ स्वमुण्ड सुमेरु कर ले।'
'भूमि-सा तू पहन बाना आज धानी।'

ये पंक्तियाँ उनके हार्दिक ओज को प्रकट करती हैं। 'तेरे घर पहले होता सवेरा' देश की नवोपार्जित स्वतन्त्रता का अभिनन्दन है। 'घर मेरा है' एक भारतीय आत्मा की तड़पन है जो कि अपने ही देश में विदेश का-सा व्यवहार सह रही है। इस प्रकार देखते हैं कि आपका काव्य देश-प्रेम, स्वतंत्र-भाव आदि से ओत-प्रोत है। अतः आपका नाम 'भारतीय आत्मा' सर्वथा संगत है।

स्मृति-संकेत

१—राष्ट्रीय छायावाद के प्रवर्तक, निजी शैली, रूढ़ियों से विद्रोह। २—देश-प्रेम एवं कृष्ण-प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ। भाषा भाव प्रकाशन में अक्षम। ३—देश-प्रेम की कविताओं में बलिदान के लिए आमन्त्रण (जवानी), बलिदान की इच्छा (पुष्प की अभिलाषा), 'कैदी और कोकिला में, विवश आत्मा की छटपटाहट।

प्रश्न ११—श्री रामकुमार वर्मा की कविता का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी छायावाद और रहस्यवाद की सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। 'सकेत', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' आदि आपके काव्य संग्रह हैं। कवि, नाटककार और आलोचक—आपके इन तीनों रूपों का काव्य पर भी प्रभाव है इसी आधार पर आप कभी पीड़ित पौराणिक पात्रों के संबंध में अपने मनोभाव प्रकट करते हैं। जैसे 'चट्टान' में गौतम के शाप से शिला बनी अहिल्या के स्वरूप के दर्शन किए हैं। 'शुजा' में पराजित और आराकान के जंगलों

में शरण लेने वाले शाहज़ादा शुजा को सम्बोधित कर आपने विद्रोहपूर्ण विचार प्रकट किए हैं।

रामकुमार वर्मा अध्ययनशील व्यक्ति हैं। भारतीय और पश्चिमी दर्शन का अध्ययन एवं कबीर आदि संत कवियों के साहित्य का मनन करने से आपके भावों को गम्भीरता मिली है। इनका रहस्यवाद भी इससे प्रभावित हुआ है, परन्तु आपके काव्य में संवेदना की आधार-भूमि अधिकतर कल्पना है। 'निराला' आपकी कविताओं में गहरा स्थान बनाए हुए हैं।

आपका शब्द-चयन अति सरस और परिमार्जित होता है। उसमें कहीं-कहीं संगीत का अच्छा पुट मिलता है। प्रकृति-चित्रण भी आपने सुन्दर किया है। उसमें मानवीकरण के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। रचनाओं में ओज और माधुर्य है। उनकी ये पंक्तियाँ अति प्रसिद्ध हैं—

इस सोते संसार बीच सजकर जगकर रजनी वाले।
कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरे तारों वाले॥

स्मृति-संकेत

१—संकेत, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्र-किरण कविता संग्रह। २—कवि, नाटककार, आलोचक—कविताओं में तीनों रूपों के दर्शन। ३—पीड़ित एवं उपेक्षित पात्रों के सम्बन्ध में भावाभिव्यक्ति। ४—अध्ययनशील, दार्शनिक, कबीर की वाणी का मनन, गम्भीरता, कल्पनात्मक अनुभूति, निराशावाद। ५—शब्द-चयन सरस, प्रकृति-चित्रण सजीव।

प्रश्न १२—"निराला संस्कृति के कवि हैं और दिनकर राष्ट्र के।" यह कथन कहाँ तक ठीक है ? विवेचन् कीजिए। (मध्यमा परीक्षा, सं० २००९)

उत्तर—निराला जी पर वेदान्त और आध्यात्मिकता का अधिक प्रभाव था। वे देश की दुर्गति देखकर दुःखी होते थे, किन्तु उसके लिए वर्तमान समाज को चेतावनी देते थे। जनता को जगाने के लिए प्राचीन संस्कृति की ओर दृष्टि डालते थे। सांस्कृतिक जागरण के लिए उन्होंने 'तुलसीदास' की सृष्टि की है। सामाजिक शोषण के लिए क्रांति को आवश्यक समझा किन्तु इसके लिए जन-शक्ति को न पुकार कर।

एक बार बस और नाच तू श्यामा।

कह कर चण्डी को ही पुकारा। उनकी दृष्टि कृष्ण और राम की ओर जाती

थी। 'राम की शक्ति-पूजा' इसका संकेत करती हैं।

इसके विपरीत दिनकर राष्ट्रीय दशा को देखकर जनता को ही जगाते हैं। 'हिमालय के प्रति' उनकी कविता भारत के प्राचीन गौरव के सम्बन्ध में उनकी भावना का परिचय देती है। 'हुंकार' भारत की जागृत चेतना का सूचक है। 'कुरुक्षेत्र' में आपने सामाजिक वैषम्य को दूर करने और अन्याय को चुपचाप सहना पाप बताकर विद्रोह करने की प्रेरणा देकर अपना जीवन-दर्शन दिया है। दिनकर जी वर्तमान सामाजिक अव्यवस्था और शोषण से असन्तुष्ट हैं। किन्तु इसके लिए वे मास्को से प्रेरणा नहीं लेते। उन्हें मानव शक्ति पर विश्वास है। उसी की गुप्त और पथभ्रष्ट प्रवृत्तियों को सन्मार्ग की ओर करने के लिए प्रेरणा देने पर विश्वास रखते हैं। इसलिए उन्होंने भारत के गौरवमय अतीत के सूचक स्थानों पर कविताएं लिखी हैं। 'पाटलीपुत्र के प्रति' कविता मौर्य साम्राज्य की स्मृति दिलाती है, जिसमें भारत को यूनानी अधिकार से मुक्त कराने वाले चन्द्रगुप्त का गौरव निहित है। गुप्तवंश की यश:पताका यूरोप तक फैलाने वाले सम्राट समुद्रगुप्त की कीर्ति-गाथा भी पाटलीपुत्र के अतीत से सम्बद्ध है।

आपकी भाषा सरल है परन्तु उसमें ओज है, भाव-प्रेरणा की शक्ति हैं। निश्चय ही आपने राष्ट्र के गौरव को बढ़ाकर राष्ट्रकवि का पद पाया है।

स्मृति-संकेत

१—निराला वेदान्त एवं अध्यात्मवादी, नव-जागरण के लिए प्राचीन संस्कृति की ओर उन्मुख, क्रांति के लिए चण्डी का आह्वान। २—दिनकर राष्ट्रीय-चेतना के लिए जन-जागरण के पक्षपाती। 'हुंकार' में राष्ट्र के अतीत गौरव की स्मृति। 'पाटलीपुत्र के प्रति' में मौर्य साम्राज्य एवं समुद्रगुप्त का स्मरण। ३—मास्को से प्रभावित नहीं। 'कुरुक्षेत्र' जीवन-दर्शन का सूचक।

प्रश्न १३—आधुनिक काव्य में प्रचलित प्रमुख रूप-विधाओं और काव्य-शैलियों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर—अधिकांश समीक्षक द्विवेदी-युग की कविता को इतिवृत्तात्मक कहते हैं। हमारा विचार है कि भारतेन्दु-युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता और रुक्षता उससे कहीं अधिक है। परंतु इससे इस काल की कविता का ऐतिहासिक महत्व कम नहीं हो जाता। यह कविता जन-जीवन के बहुत निकट है और इसमें नवो-

त्थान और नवयुग के चिंतन की छाप को देखा जा सकता है। भारतेन्दु-युग में काव्य और राजनीति, काव्य और समाज, काव्य और जनसाधारण एक दूसरे के बहुत निकट हो रहे थे। इन कतिपय प्रयोगों से ही कविता-शैली इतनी विकसित हुई है और इनकी रखी हुई नींव पर ही आधुनिक काव्य-शैलियों का निर्माण हुआ है।

इस काल में तीन प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं—१. प्राचीन परम्परानुसार ब्रजभाषा, २. शुद्ध खड़ीबोली और ३. खड़ीबोली तथा ब्रजभाषा का मिश्रित रूप। भारतेन्दु ब्रजभाषा को ही काव्योपयुक्त भाषा मानते थे। जैसा कि कहा जा चुका है, द्विवेदी-युग की भाषा व काव्य को इतिवृत्तात्मक कहा जाता है। किन्तु यह शुष्कता भी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में अनेक कविताएँ वर्णनात्मक और आख्यानात्मक शैलियों में रची गईं। पौराणिक कथाओं, सामयिक अवसरों पर भी कुछ कविताएँ मिलती हैं। 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत इसी युग की देन हैं। इनमें लोक-संग्रह की भावना स्पष्ट है।

हरिश्चंद्र और द्विवेदी-युग मिलकर आधुनिक युग की पृष्ठभूमि बने हैं। हरिश्चंद्र-युग ने हिन्दी काव्य को यथार्थवादिता और स्वछंदता दी तो द्विवेदी-युग ने उसमें आदर्शवादिता का समावेश किया। हरिश्चंद्र-युग ने नवीन चेतना प्रदान की और द्विवेदी-युग ने उसे भाषा दी। दोनों के मेल से ही नवीन युग का उत्थान हुआ।

छायावादी युग में भाषा का परिष्कार हुआ और शैली के क्षेत्र में भी क्रांति हुई। इसे स्वच्छंदता का युग भी कहा जा सकता है। कुल मिलाकर इस युग की मुख्य काव्य-शैलियाँ इस प्रकार हैं—

(१) प्रकृति-प्रेम की कविताएँ, (२) दार्शनिक कविताएँ, (३) राष्ट्रीय प्रेम की कविताएं, (४) उद्बोधन-शैली के गीत व प्रार्थनापरक गीत।

पंत, प्रसाद और निराला—ये तीन छायावाद के प्रमुख कवि हैं। इनमें निराला क मुख्य स्वर है छायावादी, परंतु वे प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और दार्शनिक भी कहे जाते हैं। प्रसाद का 'झरना' और पंत के 'वीणा' व 'पल्लव' काव्य संग्रह छायावादी कविताओं के प्रमुख स्मारक हैं।

इन कवियों में से बाद में पंत जी और निराला जी ने मानस से प्रेरित होकर कुछ प्रगतिवादी शैली की भी कविताएँ की हैं किंतु पंतजी प्रयोग के क्षेत्र में नहीं आए जबकि निरालाजी ने 'बेला' और 'कुकुरमुत्ता' के माध्यम से कुछ प्रयोगवादी कविताएँ भी प्रस्तुत कीं।

वर्तमान काल में 'नयी कविता' के नाम से जो प्रवृत्ति चली है उसके मूल में भी स्वच्छंदप्रियता है और नवीन शैली को उभरने का इसमें अवकाश मिला है। सूत्र-रूप में कहा जा सकता है कि इतिवृत्तात्मकता और छायावाद—दोनों के सामंजस्य से एक नई शैली का धीरे-धीरे विकास हो रहा है। इस काल में 'अज्ञेय' नई कविता के उन्नायकों में परिगणित किये जाते हैं। इन्होंने निबंध शैलियों द्वारा काव्य की समृद्धि की है।

काव्य की रूप-विधाओं की दृष्टि से यह युग अत्यन्त समृद्धि का काल है। इस काल में महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक गीतियाँ, पत्रगीतियाँ, एकार्थ-काव्य, चंपूकाव्य, काव्य-रूपक, शोक-गीति आदि सभी कुछ प्रणीत किए गए। इनके उदाहरण हम इस प्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

महाकाव्य—प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, साकेत-संत, उर्वशी, लोकायतन, एकलव्य आदि।

खण्डकाव्य—जयद्रथ-वध, तुलसीदास, पथिक, मिलन, स्वप्न आदि।

आख्यानक गीतियाँ—प्रलय की छाया, शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण, राम की शक्ति-पूजा आदि।

पत्र-गीति—'महाराज शिवाजी का पत्र' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

एकार्थ काव्य—'कुरुक्षेत्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार एकार्थ काव्य है, जिसमें आद्यन्त एक ही विचारधारा का पल्लवन मिलता है।

चम्पू काव्य—गद्य-पद्य-मिश्रित गुप्त जी की कृति 'यशोधरा' इसका उदाहरण है।

काव्य-रूपक—श्री सुमित्रानंदन पंत ने श्रेष्ठ काव्य-रूपकों की रचना की है। उनके 'शिल्पी' 'ध्वंसावशेष' आदि श्रेष्ठ-काव्य रूपक हैं। बाबू भगवतीचरण वर्मा ने भी 'महाकाल, 'द्रोपदी' और 'कर्ण' जैसे उत्तम काव्य-रूपकों की रचना की है।

शोक-गीति—शोक-गीति वैसे तो पश्चिमी काव्य की ही एक विधा है किंतु हिन्दी काव्य में भी इसके कुछ श्रेष्ठ उदाहरण प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला की कविता 'सरोज-स्मृति' शोक-गीति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल में भारतेन्दु-युग से लेकर नई कविता के युग तक अनेक काव्य-शैलियों का उपयोग किया गया है और रूप-विधाओं के क्षेत्र में निरतर समृद्धि होती आ रही है। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अब तक की विधाओं में सबसे अधिक महत्व किस विधा को मिला है? इसका उत्तर यह है आधुनिक काल में प्रबंध की धारा प्रारम्भ से अब तक वर्तमान रही है। इस कला में यह धारा प्रियप्रवास से प्रारम्भ होती है और नई कविता के युग में भी चली आ रही है। उदाहरण के लिए नई कविता के प्रवन्ध-काव्यों में 'एक कण्ठ विषदायी', 'अन्धायुग', 'कनुप्रिया', 'संशय की एक रात' आदि कृतियों का परिगणन किया जा सकता है।

प्रश्न १४—आधुनिक कविता की नवीन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
(मध्यमा परीक्षा सं० २०१०)

उत्तर—आधुनिक कविता वही कहलाती है जो कि भारतेन्दु-युग से आरम्भ हुई है। उसमें पश्चिमी साहित्य का अनुकरण करके जो रचनाएँ आईं वे ही उसकी प्रवृत्तियाँ हैं। वे निम्नलिखित हैं—

स्वच्छन्दतावाद—द्विवेदी-युग में कविता इतिवृत्तात्मकता की संकरी गली में बन्द हो गई। मौलिक उद्भावनाओं का उसमें अस्तित्व ही नहीं था। संस्कृत के अर्धवृत्तों में उपदेश-प्रधान कविता लिखी जा रही थी। इस रूढ़ि के विरुद्ध जो प्रवृत्ति अपनाई गई, उसे ही स्वच्छन्दतावाद कहते हैं। इसके अनुसार छन्दों, भावों और शैली का अंकुश हट गया। कवि स्वतन्त्रतापूर्वक मानसिक उद्गार—प्रवल और वासना के भी—अभिव्यक्त करने लगे। अंग्रेजी के (Free Verses) के अनुकरण पर स्वच्छन्द छन्द का प्रयोग होने लगा और कविता वर्णनात्मक की अपेक्षा स्वानुभूति-प्रधान विशेष हो गई। इसी कारण उनमें संगीत की मात्रा भी आई। प्रबन्ध का स्थान मुक्तक ने ले लिया। नगरों के स्थान पर प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में कवियों की प्रतिभा जगी। सीधी और वाच्य-प्रधान भाषा के

स्थान पर लाक्षणिक भाषा का प्रयोग होने लगा। कविता में वर्ण या मात्रा का स्थान लय और ध्वनि ने ले लिया। कविता के लिए विशेष मंजी और कोमल व्यंजन-प्रधान वर्गों या शब्दों का प्रयोग होने लगा। कवि निरंकुशतापूर्वक व्याकरण की भी उपेक्षा करके मनमाने शब्द गढ़ने लगे। यही सारी प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावाद के नाम से पुकारी जाती है। इसके अन्तर्गत भाव-भूमि के भेद से जो नई परम्पराएँ चलीं वे ही निम्न वादों के रूप में प्रचलित हुईं।

छायावाद (मध्यमा परीक्षा, सं० २०१९)—कवि प्रकृति को मानवीय रूप देकर जिसमें मानवीय भावनाओं का निरूपण करता है, उस प्रवृत्ति को छायावाद कहते हैं। इसका मूल हृदय के कुण्ठित प्रेम में है। मन की सूक्ष्म मनोवृत्तियों एवं मनोवेगों को प्रतीकों, लाक्षणिक प्रयोगों और प्राकृतिक उपमानों द्वारा व्यक्त किया जाता है। उसमें नखशिख-वर्णन होता है किन्तु हाड़-मांस वाली सुन्दरी का नहीं, अचेतन प्रकृति का। उसे आधार बनाकर कवि अपनी वासना प्रकट कर देता है। इसलिए प्रकृति इसका मुख्य उपादान है। द्विवेदी युग के कवियों ने इसे कविता का छायाभास कहा था, अतः इसका नाम ही छायावाद पड़ गया। इसकी भाषा दुर्बोध होने के कारण जनसाधारण के काम की नहीं। इसमें स्वच्छन्दतावाद की सभी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

उदाहरण—

कौन, तुम रूपसि कौन ? ब्योम से उतर रही चुपचाप,
छिपी निज छाया में आप सुनहला फैला केश-कलाप।

(निराला)

रहस्यवाद—छायावाद का विकसित रूप ही रहस्यवाद होता है। यदि हम प्रकृति के उपादानों में परमात्मा का अनुभव करें तो यह रहस्यवाद कहलायेगा। रहस्य का अर्थ है 'गुप्त' या 'छिपा हुआ'। उसका कथन ही रहस्यवाद है। अचेतन और चेतन सर्वत्र ईश्वर का अनुभव करके उसका रहस्यमय रीति से वर्णन करना होता है। क्योंकि अनुभव को सीधे शब्दों में नहीं कहा जा सकता अतः इसके लिये उसी प्रकार का अनुभव कराने वाले प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वानुभूति, उत्कंठा, मिलनोत्तरावस्था।

पूर्वानुभूति—जबकि कवि उस रहस्यमयी सत्ता का अनुभव करता हैं किन्तु उसे पहचानता नहीं तब उसे जिज्ञासा होती है—

इस रत्न जटित अम्बर को किसने वसुधा पर छाया।
करुणा की किरण चमका क्यों अपना रूप छिपाया॥

उत्कण्ठा—इस अवस्था में कवि उसे पहचान तो जाता है, पर पाने का प्रयत्न करता है। मिलन की तड़पन ही इस अवस्था का सर्वस्व है। जैसे—

अच्छी आँखमिचौनी खेली।
एक बार तुम छिपो और मैं खोजूं तुम्हें अकेली।
किसी शांत एकान्त कुंज में तुम जाकर सो जाओ,
भटकूं इधर-उधर मैं, इसमें क्या रस है, बतलाओ?
यदि मैं छिपूं और तुम खोजो अनायास ही पाओ।

मिलनोत्तरावस्था—इस स्थिति में आत्मा परमात्मा के साथ घुल-मिलकर एक हो जाती है। वस्तुतः अपने को उससे मिली जानकर भी पृथक् ही रहती है। उस समय की अनुभूति का इसमें वर्णन होता है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

महादेवी, रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, निराला—इन्होंने अच्छी रहस्यवादी कविताएं लिखी हैं।

प्रगतिवाद (मध्यमा परीक्षा, सं० २०१६)—छायावाद में कवि इस जीवन को भुलाकर प्रकृति के आंगन में चले गये थे। जीवन के संघर्षों से वे कतराते थे। उनकी भाषा भी जीवन से दूर थी। इसके विरोधस्वरूप प्रगतिवाद का जन्म हुआ। यह राजनीतिक समाजवाद का साहित्यिक रूप है। इसका कवि एक ओर सामाजिक बन्धनों से मानव की मुक्ति का आन्दोलन करता है, दूसरी ओर साहित्य को भी उसकी रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रयास करता है। वह पिछले वर्ग की वकालत करता है और शोषण की निन्दा। इसके कुछ कवि सर्वथा क्रान्ति के पक्षपाती हैं। कुछ मार्क्स से प्रभावित हैं। उस में यथार्थ चित्रण पर विशेष बल देने से अश्लीलता भी है। इसका साहित्य अभी परि-मार्जित नहीं है।

स्मृति-संकेत

१—स्वच्छन्दतावाद—पश्चिम के प्रभाव से काव्यगत रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव। छन्द आदि दृष्टियों से स्वतन्त्र रचना। अनेक वादों का जन्म। २—छायावाद—अचेतन व्यापार के अनुभव, प्रकृति में मानवीय आत्मा की अनुभूति। कुण्ठित वासना का प्रकृति को आलम्बन बनाकर प्रकाशन। ३—रहस्यवाद—ईश्वरानुभूनि का प्रकाशन। छायावाद का विकसित रूप। तीन अवस्था—जिज्ञासा, उत्कण्ठा, मिलनोत्तरावस्था। प्रथम में पाने के बाद अनुभव व्यक्त। ४—प्रगतिवाद—छायावाद के विरुद्ध विद्रोह का परिणाम। सामाजिक रूढ़ियों व शोषण के प्रति विद्रोह, समाजवाद का साहित्यिक रूप। पीड़ित वर्ग का पक्षपात। साहित्य मार्क्स प्रभावित, क्रान्तिवादी, परिमार्जित नहीं।

प्रश्न १५—छायावाद की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २०१० व २०१५)

अथवा

छायावाद की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—छायावाद विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के रोमांटिक उत्थान की वह धारा है जो अनुमानतः १९१८ से लेकर १९३६ तक की प्रमुख धारा मानी जाती है। इसमें प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला प्रभृति मुख्य कवि हुए हैं और सामान्य रूप से भावोच्छवास-प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना-वैभव की वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति है जो देशकालगत वैशिष्ट्य के साथ विश्व की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील गुणों की आशा-आकांक्षा में निरन्तर व्यक्त होती रही है। स्वच्छन्दता की उस सामान्य भाव-धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम साहित्य में छायावाद पड़ा।

विभिन्न विद्वानों ने छायावाद को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है—

रामचन्द्र शुक्ल — छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो 'रहस्यवाद के अर्थ में' और 'छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में।'

जयशंकर प्रसाद—प्रसाद जी ने छायावाद का प्रयोग 'अर्थ की वक्रता से आने वाली छाया या कान्ति' के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

महादेवी वर्मा—'छायावाद' तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है।

सुमित्रानंदन पंत—छायावाद प्रकृति चित्रणों में कवि की अपनी भावनाओं के सौंदर्य की छाया है।

विश्वम्भर 'मानव'—'प्रकृति में चेतना के आरोप को छायावाद कहते हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा—'परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की परमात्मा में, यही छायावाद है।'

गंगाप्रसाद पाण्डेय—'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झांकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।'

डा० नगेन्द्र—'कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है—यह मानना भ्रांति होगी। यह सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह है।'

गुलाबराय—'छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतलाकर एकात्मा की पुष्टि करते हैं।'

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन और विश्लेषण से छायावाद की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं—

१. सौन्दर्य दर्शन। २. शृंगार अथवा प्रेम की भावना। ३. करुणा की निवृत्ति। ४. प्रकृति पर चेतना का आरोप अथवा प्रकृति का मानवीकरण। ५. आध्यात्मिकता। ६. नारी की महत्ता। ७. मानवता की विवृत्ति। ८. अभिव्यंजना की अनूठी पद्धति—लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचारवक्रता, ध्वन्यात्मकता, चित्रभाषा, तथा नये-नये अलंकारों का प्रयोग इत्यादि।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह के शब्दों में 'छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास की एक महत्त्वपूर्ण मंजिल है जहाँ पहुँच कर हिन्दी कविता भक्तिकालीन काव्य की ऊंचाई और गौरव को पुनः प्राप्त कर सकी है।'

प्रश्न १७—छायावाद काव्य की विविध प्रवृत्तियों का विचार करते हुये रहस्यवाद और छायावाद में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

(मध्यमा परीक्षा, सं० २०२१)

संकेत—उत्तर के लिए प्रश्न (१५) व (१६) का अध्ययन कीजिए।

व्याख्या-भाग

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

सदा करूँगा अपमृत्यु सामना
स-भीत हूँगा न सुरेन्द्र-वज्र से ।
कभी करूँगा अवहेलना न मैं
प्रधान धर्मांग परोपकार की ।।
प्रवाह होते तक शेष-श्वास के
सरक्त होते तक एक भी शिरा
सशक्त होते तक एक भी लोम के
किया करूँगा हित सर्वभूत का ।। (पृष्ठ २३)

प्रसंग:—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'मध्यमा काव्य-संग्रह में संगृहीत श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा रचित 'कृष्ण की लोकसेवा' शीर्षक कविता से उद्धृत की गई हैं । इस कविता में श्री कृष्ण के ब्रज-निवास के दिनों में लोगों की सेवा करते रहने की भावना को प्रकट किया गया है । वे नाना उपायों से लोकसेवा के सम्बन्ध में विचार करते हैं । इन पंक्तियों में इस सम्बन्ध में उनका दृढ़व्रत प्रकाशित हुआ है । कृष्ण कहते हैं:—

व्याख्या :—मैं सदैव अकाल मृत्यु के मुँह में जाने से लोगों को बचाऊँगा । इन्द्र के पास जो सबसे सशक्त शस्त्र हैं, जिसे बज्र कहा जाता है उससे भी मैं कभी भय नहीं खाऊँगा । धर्म के संबध में जो मुख्य तत्त्व परोपकार का कहा जाता है उसे सदैव व्यवहार-रूप में परिणत करूँगा । कभी भी मैं इस सत्कार्य के प्रति अपनी उपेक्षा का भाव प्रदर्शित नहीं करूँगा । जब तक मेरे शरीर में अंतिम साँस प्रवाहित होती रहेगी, जब तक मेरे शरीर की एक भी नस में रक्त सचरण करता रहेगा, जब तक मेरे शरीर का एक भी लोम शक्तिवान् बना रहेगा तब तक मैं इस जगत के प्रत्येक प्राणी का उपकार करता रहूँगा ।

विशेष :—प्राय: सभी कृष्ण-कवियों ने भगवान् कृष्ण के लोक-रंजक-स्वरूप का ही प्रकाशन किया है किन्तु हरिऔध जी ने अपने महाकाव्य 'प्रियप्रवास' में कृष्ण का, इन पंक्तियों के माध्यम से, लोक रक्षक-स्वरूप प्रकाशित किया है ।

फणीश शीर्षोपरि राजती रही
सु-मूर्ति शोभा-मय श्री मुकुंद की।
विकीर्णकारी कल-ज्योति चक्षु थे
अतीव-उत्फुल्ल मुखारविंद था॥
लिए हुए सर्प-समूह श्याम ज्यों
कालिन्दजा-कंपित अंक से कढ़े।
खड़े किनारे जितने मनुष्य थे
सभी महाशंकित भीत हो उठे॥ (पृष्ठ २५)

प्रसंग:—उपर्युक्त। कृष्ण ने लोक-सेवा का व्रत धारण कर लिया था। वे हर प्रकार से लोक-रक्षा के कार्य में आगे रहते थे। यमुना नदी में से एक दिन एक बहुत बलशाली काला नाग बाहर निकल कर लोगों को संत्रस्त करने लगा। कृष्ण ने उसका दमन कर दिया उस समय का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार हुआ है :—

व्याख्या :—श्रीकृष्ण नाग के सिर पर विराजमान थे। उनकी शोभामयी मूर्ति नाग के सिर पर अत्यंत अलौकिक रूप में प्रकट हो रही थी। उनके विशाल नेत्र मनोहारी ज्योति को प्रस्फुटित कर रहे थे। उनका सुन्दर मुख-कमल अत्यंत प्रफुल्लित दिखाई पड़ रहा था। ऐसी शोभा में भी जब श्रीकृष्ण नागों के समूह को अपने अधिकार में किए हुए यमुना के हिल्लोलित प्रवाह से बाहर निकले तो सभी उन मनुष्यों को असीम भय की भावना ने जकड़ लिया जो तट पर खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

विशेष:—यहाँ कृष्ण का पौराणिक-वर्णन ही प्रस्तुत हुआ है। अनुप्रास और रूपक अलंकारों की नियोजना हैं।

श्री मैथिली शरण गुप्त

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख-शांति-हेतु मैं क्रांति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन, शापित हैं।
जो जाएँ अभय वे जिन्हें कि भय भासित हैं,
जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित हैं। (पृष्ठ ३०-३१)

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा लिखित कविता 'राम का संकल्प' से उद्धृत किया गया है। मूल रूप से ये पक्तियाँ गुप्त जी द्वारा लिखित महाकाव्य 'साकेत' से चुनी गई हैं। भगवान् राम के सम्मुख एक आदर्श और एक लक्ष्य है जिन्हें वे इन पंक्तियों में प्रकट करते हैं:—

व्याख्या—आर्यो के आदर्श से जो लोग च्युत होते जा रहे हैं मैं उन्हें उनका मूल आदर्श बताने के लिए पृथ्वी पर आया हूँ। जन और धन इन दो वस्तुओं में से मैं धन के स्थान पर जन को महत्व देता हूँ क्योंकि जन-सेवा साध्य है और धन मात्र साधन। साधन से सदैव साध्य महत्वपूर्ण हुआ ही करता है। सुख और शांति की आवश्यकता सर्वत्र है अतएव मैं इन दोनों वस्तुओं के लिए क्रांति कर देना चाहता हूँ। विश्वास के संबंध में राम का कथन इस प्रकार है कि जो व्यक्ति इन आदर्शों में विश्वास रखते हैं उन्हें इस संबंध में स्थायित्व का आश्वासन देकर उनके विश्वास को बनाए रखना चाहता हूँ। मैं इस विश्व में उन लोगों के लिए आया हूं जो संत्रस्त्र हैं, जिनका अपने ऊपर कोई वश नहीं चलता, जो व्याकुल हैं, क्षीण शक्ति वाले हैं, जो दलित परिस्थितियों में रहते हैं और जो जीवन को एक अभिशाप के रूप में लेकर जी रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि वे सभी मनुष्य जो नाना भयों से भयभीत हैं अभय हो जाएँ। भीत-भावना को त्यागकर वे सभी मनुष्य मुक्ति का अनुभव करें।

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।
अथवा आकर्षण पुण्यभूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा।
जो नाममात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।

पर जो मेरा गुण, कर्म, स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे। (पृष्ठ ३१)

प्रसंग—उपर्युक्त।

व्याख्या—इन पंक्तियों में भगवान राम अपना लक्ष्य यह कहकर प्रकट करते हैं कि मैं इस पृथ्वी पर स्वर्ग का किसी भी प्रकार का संदेश नहीं लेकर आया हूँ बल्कि मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि इस भूमि को ही स्वर्ग के रूप में परिणत कर दिया जाए। यहाँ स्वर्ग की भावना का प्रचार आवश्यक नहीं; आवश्यक यह है कि इस पृथ्वी पर समस्त स्वर्गिक विशेषताएँ उपस्थित कर दी जाएं जिनसे कि स्वर्ग और इस पृथ्वी में कोई भेद ही न रह जाये। इसी कार्य को सम्पूर्ण करने के लिए मैं इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ हूँ। हो सकता है कि यह मेरा इस भूमि के प्रति एक विशेष प्रकार का आकर्षण ही हो कि मैं स्वयं इस भूमि पर जीवन के उच्च प्राप्यों को उपस्थित करने के लिए अवतरित हुआ हूँ। इस भूमि पर सभी रहने वाले, जो मेरा नाम स्मरण करते रहेंगे, वे निश्चय ही अपने भव बंधनों को काटते हुए मुक्ति प्राप्ति करेंगे। उन्हें अपने मार्ग में कोई भी व्यवधान नहीं झेलना पड़ेगा और इससे भी अधिक सत्य तो यह है कि जो व्यक्ति मेरे नाम का स्मरण नहीं बल्कि मेरे गुणों, कर्मों और स्वभाव का अनुकरण करेंगे वे अपना उद्धार तो करेंगे ही, अपने साथ-साथ अन्य व्यक्तियों को भी इस भवसागर से पार उतार देंगे।

विशेष—भगवान राम का लोकरक्षक-स्वरूप प्रकट हुआ ही है, साथ-ही-साथ उन्हें इन पंक्तियों में सिद्धांतवादी से अधिक व्यवहारवादी प्रदर्शित किया गया है।

माखनलाल चतुर्वेदी

कलरव, बरसात, हवा ठण्डी
मीठे दाने, खारे मोती
सब कुछ ले, लौटाया न कभी
घर वाला सहज लुटेरा है।
हो मुकुट हिमालय पहनाता

सागर जिसके पद धुलवाता
यह बँधा बेड़ियों में मंदिर
मसजिद गुरुद्वारा मेरा है।
क्या कहा कि यह घर मेरा है? (पृष्ठ ३९)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री माखनलाल चतुर्वेदी कृत कविता 'घर मेरा है' से उद्धृत की गई हैं। यह कविता वस्तुत: स्वातन्त्र्य पूर्व काल में लिखी गई थी और राष्ट्रीय गीतों के कवि श्री चतुर्वेदी ने इसमें परतन्त्र भारत में रहने वाले एक राष्ट्र प्रेमी व्यक्ति की भावनाओं का प्रकाशन किया है। व्यक्ति मूल रूप में यह अनुभव करता है कि वह अपने घर में रहते हुए भी उस पर कोई अधिकार नहीं रखता।

व्याख्या—मेरा इस घर पर कोई अधिकार नहीं है। जो घर का स्वामी है वह मेरे ही सामने इस घर की वस्तुओं को लूट रहा है। यहाँ की प्राकृतिक ऊष्मा, प्राकृतिक देन, अन्न आदि को अपने अधिकार में कर लेता है और बदले कुछ नहीं देता। फलत: इस घर के रहने वाले अपने घर की वस्तुओं पर भी कोई अधिकार नहीं रखते। यह घर है भारतवर्ष। हिमालय इस घर का मुकुट है, उसके चरणों में सागर बहता हुआ मानो इसके पैरों को धोता है। किन्तु इतनी गौरवमयी स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् भी यहाँ के मन्दिर, मसजिद और गुरुद्वारे बंधनों की बेड़ियों मे जकड़े हुए हैं। यह सब देखते हुए भला मैं यह किस गर्व से कह दूँ कि यहाँ मेरा अपना घर है, अर्थात् मेरा अपना देश है।

तीन ओर सागर तेरा है, लहरें दौड़ी आतीं
चरण, भुजा, कबिबध देश तक वे अभिषेक सजातीं।
क्या लहरों से खेल रहे वे हैं जलयान तुम्हारे
नहीं? अरे तो हटे न अब तक लहरों के हत्यारे?
वह छूटी बन्दूक, गोलियाँ क्या उधार हैं आईं
तो हमने किसकी करुणा से यह आजादी पाई?
उठ पूरब के प्रहरी, पश्चिम जाँच रहा घर तेरा
साबित कर तेरे घर पहले होता विश्व-सबेरा।

तुझ पर पड़ जो किरणें जूठी हो जातीं, जग पाता
जीने के ये मन्त्र सूर्य से सीखो भाग्य-विधाता। (पृष्ठ ४४)

प्रसंग—उपर्युक्त पद्यांश श्री माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा लिखित कविता 'मुक्त गगन है, मुक्त पवन है' से चुनी गई है। प्रसंग इस प्रकार है कि कवि सोते हुए भारतवर्ष को (यूं भी कह लीजिये कि परतन्त्र भारतवर्ष के निवासियों को) उद्‌बोधन देते हुए जगाना चाहता है और उसे यह बता देना चाहता है कि उसमें अभी भी शक्ति है और अपनी दासता के बंधन काटने के लिए अनेक अवसर हैं।

व्याख्या—तेरे तीन ओर विशाल सागर फैला हुआ है जिसकी उद्दाम लहरें बार-बार बड़े वेग से आकर तेरे तटों का स्पर्श करती हैं। तेरे चरणों में हिन्द महासागर पड़ा हुआ है, भुजा के पास अरब सागर हिल्लोलित हो रहा है और कटि-प्रदेश में बंगाल की खाड़ी की लहरें आ-आकर टकराती हैं। किन्तु क्या इन लहरों पर जो जलयान दौड़ते हुये दिखाई देते हैं वे भी तेरे ही हैं? यदि नहीं, तो यह स्पष्ट है कि तुझे दुश्मनों के देशों का सामना करना पड़ेगा। उनके आक्रमणों की ओर से तुझे सावधान रहना पड़ेगा। यह जो बन्दूकों की आवाज कानों में आकर सुनाई पड़ती हैं क्या उनसे छूटी हुई गोलियों का निर्माण तेरे ही देश में हुआ है? यदि इसका उत्तर है नहीं, तो यह भी स्पष्ट है कि हम मात्र करुणा के भावों से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकते। तेरे देश को पूर्व का सिरमौर कहा जाता है। पूर्व की तू रखवाली करता है। अतः जिस प्रकार रखवाले के लिये जागते रहना आवश्यक है उसी प्रकार तू भी जाग। देख, पश्चिम देश (अर्थात् इंग्लैण्ड) तेरे घर पर अपनी आँख लगाए बैठा है। उससे सावधान रहना आवश्यक है। इस प्रकार यह प्रमाणित कर दे कि तू सावधान है। सबसे पहले तू ही जागता है (अर्थात् सूर्य की किरणें सबसे पहले तेरे ही देश को जगाती हैं)। बाकी विश्व के देश तेरे जगने के बाद ही जगते हैं। सूर्य की किरणों का सर्वप्रथम स्पर्श तेरा ही देश करता है, बाद मे अन्य देश करते हैं। इस प्रकार अपने सामने सूर्य का आदर्श समुपस्थित कर तू सदैव सावधान बना रह।

श्री रामनरेश त्रिपाठी

सद्गुण, साहस, सत्य, शूरता, लोकोत्तर उत्तमता।
पौरुष, प्रतिभा, प्रीति, प्राण, प्रभुता, पर-पालन क्षमता॥
क्षमा, शांति, करुणा, उदारता, श्रद्धा, भक्ति, विनयता।
सज्जनता, शुचिता, ननस्विता, मेधा, मन-निर्भयता॥
यह संपत्ति धरोहर प्रभु की तुम्हें मिली धरने को।
अवसर पर प्रस्तुत रख जग-हित में वितरण करने को॥
सो तुम सकल चुराकर जग से भाग बसे विर्जन में।
प्रभु से यह विश्वासघात करते न डरे तुम मन में॥

(पृष्ठ ५२)

प्रसंग—व्यक्ति, समाज और देश के संदर्भ में कवि श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी कविता 'उद्बोधन में यह सिद्ध किया है कि व्यक्ति मात्र व्यक्ति नहीं है। समाज, भूमि और देश के सम्बन्ध में उसके कुछ कर्तव्य भी हैं जिन्हें उसे पूरा करना चाहिए। इस कविता में कवि ने ऐसे कर्तव्यों से च्युत व्यक्ति को सावधान करने का प्रयत्न किया है।

व्याख्या—हे मनुष्य ! तुम्हें नैसर्गिक रूप में अच्छे गुण, साहस, सत्यप्रियता, वीरता, श्रेष्ठत्व, पुरुषार्थ, प्रतिभा, प्रीति, दृढ़ता, दूसरों का पालन करना, क्षमा-शांति, दया, उदारता, श्रद्धा, आस्तिकता, विनय, सज्जनता, पवित्रता, बुद्धि और अभय आदि गुण प्रभु की ओर से धरोहर के समान प्राप्त हुए हैं। इनका तुम्हें पालन करना था। जग में आवश्यकता पड़ने पर तुमसे यह अपेक्षा थी कि तुम इन गुणों को चारों ओर विकीर्ण करते। किन्तु हुआ यह कि तुम व्यवहार के यथार्थ जगत् से डर कर भाग गए और इन गुणों का उपयोग नहीं किया। भला इस प्रकार प्रभु की धरोहर अपने ही पास रखकर, जग से चुराकर क्या तुमने विश्वासघात नहीं किया है ? और इस प्रकार का निन्दनीय काम करते समय क्या तुम्हें तनिक भी भय अनुभव नहीं हुआ ?

श्री जयशंकर प्रसाद

चिंता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की उस सुख की

उतनी ही अनंत में बनती
जातीं रेखाएं दुख की
आह सर्ग के अग्रदूत ! तुम
असफल हुए, विलीन हुए,
भक्षक या रक्षक, जो समझो
केवल अपने मीन हुए। (पृष्ट ५८-५९)

प्रसंग :—प्रस्तुत पंक्तियां 'मध्यमा काव्य-संग्रह' में संग्रहीत श्री जयशंकर प्रसाद की कविता 'चिन्ता' से उद्धृत की गई हैं। अपने मूल रूप में ये पंक्तियां 'कामायनी'—महाकाव्य के प्रथम सर्ग 'चिंता' सर्ग की हैं। सृष्टि-विप्लव के पश्चात् मनु अपनी वर्तमान परिस्थितियों से अत्यंत खिन्न हैं और बार-बार अतीत का परिदृश्य उनकी आंखों के सामने घूम जाता है, किंतु अतीत की चिंता भी उनके मानसिक दु:ख का कारण बनती जाती है।

व्याख्या :—मैं अपने जीवन के पिछले दिनों का और उन दिनों में भोगे हुए सुखों का जितना ही स्मरण करता हूँ उतना ही मेरे मानस में दु:ख-जाल फैलता हुआ चला जाता है। अतीत का भुक्त सुख भी अब मेरे दु:ख का कारण बन गया है क्योंकि वह सुख अब मुझे प्राप्त नहीं है। इस वर्तमान परिस्थिति में मैं अकेला ही हूँ और मुझे ही नवीन सृष्टि का निर्माण करना है। इस प्रकार मैं इस स्वर्ग का अग्रदूत हूँ किन्तु मैं देख रहा हूँ कि मैं अपने अतीत जीवन में कितना असफल रहा हूँ। वस्तुत: मेरा अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। मैं देव-सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति अपने ही दोषों के कारण अपने नाश का कारण बना। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर अपनी ही जाति का विनाश करती है उसी प्रकार हम देवों के पाप ही हमारे विनाश के कारण बने।

विशेष :—'केवल अपने मीन हुए' में लोकोक्ति है।

सुख केवल सुख का वह संग्रह
केंद्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव-सुषार का
सघन मिलन होता जितना।

सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के
बल, वैभव, आनन्द अपार,
उद्वेलित लहरों सा होता, उस
समृद्धि का सुख संचार (पृष्ठ ६०)

प्रसंगः—संदर्भ पूर्वोक्त। मनु अपने अतीत जीवन का स्मरण करते हैं और उस समय के सुखों के छायाचित्र उनकी आँखों के सामने बार-बार घूम जाते हैं।

व्याख्या—उस देवसृष्टि में, जिसका मैं भी एक सदस्य था, सुखों की प्राप्ति बहुत ही सहज थी। सदैव और सर्वत्र प्राप्य सुखों की गणना क्या, उनका संग्रह इतना सघन बन गया था जितना कि आकाश में दीखने वाले छायापथ में तुषार का होता है। उस सुखमय जीवन में विश्व की अनेक वस्तुएँ सहज-प्रप्य थीं। बल, वैभव, आनन्द आदि पर देवसृष्टि का अपना और अन्तिम अधिकार था। सुखों की यह समृद्धि सदैव इस प्रकार हिल्लोलित होती रहती थी जिस प्रकार समुद्र में उसकी लहरें ठाठें मारती रहती हैं।

विशेषः—अनुप्रास, उपमा और स्मरण अलंकार हैं।

घने प्रेम-तरु तले,
बैठ छांह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा सरिता कूल
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले।
फूस चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव,
कहाँ जा रहे चले।
पी लो छवि-रस माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु भर यह माया का खेल,
मिलो स्नेह से गले।
घने प्रेम-तरु-तले। (पृष्ठ ६१)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित 'गीत' शीर्षक कविता से उद्धृत की गई है। भावार्थ से स्पष्ट है कि यह गीत किसी नायिका

द्वारा गाया गया है, जिसमें वह अपने प्रेमी को प्रणय का आमन्त्रण दे रही है। यही इस गीत का समुचित प्रसंग कहा जा सकता है।

व्याख्या—हे प्रिय ! तुम सांसारिक क्लेशों से पीड़ित हो और मानसिक रूप से खिन्न हो। आओ, मेरे प्रम की घनी छाया में बैठकर अपनी तपन से उसी प्रकार मुक्त हो लो जिस प्रकार कोई धूप से तापित व्यक्ति सघन वृक्ष की घनी और ठंडी छाया में सन्तोष प्राप्त करता है। मेरे इस प्रेम में तुम्हें विश्वास मिलेगा। मेरी प्रेम रूपी छाया श्रृंगार रूपी सरिता के तट पर फैली हुई है जो इस संयोग से अधिक शीतल बन गई है। इस छाया के नीचे जो धूल है वह धूल नहीं बल्कि पराग हैं, जिसे मेरे हृदय की प्रेम-वेदना ने अपने आँसुओं से अभिसिंचित किया है। मेरे और तुम्हारे अतिरिक्त और कोई तीसरा व्यक्ति यहाँ नहीं है जो तुम्हें छल सके। भाव यह कि मेरे प्रेम में तुम्हें विश्वास, श्रद्धा और असीम वेदना का सच्चा संयोग मिलेगा, जिसमें कोई भी छल नहीं है। मेरी बातें फूल के समान सुकुमार और कोमल होंगी जिनसे तुम्हारे हृदय का घाव भर सकेगा। आओ ! मेरे मन की असीम प्रणय-वेदना की पुकार सुन लो। तुम उधर कहाँ चले जा रहे हो ? मेरे रूप के अमित सौन्दर्य की छवि की माधुरी का रस-पान कर लो। अपने शुष्क जीवन की बेल को हरा-भरा कर लो। इस प्रकार मेरे प्रेम की सघन विश्वासमयी छाया में यह प्रणय का खेल खेलते हुए जीवन के सुखमय मार्ग पर चलो।

तुम ! अरे, वही हाँ तुम हो
मेरी चिर-जीवन-संगिनि
दुख वाले दग्ध हृदय की
वेदने ! अश्रुमयि रंगिनि !
जब तुम्हें भूल जाता हूँ
कुड़मल किसलय के छल में
तब कूक हूक सी बन तुम
आ जाती रंगस्थल में। (पृष्ठ ६२)

प्रसंग—प्रस्तुत दो छन्द कवि श्री जयसंकर प्रसाद रचित 'आँसू' से उद्धृत किए गए हैं। कवि इस कविता में अपनी प्रेयसी के वियोग के क्षणों में स्मरण

करता है और उसे अन्वेषित करने के प्रयास में संलग्न है। उसका इस स्थल पर कथन इस प्रकार है—

व्याख्या—मैं समझ गया हूँ कि तुम मेरी वही चिर-संगिनी, मेरे जीवन में मेरा सदैव साथ निभाने वाली, दुःख की ज्वाला से परितापित मेरे हृदय की अमर वेदना हो। तुम्हारा स्वरूप सदैव मेरे सम्बन्ध में अश्रुमय रहा है। कवि का मूल भाव यह है कि उसके हृदय की वेदना ही सदैव उसका साथ निभाती है। उसी के प्रभाव से वह अपने प्रिय-चिंतन में रत रहता है। दूसरे छन्द में कवि कहता है कि जब भी कभी मैं विभिन्न प्रकार के सुखों की भावना के भुलावे में आकर तुम्हें भूल जाने का प्रयत्न करता हूँ तो यह वेदना ही मेरे हृदय में अवतरित हो जाती है और एक टीस-सी उठने लगती है।

विशेष—(१) अन्तिम छन्द में प्रतीकों का आश्रय लिया गया है और मूल भाव की व्यंजना की गई है। उदाहरणार्थ 'कुड़मल किसलय'—अर्थात् कलियाँ व कोमल पत्ते सुख के प्रतीक हैं, 'रंगस्थल' हृदय का प्रतीक है। (२) प्रथम छन्द में रूपक और मानवीकरण अलंकार है तथा दूसरे छन्द में उपमा और अपह्नुति।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

नर जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-संचित सब फल।

जीवन के रथ पर चढ़ कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के भी खर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;

जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रु-जल-धौत विमल,
कल से पाकर बल बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल। (पृष्ठ ६६)

प्रसंग—प्रस्तुत प्रार्थनापरक काव्य-पंक्तियाँ श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'-कृत 'मातृ-वंदना' शीर्षक कविता से उद्धृत की गई हैं। कवि काली माँ से अपने जीवन के लिए कुछ वरदान माँगता हुआ कह रहा है—

व्याख्या—हे माँ! तेरे चरणों पर इस मनुष्य-जीवन के सभी स्वार्थ न्योछावर हो जाएँ। मैं तेरे चरणों पर अपने इस जीवन के श्रम से प्राप्त किए गए सभी फलों को बलि चढ़ा दूँ। मुझे तू इतनी शक्ति प्रदान कर, इतनी दृढ़ता दे कि मैं जीवन-रूपी रथ पर चढ़ता हुआ, अपने निश्चित काल की सभी बाधाओं को सहता हुआ आगे बढ़ सकूँ। जिस प्रकार एक योद्धा रण-क्षेत्र में उद्यत होकर उतरता है और मृत्यु का आलिंगन करता हुआ अपने कर्त्तव्य को पूरी शक्ति से पूर्ण करता है, उसी प्रकार मैं भी उसी शक्ति से अपने जीवन-क्षेत्र में सभी बाधाओं को सहता हुआ उतर सकूँ। मेरी यह भी इच्छा है कि अपने कर्त्तव्य-कर्म में रहते हुए भी मेरे हृदय में सदैव तेरी स्वच्छ व सुन्दर मूर्ति साकार-रूप में उपस्थित रहे। यहाँ मूल भाव यह है कि जिस प्रकार मन्दिर में आराध्य की मूर्ति शुद्ध जल से स्वच्छ करके स्थापित की जाती है उसी प्रकार मेरे हृदय में देवी की मूर्ति भक्ति-भावना से उमड़े हुए आँसुओं द्वारा स्वच्छ होकर समुपस्थित रहे। कवि अन्त में एक बार फिर अपनी यह कामना प्रकट करता है मैं देवी के चरणों पर अपनी पूरी शक्ति से अपने जन्म भर के श्रम से प्राप्त किए गए एकत्रित सब फलों को बलि चढ़ाता हूँ।

विशेष—(१) निराला के प्रस्तुत गीत में बंगाली संस्कार और रामकृष्ण मिशन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, जिनमें काली पूजा का एक विशेष महत्त्व है। (२) रूपक अलंकार है।

> उमड़ सृष्टि के अंतहीन अंबर से
> घर से क्रीड़ा-रत बालक से,
> ऐ अनंत के चंचल शिशु सुकुमार!
> स्तब्ध गगन की करते हो तुम पार।
> अन्धकार—घन अंधकार ही
> क्रीड़ा का आगार।
> चौंक चमक छिप जाती विद्युत्

तड़ित-दाम अभिराम,
तुम्हारे कुंचित केशों में
अधीर विक्षुब्ध ताल पर
एक इमन का-सा अति मुग्ध विराम। (पृष्ठ ६७)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा रचित कविता 'बादल' से उद्धृत की गई हैं। कवि बादल का अनेक रूपों में वर्णन करता हुआ कहता है—

व्याख्या—हे बादल ! तुम इस विश्व पर छाए अनन्त आकाश से उमड़ पड़ो। तुम इस अन्तहीन छाए हुए आकाश के एक सुकुमार और चंचल शिशु के समान हो। तुम उसी प्रकार आकाश में अपनी चंचल प्रवृत्ति से इधर-उधर विचरण करते फिरते हो जिस प्रकार खेल-कौतुक में संलग्न कोई बालक घर से बाहर इधर-उधर दौड़ता फिरता है। जिस प्रकार एक बालक नितान्त स्तब्ध गृह को भी अपने खेल से गुंजायमान बनाए रखता है और इधर-उधर दौड़ता रहता है उसी प्रकार तुम भी इस स्तब्ध आकाश में इधर-उधर दौड़ लगाते फिरते हो। अन्धकार से युक्त और श्यामवर्ण घन का आकाश में छाया हुआ परिवेश ही तुम्हारा गृह है और इस गृह में तुम नाना क्रीड़ाएं करते हुए घूमते रहते हो। अनेक बार आकाश में छाए हुए श्यामवर्ण घनों में, जिन्हें तुम्हारे घुंघराले बाल कहा जा सकता है, बिजली अकस्मात चमकती और फिर छिप जाती है और इस प्रकार एक सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जाता है। विद्युत् के चमकने का यह क्रम बना ही रहता है जो एक व्यग्र ताल के समान उसी प्रकार प्रकट और विलुप्त होती है जिस प्रकार इमन (एक संगीत-वाद्य-विशेष) को बजाते समय अपूर्व सौंदर्य ताल और विराम का क्रम बंधा रहता है।

विशेष—(१) उपमा और रूपक अलंकार, (२) शिशु और बादल का रूपक बड़ा ही समन्वयकारी बन पड़ा है।

श्री सुमित्रानन्दन पंत

जग के उर्वर आंगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन।

बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन।
बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय घन,
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में
उर अंगों में सुख यौवन।
छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृण्मरण बांध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन। (पृष्ठ ७५)

प्रसंग :—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री सुमित्रानंदन पंत द्वारा लिखित 'प्रार्थना' शीर्षक गीत से उद्धृत की गई हैं। कवि नए जीवन के रूप में नूतनता' नवीन ज्योति आदि का आह्वान करता हुआ कहता है:—

व्याख्या :—इस विश्व के अमुक्त और उर्वर प्रांगण में नवीन ज्योति से परिपूर्ण नव जीवन की सरस धार बरसे। विश्व प्रांगण के वृक्ष और छोटे-से-छोटे तिनके पर नितांत अभिनव यह नवीन जीवन सदैव निरंतर बरसता रहे। यह नव जीवन फूलों में पड़कर उनके भीतर के मधु के रूप में परिणत हो जाए, प्राणों में सदैव स्थित रहने वाली प्रणय की भावना बन जाए, अधरों पर मुसकान के रूप में छा जाए, पलकों के भीतर आंखों में सुखद स्वप्न बन जाए प्रत्येक प्राणी के हृदय में सुख की भावना भर दे और उनके अंगों में नवयौवन से परिपूर्ण शक्ति का उत्साह भर दे। इस जग के जो शुष्क और निष्प्राण रजकण हैं उनका स्पर्श कर यह उन्हें नवीन जीवन प्रदान करें और वृक्षों तथा तृणों में चेतनता का प्रसार कर दें। इस नव-जीवन से विश्व में व्याप्त मरण आदि विनाशकारी तत्त्वों पर एक अंकुश लग जाए। यह नवजीवन ऐसे सभी तत्त्वों को नवीन प्राणों से सचेतन बना दे।

विशेष :—ये पंक्तियाँ अनुप्रास अलंकार का सुन्दर उदाहरण हैं।

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन ।
रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, देश, भाव नव शोभन,
स्नेह, सुहृदता हो मानस धन,
करें मनुज नव जीवन यापन ।
गा, कोकिल संदेश सनातन ।
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन,
वह न देह का नश्वर रज कण ।
देश काल हैं उसे न बंधन,
मानव का परिचय मानवपन ।
कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि क्षण । (पृष्ठ ७६-७७)

प्रसंग:—ये पंक्तियाँ श्री सुमित्रानंदन पंत द्वारा रचित 'गा कोकिल' शीर्षक कविता से चुनी गई हैं । कवि अब नूतनता का अधिक आग्रही हो चला है और वह प्रत्येक सृष्टि-तत्त्व में नूतनता का आभास प्राप्त करना चाहता है । प्रकृति से भी वह इसी प्रकार की कामना करता हुआ कहता है:—

व्याख्या—हे कोकिल ! अब तू पुरातन का, उस अतीत का (जिसमें सब कुछ बीत चुका है) चिंतन मत कर । नव जीवन के उपयुक्त नवीन गानों का सृजन करते हुए अब तू मानव के हित के लिए आवश्यकतानुसार नवीन मन का निर्माण कर । उस मानव की वाणी, देह और भाव आदि सभी नूतन हों जो मुझे एक प्रकार की अनिंद्य शोभा से युक्त कर सकें । इस नवीन मानव के धन अब होंगे स्नेहशीलता और सौहार्द-भावना । इन सभी शोभाकर विशेषताओं से युक्त होकर इस विश्व का मानव अब अपना बिलकुल ही नया जीवन व्यतीत करो ।

कोकिल ! अब तू प्राचीन का मोह छोड़कर इस शाश्वत सत्य और संदेश का प्रचार कर कि मनुष्य मात्र मिट्टी की देह का बना हुआ नश्वर और मर्त्य प्राणी नहीं है बल्कि वह एक ऐसी दिव्य आभा से युक्त चिनगारी है जो सदैव स्थायी रहेगी । भाव यह कि नवीन मानव अमर्त्य है । इस नवीन मानव को

देश और काल के बंधनों में जकड़े नहीं रहना पड़ेगा, वह इनसे ऊपर उठ सकेगा। इस नवीन मानव का परिचय उसके मानवत्व से ही प्रप्त होगा। कोकिल तू इस संदेश को चारों ओर प्रसारित कर दे जिससे कि दिशाएं और समय का प्रत्येक क्षण नवीन रूप में विकसित हो सकें।

विशेष—पंत के काव्य विकास के अनेक चरण हैं। पहला चरण है प्रकृति प्रेम। यह कविता दूसरे चरण में आती है जब कि कवि अपनी कृति 'युगांत' द्वारा एक नवीन मोड़ अपने काव्य में लेकर आए थे। प्राचीन से नवीन की ओर का प्रयाण—यह इस कविता का मूलमंत्र है।

पूस: निशा का प्रथम प्रहर: खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्रवन सोया: क्षणभर
दिन का भ्रम होता: पूनों ने तृण तरुओं पर
चाँदी मढ़ दी है, भू को स्वप्नों से जड़ कर।
चारु चंद्रिकातप से पुलकित निखिल धरातल
चमक रहा है, ज्यों जल में बिंबित जग उज्ज्वल। (पृष्ठ ७७)

प्रसंग—ये पंक्तियाँ श्री सुमित्रानंदन पंत द्वारा लिखित कविता 'खिड़की' से उद्धृत की गई हैं। प्रसंग इस प्रकार है कि कवि अपने कक्ष की खिड़की से बाहर झाँक रहा है और बाहर फैले अनंत प्राकृतिक सौंदर्य का निरीक्षण कर रहा है। कवि कहता है:—

व्याख्या—पूष का महीना है और शीत रात्रि का प्रथम प्रहर है। मैं देख रहा हूँ कि मेरे कक्ष की खिड़की से बाहर अनन्त क्षितिज तक आमों के वृक्षों का वन फैला हुआ है जो रात्रि के इस निस्तब्ध प्रहर में प्रगाढ़ निद्रा में पड़ा हुआ है। अर्थात् वायु स्तब्ध है और इस वन के वृक्षों में बिलकुल भी कंपन नहीं हो रहा है। पूर्णिमा की रात्रि है और चन्द्रमा की चाँदनी प्रत्येक वृक्ष और तृण-तृण पर बिछी हुई है, जिसका अवलोकन करने के पश्चात् क्षणभर के लिए यह भ्रम हो जाता है कि यह रात का समय नहीं है बल्कि दिन का समय है। इस अप्रतिम सौन्दर्य से ऐसा भान होने लगता है कि यह समस्त पृथ्वी अपने किसी स्निग्ध स्वप्न में विचरण कर रही है। शीतल और सुखदायक चाँदनी से पृथ्वी का यह समस्त धरातल अपने अपूर्व रूप में चमक रहा है और उसका प्रत्येक कण-कण

पुलकायमान हो रहा है। इस सौंदर्य को देख कर ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे किसी अथाह जल-समूह में चांदनी से जाज्वल्यमान यह जग अपने प्रतिबिम्ब में भी चमक रहा हो।

विशेष—ये पंक्तियाँ उत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर निदर्शन है।

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर जीवन धर,
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर,
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर।
जलाशयों में कमल-दलों-सा,
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर (पृष्ठ ७९)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ कवि श्री सुमित्रानंदन पंत द्वारा रचित 'बादल' शीर्षक कविता से उद्धृत की गई हैं। अपने मूल रूप में यह कविता पंतजी के काव्य-संग्रह 'पल्लव' में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में बादल स्वयं अपना आत्मविश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

व्याख्या—हम बादल इन्द्र की आज्ञा से विचरण करने वाले हैं, अतएव हम उसके अनुचरों का काम करते हैं और इस जगत में प्राणों का संचार करते फिरते हैं। जिस प्रकार वायु जगत के प्राणियों का प्राण है अतः हम उससे विशेष सम्बन्ध रखने के कारण उसके सहचर हैं। हमारे रूप में ही कवि कालिदास को अपनी कल्पना का साकार रूप प्राप्त हुआ था। उन्होंने दूत-कार्य सम्पन्न कराने के लिए हमें ही चुना था और उनकी कल्पना साकार हुई थी। चातक पक्षी भी हमारी ही ओर ताकता रहता है और हमारे ही माध्यम से सका जीवन बना रहता है। हमें देखकर ही मोर अपना अभिराम नृत्य करते

हैं। अतः हम ही उनके नृत्य हैं। हमसे छिटककर यदि को ईबूँद स्वाति में जाकर पड़ जाए तो वह मोती बन जाता है। अतः सीप में निर्मित होने वाले मोती भी हम ही हैं। हमारे ही आगमन से, काल-विशेष के अनुसार पक्षी-गण संतति-प्रजनन का कार्य करते हैं। अतः उन्हें हम ही गर्भाधान प्रदान करते हैं। कृषक की बालिका भी नित्य हमारी ओर इसलिए एकटक देखती रहती है कि हमारे बरसने से उसकी भूमि में अन्न वृद्धि प्राप्त करेगा।

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से जलाशय में उत्पन्न कमल-दल विकसित होते हैं उसी प्रकार सूर्य का प्रकाश हमें भी अपनी ज्योति दृश्यमान बनाता है और हम अपने अभिनव और विकसित स्वरूप को प्राप्त करते हैं, किन्तु जिस प्रकार कोई बालक कमल-दलों को चुनकर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार फिर बिखरा देता है उसी प्रकार वायु भी हमें अपने प्रवेग से इधर-उधर बिखरा देती है।

विशेष—उपमा, कृषक और मानवीकरण अलंकार हैं।

धीरे-धीरे संशय-से उठ
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि भोर,
इंद्र चाप-सी व्योम भृकुटि पर
लटक मौन चिंता से घोर,
घोष भरे विप्लव-मय-से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर। (पृष्ठ ८१)

प्रसंग—उपर्युक्त। बादल अपने सम्बन्ध में स्वयं ही विज्ञप्ति कर रहे हैं—

व्याख्या—हम आकाश में धीरे-धीरे इस प्रकार उठते हैं जिस प्रकार किसी व्यक्ति के हृदय में संशय की भावना घर करती जाती है और उसी प्रकार हम बड़ी ही द्रुतगति से बढ़ते जाते हैं जिस प्रकार किसी व्यक्ति का अपयश तुरन्त ही फैल जाता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के हृदय में मोह की भावना उमड़ती है उसी प्रकार हम आकाश के हृदय में उमड़ने लगते हैं और जैसे कोई व्यक्ति लालसा के वशीभूत होकर रात-दिन उसी में मग्न रहता है वैसे ही हम भी आकाश में अहर्निश फैलते जाते हैं।

आकाश में जब इन्द्रधनुष उदित होता है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह उसकी भृकुटि है। इन्द्रधनुष के रूप में आकाश की इस भृकुटि पर हम मौन लटक जाते हैं और ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे हम किसी गहरी चिन्ता में पड़े हुए हैं। उसके बाद जब आकाश में बड़े ही घोर स्वरों में विप्लव का-सा गर्जन होता है तो हम शीघ्र ही उससे भय खाकर इधर-उधर बिखर जाते हैं।

विशेष—(१) मानवीकरण, उपमा और रूपक अलंकार है। (२) क्रोध भय, वासना, हर्ष आदि भावों का प्रयोग काव्य में सादृश्य-विधान के लिए प्रायः किया जाता है। इन पंक्तियों में यह सुन्दर उदाहरण देखा जा सका है। ये पंक्तियाँ भावात्मक बिंब का अच्छा उदाहरण हैं।

कभी हवा में महल बना कर
सेतु बांध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव-भूति ही से निस्सार।
नग्न गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का-सा जाल
अंबर के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हम तत्काल। (पृष्ठ ८२)

प्रसंग—उपर्युक्त।

व्याख्या—कभी-कभी हम बादल आकाश में नाना रूप धारण करते हैं और कभी अपना ही स्वरूप विनष्ट कर लीन हो जाते हैं। कभी तो हम आकाश में एकत्रित होकर महल का आकार खड़ा कर देते हैं और कभी पंक्तिबद्ध होकर सेतु का-सा रूप धारण कर लेते हैं और कभी हम ऐसे विलीन हो जाते हैं कि हमारा कोई भी चिह्न शेष नहीं रह जाता।

जिस प्रकार मकड़ी वृक्षों की नग्न शाखाओं के आश्रय से अधर में ही अपना जाला बना कर फैला देती है उसी प्रकार हम भी शून्य आकाश में एकत्रित होकर अपना जाल फैला देते हैं। अपने उस फैलाए हुए जाल में कभी-कभी हम अत्यन्त शीघ्रता से आकाश में उड़ते हुए पक्षी को उलझा लेते हैं।

विशेष—उपमा और मानवीकरण अलंकार है।

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

आज न उडु के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेली में न चंदकिरणों से चित्र बनाऊँगी।
अधरों में मुसकान, न लाली बन कपोल में छाऊंगी,
कवि ! किस्मत पर भी न तुम्हारी आंसू आज बहाऊँगी।
नालंदा-वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार,
धूसर भुवन स्वर्ग-ग्रामों में कर पाई न विहार।
आज यह राज-वाटिका छोड़, चलो कवि ! बन फूलों की ओर।

(पृष्ठ ८५)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' द्वारा रचित 'कविता की पुकार' शीर्षक कविता से उद्धृत की गई हैं। कविता अपने कवि से यह कहती है कि वह उसको अब पुराने परम्परागत विषयों के मार्ग से मोड़कर उ[illegible] क्षेत्र में ले चले जहाँ किसी भी कवि की वाणी अभी तक नहीं गूँजी है।

व्याख्या—कविता कवि से कहती है कि मैं आज तारों से चमचमाते हुए नीले आकाश में मानव का स्वप्न खोजने का प्रयास नहीं करूँगी और न ही चमेली-वन में चन्द्रमा की चाँदनी की किरणों से बने चित्र की ही व्या[illegible] करूँगी। आज मैं किसी के होठों पर छाई हुई मुसकान का वर्णन नहीं करूँ[illegible] और न ही किसी मुग्धा बाला के कपोलों की लालिमा को स्पष्ट करूँगी। [illegible] कवि ! तुम सुन लो ! तुमने भी अपनी आत्माभिव्यक्ति का मुझे अनेक बार साधन बनाया है और अपने जीवन-भाग्य की व्यंजना मेरे द्वारा की है। आज मैं उस काम भी नहीं आऊँगी। कवि ! तुमने ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय लेकर मेरी पंक्तियों के माध्यम से भारत के स्वर्णिम अतीत का, नालंदा-वैशाली की समृद्धि का वर्णन किया है और पाठक को अनेक बार रुलाया है, किन्तु आज मैं तुम्हें यह नहीं करने दूँगी। मेरी बात सुनो ! मैंने अभी तक भी धूलि-धूसरित विश्व का दर्शन नहीं किया है और न ही गाँवों में ही घूमकर देखा है। अतः मेरी प्रार्थना है कि तुम मुझे अपने साथ लेकर कृत्रिमता से यथार्थ की ओर चल पड़ो और वहाँ का वर्णन करो। आज आवश्यकता किसी राज-वाटिका में सजाए गये फूलों के सौंदर्य के वर्णन की नहीं है। आवश्यकता है कि तुम जंगल

में नैसर्गिक रूप में उत्पन्न फूलों की शोभा का वर्णन करो।

चलो जहाँ निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं,
मलयानिल भूलता, भूल कर जिधर नहीं अलि जाते हैं।
कितने दीप बुझे झाड़ी-झुरमुट में ज्योति पसार ?
चलो शून्य में सुरभि छोड़कर कितने कुसुम-कुमार ?
कब्र पर मैं कवि ! रोऊँगी, अश्रु-आरती सँजोऊँगी। (पृष्ठ ८५)

प्रसंग—उपर्युक्त।

व्याख्या—कवि ! आज तुम उपवनों का वर्णन करना छोड़कर उस वन्य-प्रदेश की ओर चलो जहाँ कोई भी नहीं जाता और जहाँ जंगली फूल मुसकाते हैं। उस प्रदेश में मलय पवन भूलकर भी नहीं बहता और वहाँ के फूलों पर मंडराने के लिए भौंरे कभी भी आकर्षित नहीं होते। उन सूखी झाड़ियों में न जाने कितने जुगनू अपनी ज्योति का प्रसार कर निस्शेष हो गए हैं और न जाने कितने नवीन कोमल कुसुम अपनी सुगन्ध को फैलाकर मुरझा गए हैं। कवि ! मैं उनकी कब्र पर आज अपनी वेदना प्रकट करने जाऊँगी। वहाँ मैं अपने आँसुओं को बिखराकर उनकी आरती उतारूँगी।

ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलाएगी,
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पाएगी।

× × ×

इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार,
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।
फटेगा भू का हृदय कठोर, चलो कवि ! बनफूलों की ओर।
(पृष्ठ ८७)

प्रसंग—उपर्युक्त। कृषकों के दलित जीवन की ओर कवि का ध्यान आकर्षित करती हुई कविता कवि से कहती है कि वह इस पक्ष का भी चित्रण करे।

व्याख्या—अपना ऋण चुकाने के लिए ये कृषक प्राप्त दूध-घी की एक बूँद तक बेच देने के लिए बाध्य हो जाते हैं और अपने लिए उनका थोड़ा-सा भी

अंश नहीं बचा पाते। दूध को देख-देख कर इन कृषकों के छोटे-छोटे शिशु मचलते रह जाते हैं। उनके लिए दूध नहीं बच पाता और उनकी माताएँ उन्हें अन्य प्रकार के प्रलोभन दे-देकर बहलाती हैं। इस प्रकार के अछूते अंशों का संकेत देकर मैं तुम्हारे हृदय में एक पीड़ा का निर्माण करूँगी और उन पर कविता रचने की प्रेरणा दूँगी। समाज का यह उपेक्षित, दलित और शोषित पक्ष देखकर तुम्हारी आँखों में लज्जा के मारे आँसू तक नहीं आ पाएँगे। तुम मन-ही-मन में घुटकर रह जाओगे। इतने पर भी धनवान व्यक्तियों का उन लोगों पर अत्याचर बढ़ता जाता है। उस अत्याचार को देखकर मैं चुप नहीं रहूँगी। मैं उन बेबस व्यक्तियों के आँसुओं के रूप में फूट पड़ूँगी। इसे देखकर पृथ्वी का कठोर हृदय भी फट जाएगा। अतः हे कवि ? अब तुम ऐसे पक्ष का वर्णन भी अपनी कविता में करो।

विशेष—परम्परागत काव्य-विषयों की ओर से नवीन अछूते विषयों का संकेत कर कवि ने प्रगतिवाद में अपना विश्वास प्रकट किया है।

लेकिन होता भूडोल, बवंडर उठते हैं,
जनता जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है,
दो राह, समय के रथ का घर्घर नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
हुंकारों से महलों की नींव उखड़ जाती,
सांसों के बल से ताज हवा में उड़ता हैं,
जनता की रोके राह, समय में ताब कहाँ ?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता हैं। (पृष्ठ ८८)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' कृत कविता 'जनतंत्र का जन्म' से उद्धृत की गई हैं। शताब्दिओं बाद भारतवर्ष की स्वतन्त्रता और जनतन्त्र की स्थापना के सम्बन्ध में कवि अपने विचार व्यक्त करता हुआ कह रहा है—

व्याख्या—जब किसी देश की जनता क्रोध में आकर अपनी भृकुटि वक्र करती है तो पृथ्वी डोल उठती है और चारों ओर परिवर्तन का बवंडर उठने लगता है। उस समय काल में भी इतना साहस नहीं होता कि वह जनता को

उसके मार्ग में कोई बाधा पहुँचा सके। जनता स्वयं जिधर की ओर प्रयाण करना चाहती है काल भी उसी ओर को मुड़ जाता है और जनता का साथ देने लगता है। केवल जनता की एक ही पुकार सर्वत्र गूंजती सुनाई देती है कि हमें अब आगे बढ़ने दो यह समय की आवश्यकता है। अब तक जो लोग सिंहासनपर वंशानुक्रम से अधिकार जमाये बैठे हैं वे उसे खाली कर दें और जनता के हाथों में समस्त अधिकार सौंप दें। जब जनता चेतन होकर हुंकार भरती है तो बड़ी बड़ी अट्टालिकाएं भी अपनी नींवों सहित उखड़कर गिर जाती हैं और जब जनता उच्छ्वास छोड़ती है, तो एकतन्त्र लड़खड़ा उठता है और विलुप्त हो जाता है।

श्रीमती महादेवी वर्मा

क्या पूजा क्या अर्चन रे !

उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहती नित प्रिय का अभिनन्दन रे।
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे।
मेरे दृग- के तारक में नव उत्पन्न का उन्मीलन रे।
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे। (पृष्ठ ६६)

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य महादेवी वर्मा द्वारा रचा गया है। कवयित्री प्रेमी को अपने आराध्य के रूप में स्वीकार करती हुई और अपने संपूर्ण जीवन और शरीर को एक आराधिका के रूप में लेती हुई कहती है:—

व्याख्या—पूजा, अर्चन आदि का पृथक् से क्या महत्व है जबकि मैं यह जानती हूं कि उस प्रेमी का मन्दिर मेरे हृदय में अवस्थित है—अर्थात् मेरा प्रेमी मेरे हृदय में ही अवस्थित है और मैं उसकी अर्चना करती रहती हूं। इसे स्पष्ट करती हुई कवयित्री कहती है कि मेरे शरीर में जो सांसें नित-प्रति उठती-गिरती रहती हैं वे मानों अपनी ही छवि में मेरे प्रिय का अभिनन्दन-वाचन करती रहती हैं और उसके चरणों की धूलि को धोने के लिए मेरी आँखों में

वियोग का अश्रु-जल उमड़ता रहता है। मेरे शरीर के नित-प्रति पुलकित रहने वाले रोम-रोम उस प्रिय की पूजा के लिए अक्षत हैं और मेरे मन में बसी वियोग की पीड़ा ही प्रिय के लिए चदन का शृंगार है। मेरे मन में उसके लिए जो सदैव स्नेह बना रहता है—वह मन ही उस प्रिय की अर्चना के लिए दीपक है और स्नेह ही तेल है जो उसे जलाए रखता है। मेरी आँखों में जो बिन्दु हैं वे ही प्रिय के लिए नवीन पुष्प है। मेरे मन में जो निरंतर स्पंदन होता रहता है वह ही उस प्रिय आराध्य की अर्चना के लिए धूप का धूम्र है। आराध्य की आराधना करते समय जो संगीत-वादन किया जाता है उसका कार्य मेरे होंठ और पलकें करती हैं। अधर बार-बार प्रिय जपते हुए मानों आपस में टकरा-कर ताल देते हैं और पलकें बार-बार उठती-गिरती हुई मानों प्रिय की मूर्ति के सम्मुख नृत्य करती हैं।

विशेष—(१) यहाँ कवयित्री का प्रिय अलौकिक रूप में उपस्थित हुआ है। (२) रूपक अलंकार विशेष है।

श्री श्यामनारायण पांडेय

ऐ मेरे चित्तौड़ देश, बिखरे
प्रश्नों की कर दे हल.
साहस भर दे हृदय-हृदय में.
बाहु-बाहु में भर दे बल।
वीर रक्त से तू पवित्र है
तू मेरे बल का साधन
बोल-बोल तू एक बार फिर
कब देगा राणा-सा धन? (पृष्ठ १०७-१०८)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री श्यामनारायण पांडेय द्वारा लिखित कविता 'चित्तौड़' से उद्धृत की गई है। कवि उसी चित्तौड़ का बार-बार स्मरण करता है जिसकी भूमि के कण-कण में वीर राणा प्रताप की अदम्य वीरता का चिन्ह मुद्रित है। वर्तमान परिस्थितियों में कवि एक बार फिर यह कामना करता है कि फिर राणा प्रताप जन्म लें और अपनी वीरता को प्रसारित कर दें।

व्याख्या—ऐ चित्तौड़! आज की परिस्थितियों में तू एक बार फिर जाग

और विषय प्रश्नों का समाधान कर दे। आज आवश्यकता है कि तू एक बार फिर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में साहस की अपूर्व भावना भर दे और प्रत्येक व्यक्ति की भुजाओं में अपार बल का संचार कर दे। तेरी भूमि वीर व्यक्तियों के रक्त से अभिसिंचित होकर पवित्र बन चुकी है। तू ही मेरे समस्त बल का प्रेरक है। बता अब तू कब एक बार फिर राणा प्रताप जैसा वीर पुरुष इस भारत में प्रादुर्भूत करेगा ?

मुझे न जाना गंगा सागर
मुझे न रामेश्वर, काशी,
तीर्थराज चित्तौड़ देखने को
मेरी आँखें प्यासी।
अपने अचल स्वतन्त्र दुर्ग पर
सुनकर बैरी की बोली,
निकल पड़ी लेकर तलवारें
जहाँ जवानों की टोली। (पृष्ठ १०९)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री श्यामनारायण पांडेय कृत कविता 'पुजारी' से चुनी गई हैं। कवि वीर पुरुषों से पूछता है क्या तुम आराधना की पूरी सामग्री लेकर किसी तीर्थ-स्थान को जा रहे हो ? प्रत्युत्तर में एक वीर इस प्रकार उत्तर देता है—

व्याख्या—नहीं ! न मुझे गंगा सागर जाना है और न ही रामेश्वर और काशी जैसे पवित्र तीर्थ-स्थलों के दर्शन करने हैं। मेरी आँखें तो केवल इसलिए पिपासु हैं कि मैं इन सब तीर्थों से श्रेष्ठ, वीर पुरुषों के तीर्थ-स्थान चित्तौड़ का दर्शन कर सकूँ। सुना है कि उस अजेय चित्तौड़ पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है। इसलिए हम वीर जवानों की टोली अपने हाथों में तलवार लेकर तत्पर होकर निकल पड़ी है।

प्रलय के भय से दिशाएँ त्राहि-त्राहि पुकारती थीं।
इधर ललनाएँ चिता में, मौत को ललकारती थीं।
इस कठिन व्रत-साधना में, लग सकी क्षण की न देरी।
रूप-यौवन की जगह पर राख की थी एक ढेरी।

देवियों के भस्म पर नव सुमन बरसाए सुरों ने।
रख लिया वह दृश्य अपने में सजग जग के डरों ने।
राख को सिर से लगाकर पाप-ताप शमन करो तुम।
देवियाँ इसमें छिपी हैं, वार-बार नमन करो तुम।

(पृष्ठ ११४)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री श्यामनारायण पांडेय लिखित कविता 'जौहर' से उद्धृत की गई हैं। कवि चित्तौड़ के जौहर का वर्णन करता हुआ बताता है—

व्याख्या—जौहर के भयंकर रूप से ऐसा प्रतीत होता था जैसे प्रलय आ गई हो और उसके भय से भीत होकर दिशाएँ त्राहि-त्राहि कर रही हों। वीरांगनाएँ चिता में कूद-कूदकर अपनी मृत्यु का सहर्ष आह्वान कर रही थीं। यद्यपि यह कार्य अत्यन्त कठिन था और एक कठोर व्रत को पूरा करने के समान कठिन था, किन्तु वे ललनाएँ कुछ ही क्षणों में इस कार्य को पूरा कर देती थीं। कुछ ही पहले आँखों के सामने रूप और यौवन से परिपूर्ण शरीर जलने के बाद राख की एक ढेरी के रूप में परिणत हो जाते थे। आकाश में बैठे हुए देवतागण यह देखकर देवियों के शरीर की भस्मों पर फूल बरसाते थे और जिन व्यक्तियों ने अपनी आँखों से यह दृश्य देखा उन्होंने उसे अपने हृदयों पर अंकित कर लिया। हे मनुष्यो ? तुम इस पवित्र राख को अपने सिर से लगा कर अपने पापों का प्रायश्चित कर लो और इस भस्म में जिन पवित्र देवियों का शरीर छिपा हुआ है उसे बार-बार नमस्कार करो।

श्री हरिवंश राय बच्चन

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण।
रात का अन्तिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे,
वक्ष पर युग बाहु बांधे
मैं खड़ा सागर किनारे,
वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता

शून्य में भरता उदधि—
डर की रहस्यमयी पुकारें,
इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में,
है प्रतिच्छादित जहाँ पर
सिंधु का हिल्लोल कंपन। (पृष्ठ ११६)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री हरिवंश राय 'बच्चन' द्वारा लिखित कविता 'लहरों का निमन्त्रण' से उद्धृत की गई हैं। कवि हालावाद और पलायन से मुख मोड़कर अब जगत् के यथार्थ पर विचरण करने लगा है और सागर की लहरों और अपने सम्बन्ध से जगत् की कुछ शाश्वत समस्याओं पर विचार करता है :—

व्याख्या—आज मैं किस प्रकार सागर के किनारे ही खड़ा रह जाऊँ ? भाव यह कि मैं कैसे आज मात्र अपने व्यक्तित्व की ही समस्याओं में बंधकर रह जाऊँ जब कि जगत मुझे अपने पास बुलाने का निमन्त्रण दे रहा है। रात व्यतीत होने वाली है, उसका अंतिम प्रहर चल रहा है। आकाश में टिम-टिमाते हुए तारे दिखाई दे रहे हैं और मैं अपनी दोनों भुजाओं को अपने वक्ष पर सिमेटे हुए सागर के किनारे खड़ा हुआ हूँ। यहाँ भाव यह है कि विश्व में अनेक समस्याओं का जाल फैला हुआ है और मैं एक ओर खड़ा हुआ न जाने क्या सोच रहा हूँ। वायु भी बड़ी तीव्र गति से चल रही है और मेरे केशों को बार-बार हिलाती हुई बह रही है। अर्थात् कई प्रेरक भावनाएँ मेरे मन में उठती हैं और अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती हैं। सागर का शोर बार-बार उठ रहा है और उससे बड़ा ही रहस्यमय शब्द उत्पन्न हो रहा है। इस पुकार की प्रतिध्वनि मेरे हृदय में भी उठ रही है। सिन्धु जैसे बार-बार हिल्लोलित हो रहा है, वैसे ही कम्पन मेरे हृदय में भी बार-बार होता है। भाव यह कि विश्व की पुकार की प्रतिध्वनि मेरे हृदय में भी बार-बार गूंज उठती है और उसकी प्रत्येक हलचल से मेरा हृदय भी उद्वेलित हो उठता है।

विशेष—रात्रि कठिन परिस्थितियों का प्रतीक है और सिन्धु विश्व का। प्रतीकों का यह सामंजस्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कितने पग चल चुका, कहां अटका-ठिटका डेरा डाला
कहना कठिन पार कर आया कितना तम औ, उजियाला।
स्मृतियाँ ही बस शेष, टिकाऊ हो न सके पथ के परिचय
यौवन के सपनों को सत्य से आज पड़ा पाला

प्रसंग—प्रस्तुत चार कविता-पंक्तियाँ श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' द्वारा लिखित कविता 'मैं चलता जा रहा' से उद्धृत की गई हैं। कवि अपने जीवन की नाना कठिनाइयों को पार करता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है। पीछे देखने का उसके पास समय नहीं है। पग-पग पर वह यथार्थ के सम्पर्क में आता हुआ अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है—

व्याख्या—मैं अपने जीवन में कितने पग चल चुका हूँ, कहाँ-कहाँ मुझे बाधाओं का सामना करना पड़ा है और कहाँ-कहाँ मैंने अपने जीवन पथ में विराम किया है, यह कहना कठिन है। मैं यह भी नहीं बतला सकता कि जीवन-पथ पर चलते हुये कब मुझे तम (अर्थात् दुःख) मिला और कब उजियारा (अर्थात् सुख) प्राप्त हुआ। जीवन-पथ में जिनसे भी मेरा परिचय हुआ वे स्थायी रूप में मेरे अपने नहीं बन सके। उनकी केवल स्मृतियाँ ही बस मेरे पास हैं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि मैंने अपने मन में न जाने यौवन के कितने स्वप्न सँजोये थे किन्तु मुझे तो यथार्थ का ही सामना पग-पग पर करने को बाध्य होना पड़ा।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

किसी का सत्य था,
मैंने सँदर्भ में जोड़ दिया।
कोई मधु-कोष काट लाया था,
मैंने उसे निचोड़ लिया।
किसी की उक्ति में गरिमा थी
मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार दिया,
किसी की सँवेना में आग का-सा ताप था
मैंने दूर हटते-हटते उसे धिक्कार दिया।

× × ×

किसी की कली थी
मैंने अनदेखे में बीन ली,
किसी की बात थी
मैंने मुँह से छीन ली।
यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ :
काव्य-तत्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आप मुझे।
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें।
पर प्रतिमा-अरे वह तो
जैसी आपको रुचे आप स्वयं गढ़ें। (पृष्ठ १३२-१३३)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की कविता 'नया कवि आत्म-स्वीकार' से उद्धृत की गई हैं। कवि इन पंक्तियों में बड़ी ही उदारता से यह स्वीकार करने को तत्पर है कि उसका काव्य उसके पूर्व कवियों और अन्य व्यक्तियों की भावनाओं का ही आख्यान है। वह स्वयं तो केवल संग्रहकर्त्ता ही है, जो उन्हें नवीन रूप में अपना नाम देकर प्रस्तुत कर देता है।

व्याख्या—सत्य का अन्वेषण किसी अन्य कवि ने किया था किन्तु मैंने उसे अपनी कविता के सन्दर्भ में प्रयुक्त कर लिया। मधुर भावनाओं और सुन्दर कल्पनाओं का अन्वेषण किसी अन्य कवि ने किया था किन्तु मैंने अपनी संग्रह-वृत्ति के कारण उनके सार को ग्रहण कर लिया और अपनी कविता में प्रस्तुत कर दिया। किसी कवि ने बड़ी ही गरिमामयी उक्ति को अपने चिन्तन के रूप में प्रस्तुत किया था किन्तु मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार-सुधार कर और थोड़ा नया रूप देकर अपनी कविता में प्रस्तुत कर दिया। किसी कवि की संवेदना में जब मैंने देखा कि उसमें मात्र कामुक भावनाओं का प्रकाशन हुआ है तो मैंने उसे ग्रहण नहीं किया और अपने पास तक नहीं फटकने दिया।... कोई व्यक्ति किसी कली को बड़े प्रयत्न से बीन कर लाया था किन्तु मैंने उसे ले लिया और किसी व्यक्ति ने कोई बात अपने मुँह से कही थी किन्तु मैंने उसका अपनी ओर से उपयोग कर लिया। इस प्रकार दूसरों से ग्रहण करते-करते मैं

कवि बना हूं। मुझे आधुनिक और नया कवि कहा जाता है, किन्तु मैं जानता हूँ कि अपनी काव्य-सामग्री एकत्रित करने के लिए मैं कहाँ-कहाँ नहीं भटका हूँ। जहाँ भी जो संग्रहणीय वस्तु मुझे प्राप्त हुई है उसे मैंने स्वीकार कर लिया है। मैं चाहता हूँ आप मेरी कविता को पढ़कर उसके एक-एक शब्द पर मुझे सराहें किन्तु मूल वस्तु किस' की, आधार किसका है? यह आपकी रुचि पर निर्भर करता है। जैसा आपको रुचे वैसा ही समझ लें।

बालकृष्ण राव

नदी को रास्ता किसने दिखाया ?
सिखाया था उसे किसने
कि अपनी भावना के वेग को
उन्मुक्त बहने दे ?
कि वह अपने लिए
खुद खोज लेगी
सिन्धु की गम्भीरता
स्वच्छंद बहकर ?
इसे हम पूछते आये युगों से,
और सुनते भी युगों से आ रहे उत्तर नदी का
मुझे कोई कभी आया नहीं था राह दिखलाने,
बनाया मार्ग मैंने आप ही अपना। (पृष्ठ १४१-१४२)

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियाँ कवि श्री बालकृष्ण राव कृत कविता 'नदी का रास्ता' से चुनी गई हैं। वस्तुतः प्रस्तुत कविता ने नदी के माध्यम से अपना जीवन-मार्ग बनाने के लिए पाठकों को आत्मनिर्भर बनने का उपदेश दिया है। कवि कहता है:—

व्याख्या—नदी को भला किसने यह बताया है कि वह इस मार्ग पर आगे बढ़े? उसे यह किसने सिखाया है कि वह अपने वेग को उन्मुक्त और स्वतन्त्र होकर बहने दे? उसे यह भी किसी ने नहीं बताया है कि वह स्वयं ही अपने पथ पर बहती हुई स्वतन्त्र रूप से समुद्र का अन्वेषण कर लेगी और अपने गंतव्य को करेगी। हम युग-युगों से यह प्रश्न पूछते आये हैं और हमें यह भी

ज्ञान है कि इस प्रश्न का नदी के पास यह उत्तर है कि मैंने अपना मार्ग स्वयं बनाया है, मुझे कभी भी किसी ने रास्ता नहीं दिखाया। मैं स्वयं ही अपने पथ पर बढ़ती हुई चली गई हूँ। भाव यह कि मैं दूसरों पर आश्रित न रहकर अपने ही विश्वास पर आगे बढ़ सकी हूँ।

विशेष—इन पंक्तियों के माध्यम से कवि ने पाठकों को नदी का रूपक बाँधकर यह बताने का प्रयत्न किया है कि आत्मनिर्भर होकर व्यक्ति अपने प्रयत्नों से ही अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। मात्र दूसरों का आश्रय लेने वाले व्यक्ति जीवन-क्षेत्र में आगे तो बढ़ ही नहीं सकते, असफल भी सिद्ध होते हैं।

व्याख्या के लिये अन्य परीक्षोपयोगी स्थल

(१) द्वि-दण्ड में ही······शान्ति विषाद-मर्दिनी। (पृष्ठ २४)
(२) तत्त्वों का चिंतन करें······कुमति मैं सारी। (पृष्ठ ३२)
(३) सहज सजल सौंदर्य······मनोमिलिन्द। (पृष्ठ ३३)
(४) उठता हो आकाश······नाद के पण्डित। (पृष्ठ ४५)
(५) क्या उनका उपकार······व्याकुल चित्त हो। (पृष्ठ ५१)
(६) आह! विरेगी हृदय······कुछ तेरा काम। (पृष्ठ ५८)
(७) सूनी कुटिया कोने में······विश्व-सदन में। (पृष्ठ ६४)
(८) जो वैदिक ज्ञान······बदलकर प्रियच्छेद। (पृष्ठ ७१)
(९) गा कोकिल बरसा पावक······में तत्क्षण। (पृष्ठ ७६)
(१०) एक शक्ति से कहते······विमूढ़ विभाजित। (पृष्ठ ७९)
(११) बुद्बुद् श्रुति······प्रिय-संदेह ललाम। (पृष्ठ ८०)
(१२) इस जग का सारा ज्ञान······रँग पाते। (पृष्ठ ९१-९२)
(१३) रूपास तेरा धन-कैश पास······विविध लारू। (पृष्ठ ९९)
(१४) अपनी कण-कण में बिखरी···हीरक प्याली में। (पृष्ठ १०४)
(१५) जिस दिन मेरी······सिर टकराएगा। (पृष्ठ १३०)
(१६) जल उठी सारी निशा···जाना चाहता था। (पृष्ठ १४४)

पथिक

प्रश्न १:—'पथिक' काव्य में वर्णित कथावस्तु की योजना पर संक्षेप में अपने विचार प्रगट कीजिये।

उत्तर :—श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा विरचित 'पथिक' एक कथात्मक काव्य है। काव्य के मुख पृष्ठ पर दिए गए चित्र को देखकर के यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि इसकी कथावस्तु का मूल प्रेरणा स्रोत महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन हैं। अत: सामान्यतया इसकी कथावस्तु की मूल योजना को रूपकात्मक भी कहा जा सकता है। परन्तु कथा का आरम्भ तथा अन्त जिस प्रकार से दिखाया गया है, उसे एक सूक्ष्म प्रतीक तो कहा जा सकता है रूपक नहीं। सामान्यत: इस काव्य का मूल उद्देश्य सत्य, अहिंसा, न्याय और परोपकारादि की भावनाओं से संयत होकर के निरन्तर कर्त्तव्य-पथ,-कर्म-पथ पर अग्रसर होते रहने का सन्देश देना ही है। इसी दृष्टि से इसकी कथावस्तु की योजना और उसकी सफलता पर भी विचार किया जा सकता है।

इस काव्य की कथावस्तु सामान्यत: देश काल की परिस्थितियों पर आधारित कल्पित हैं। सबसे पहले कवि ने यह भाव प्रगट किया है कि यह संसार सब प्रकार से दु:खों का मूल कारण है। संसार की तुलना में प्राकृतिक जीवन अधिक सुखी और सुन्दर है। प्रकृति अपने आप में स्वयं निर्मल, शान्त और शाश्वत है। उसे देखकर ईश्वरीय सत्ता का आभास तो मिलता ही है। वास्तविक आत्मिक शान्ति भी प्राप्त होतीहै। अत: काव्य का नायक 'पथिक' अपनी घर-गृहस्थी का त्याग करके संसार के समस्त कार्यों से उन्मुख होकर के प्रकृति के सुरम्यय प्राङ्गण में—एक वन में जाकर निवास करने लगता है। वह प्राकृतिक सुषमा में किस सीमा तक निमग्न हो जाता है, इसे कवि के शब्दों में ही देखिए :

> "तिरती थी आँखें असीम सुषमा-समुद्र के जल में।
> किन्तु पथिक-मन था प्रविष्ट सौन्दर्य स्रोत तक तल में।
> अंग हुए निश्चिन्त प्रेम की निद्रा को अपनाये।
> पी आनन्द सुधा-रस उसके रोम-रोम उठ आये॥

उधर नायक 'पथिक' की नायिका उसे खोजते हुए पीछे-पीछे उसी वन में आ पहुंचती है। वह अपने पति को वापिस चलकर के अपनी घर-गृहस्थी को सम्हालने का अनुरोध करती है। वह उसके सामने प्रकृति के स्वर्गीय और आत्मिक सुख देने वाले सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि मेरा जी तो अब संसार में लौटने को कतई नहीं करता। उसके विपरीत मेरा मन तो बस यही चाहता है कि इस प्रकृति के रहस्यमय अनन्त और ईश्वरीय सौन्दर्य में ही विचरण करता रहूँ। वह कहता है:

"प्रति क्षण नूतन वेश बना कर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रहीं है नभ में वारिद-माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूं यही चाहता मन है॥"

मतलब यह है कि पत्नी की मनुहार का उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पथिक उसके प्रेम को मात्र शारीरिक वासना मानकर के ही उस की बात की उपेक्षा कर देता है। वह संसार को अन्याय, अनीति, छल कपट और पाप का घर बताता है। ऐसे संसार में जाना वह आत्महत्या के समान मानता है। पत्नी को वहीं व्याकुल खड़ी छोड़ कर वह वहाँ से आगे चल देता है। वह किसी अन्य वन में पहुंच कर फिर से प्रकृति के सौन्दर्य और प्रेम में खो जाता है।

स्निग्ध चान्दनी रात का समय होता है। पथिक एक शिला खण्ड पर बैठ कर के मौन भाव से प्रकृति के सौन्दर्य का पान कर रहा होता है कि तभी वहाँ एक वृद्ध तपस्वी योगीराज प्रवेश करते हैं! पथिक उठकर उनका स्वागत करता है। उसे आशीर्वाद देने के बाद योगीराज कहते हैं कि तुम्हारा प्रकृति प्रेम वास्तव में धन्य है। प्रातः काल अपनी पत्नी से जो बातें तुमने कहीं कुछ दूरी पर खड़ा होकर मैं भी उन्हें सुनता रहा था। जब तुम पत्नी से मुख मोड़ कर वन की ओर चल दिए तो तुम से कुछ बातें करने की इच्छा मेरे मन में जाग्रत हुई। तब योगीराज ने उससे कहा कि संसार के कर्त्तव्य-कर्मों को त्याग कर, आत्म शुद्धि, तपस्या या मुक्ति के नाम पर जंगल में आकर बैठ रहना मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। ऐसा व्यक्ति

वास्तव में अज्ञानी होता है। ईश्वर ने संसार के जड़-चेतन सभी पदार्थों और प्राणियों को कर्ममय बनाया है। अपने कर्म के निर्वाह में ही जीवन की सार्थकता है। इसके विपरीत आचरण कायरता है, जीवन को व्यर्थ करना है! अपने माँ, बाप, देश, जाति के प्रति मनुष्य के कुछ विशेष कर्त्तव्य होते हैं। उनके पालन के बाद तो संन्यास शोभा देता है, अन्यथा वह एक आडम्बर मात्र ही है। एक प्रकार से संन्यासी को फटकारते हुए योगीराज कहता है।

"केवल अपने लिए सोचते मौज भरे गाते हो।
पीते, खाते, सोते-जगते हँसते सुख पाते हो।
जग से दूर स्वार्थ साधन ही सतत तुम्हारा यश है।
सोचो तुम्हीं कौन अग जग में तुम-सा स्वार्थ-विवश है।"

इस प्रकार फटकारने और उपदेश देने के बाद योगीराज पथिक को संसार में जाकर अन्याय का विरोध करने, जनता में नई जाग्रति लाने और स्वाधीनता की भावना पैदा करने की प्रेरणा देता है। वह उससे कहता है कि लोक-कल्याण-कामना में ही जीवन की सार्थकता है :

"दुख में बन्धु, वैद्य पीड़ा में, साथी घोर विपद में।
दुसह दीनता में आश्रय, उत्साह निराशान्नद में।
भ्रम में ज्योति, सुमति सम्पत्ति में, दृढ़ निश्चय संशय में।
छल में क्रान्ति, न्याय प्रभुता में, अटल धैर्य बन भय में।।"

योगीराज कर्म के मार्ग को ही सच्चे प्रेम का मार्ग बताता है। उसके उपदेश से प्रभावित होकर के पथिक अपने को कर्त्तव्य कर्मों के मार्ग पर लाने के लिए संसार में वापिस लौट आता है। वह इधर-उधर घूम करके देश की दशा का गहराई से अवलोकन करता है, ताकि अपने कर्त्तव्य-कर्म का निर्णय कर सके। देश में उसे चारों ओर निराशा, वेदना, उदासी, दीनहीनता, पराजय और पराधीनता का वातावरण ही दिखाई देता है। वह देखता है कि इस देश की भूमि पर प्रकृति का अनिन्द्य सौन्दर्य है पर वह किसी भी व्यक्ति को वास्तविक आनन्द नहीं प्रदान कर पाता। सब कुछ रहते हुए भी यहाँ के लोग सुखी क्यों नहीं हैं :

"कदली-वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती।
क्यों यह नहीं गाँव वालों के जी की जलन मिटाती।
गेहूँ, चने, मटर, जौ, के हैं खेत खड़े लहराते ।
क्या कारण है ये जो मन का कुछ न विषाद मिटाते ।।',

जाने क्यों यहां के प्रातः काल, दोपहरें और सन्ध्याएँ मात्र उदास ही हो कर रह गई हैं। लगता है किसी भी देश वासी के जीवन में कहीं कोई रस नहीं रह गया। देश के लोग जैसे किसी अज्ञात नींद में सोए हुए हैं। उनके जीवन में कोई उत्साह या आनन्द का भाव नहीं है। वाहिरी रूप से देश का दर्शन करने के वाद भीतरी दशा को जानने के लिए पथिक ने समाज में प्रवेश किया। परन्तु वहाँ की स्थिति और भी अधिक विचित्र, करुण तथा दयनीय थी :

"धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर-घर में।
माँस नहीं है, निरी साँस है शेष अस्थि-पंजर में।
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, रहने का न ठिकाना।
कोई नहीं किसी का साथी, अपना और विगाना ।।"

देश के लाखों-करोड़ों लोग अभावों जल रहे हैं। शासन निश्चिन्त होकर सोया है। उसे लोगों की दशा को सुधारने की तनिक भी चिन्ता नहीं है। दुःख दूर करने के स्थान पर रक्षक-भक्षक वन रहे हैं। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मच रही है। छल, कपट, झूठ, दम्भ विश्वासघात और शोपण का चारों ओर बोल वाला है। पेट की खातिर दया, धर्म, सच्चरित्रता आदि समस्त मानवीय गुण ममाप्त होते जा रहे हैं। विचार करने पर पथिक ने उस सर्वनाश का कारण आखिर समझ ही लिया :

"समझ लिया तत्काल पथिक ने, कारण इस दुर्गति का।
है सिद्धान्त प्रजा की उन्नति के प्रति कूल नृपति का ।"

चिरकाल तक अपना शासन बनाए रखने के लिए शासक वर्ग ने शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति के नाश का बीड़ा उठा रखा है। उसने अनीतियों और आँतक से प्रजा को भीरू बना दिया है। अपने को प्रजा के सेवक और नेता समझने वाले लोग भी राजसम्मान प्राप्त करके स्वार्थ-रक्षा के लिए प्रजा को

भूल गए हैं। इस दीन-हीन दशा को देखने के बाद पथिक ने दलित-पीड़ित प्रजा के जीवन में नव-जागृति उत्पन्न करने का परम कर्त्तव्य सम्हाला। उसने राजा और शासकों को समझने का प्रयत्न किया, परन्तु कुछ फल न निकला। राजा ने उसे देश-द्रोही और प्रजा को भड़काने वाला घोषित करके गिरफ्तार करवा दिया। उसे विष का प्याला देकर मार डालने की घोषणा की। पर अब तक पथिक का प्रभाव जन-मन में घर कर चुका था। अतः उसकी गिरफ्तारी और दण्ड मिलने की सुनकर सारे देश की प्रजा उनके अन्तिम दर्शनों के लिए वध-स्थल की ओर भागी। पथिक की विरहिणी पत्नी ने भी सब सुना और वह भी अपने नन्हें बेटे को साथ लेकर वध-स्थल पर आ गई। उसने और सबने देखा कि हथकड़ी बेड़ियों से जकड़ा हुआ पथिक पड़ा हुआ है। उस के सामने एक विष का प्याला भी पड़ा है, जिसे कुछ ही देर बाद उसे राजाज्ञा से पीना होगा। भीड़ को चीरती हुई पत्नी आगे बढ़ी और विष का प्याला पीकर मर गई। मरने से पहले उसने अपने पथिक पति से सब प्रकार के अपराधों के लिए क्षमा-याचना की।

यह भयानक दृश्य देखकर सारी प्रजा कराह उठी। लोग सन्नाटे में आ गए। तभी भीड़ से निकल कर बालक अपनी माँ के शव के पास पहुंचा। और भोला बालक पुकार कर बोला—"उठो माँ! तुम सो क्यों गई हो! मुझे बहुत भूख लगी है, उठकर रोटी दो।" इस दृश्य ने सभी उपस्थितों के हृदयों को और भी विदीर्ण कर दिया। भीड़ में खड़ी एक सभ्य महिला यह दृश्य न देखसकी। उसने आगे बढ़कर उस नन्हें बालक को गोदी में उठा लिया तभी दूसरी राजाज्ञा सुनाई दी कि अगर पथिक अपना अपराध स्वीकार कर क्षमा-याचना कर ले तो उसे क्षमा किया जा सकता है, अन्यथा उसके बध के पहले उसके नन्हें बेटे का बध कर दिया जायेगा। इस पर भी वह मानवता की स्वतन्त्रता का प्रेमी पथिक विचलित न हुआ। राजाज्ञा से सैनिकों और वधिकों ने नन्हें बच्चे को भी भालों से गोद डाला। अब भीड़ में खड़े युवक इस अत्याचार को और अधिक सहन न कर सके। वे हिंसा पर उतारू हो उठे। वे चिल्ला उठे :

"मारो इन हत्यारों को, सब बोले ऊँचे स्वर में।
युवकों से तत्काल घिर गए दूत बधिक क्षण भर में।

प्रतिहिंसा का भाव भयानक जागा हृदय-हृदय में ।
दिशा काँपने लगीं, बढ़ा कोलाहल अल्प समय में ।"

पर पथिक ने शान्त भाव से युवकों को रोकते हुए उन्हें क्रोध त्याग कर अहिंसा-भाव से काम लेने का उपदेश दिया । वह कहने लगा :

"यह प्रत्येक देशवासी का सत्कर्त्तव्य सरल है ।
करे देश सेवा में अर्पण उसमें जितना बल है ।
किन्तु न बदले में जनता से मान सुभीता चाहे ।
स्वार्थ भाव को छोड़ उसे है उचित स्वधर्म निवाहे ।।'

उसके अहिंसक उपदेश में शान्त होकर सिर झुकाए सभी लोग वहाँ से चले गये । तभी भीड़ में से प्रगट होकर योगीराज ने एक बार फिर पथिक को आशीर्वाद दिया । योगीराज भी वहीं समाधि बना कर समाप्त हो गया । पथिक ने उन्हें साक्षात् भगवान मान कर उनकी वन्दना की, उन्हें अपनी प्रेरणा का स्रोत बताया । अन्त में राजा के वधिकों ने शान्त भाव में खड़े पथिक का भी वध कर डाला ! राजा ने सुनकर कहा कि अच्छा हुआ, उस देश द्रोही का सारा वंश ही मिट गया ।

पथिक की मृत्यु ने सारे देशवासियों को एकदम निराश और उदासीन कर दिया । वे अपने दैनिक काम-काज तो करते थे, किन्तु किसी के मन में कोई उत्साह न था । फिर भी प्रतिकार की एक आग हमेशा सभी के मन में सुलगती रहती थी । पथिक का बलिदान व्यर्थ न गया । उसने धीरे-धीरे सारी प्रजा और राज-कर्मचारियों तक को राज्य का विरोधी बना दिया । सभी लोग राजा से विमुख होकर खिसक गए । जब राजा अकेला रह गया, तो उसे पकड़ कर के इस देश से निर्वासित कर दिया गया । जहाँ पथिक ने प्राण त्यागे थे, वहाँ उसका एक भव्य स्मारक बनाया गया । वह स्मारक सभी के लिए एक अमिट प्रेरणा स्रोत बन गया । उसे सभी 'देश के पिता' नाम में सम्बोधित करते और उसके आदर्शों के अनुरूप कार्य करने लगे । परिणामस्वरूप :

"हुए स्वतन्त्र, सुसभ्य, सच्चरित, सच्चे देश निवासी ।
घर-घर में सुख-शान्ति छा गई, रही कहीं न उदासी ।
एक शुद्ध सच्चे प्रेमी ने आत्म शक्ति साधन से ।
मुक्त कर दिया एक देश को नरक तुल्य शसन से ।

इस प्रकार अन्त तक पहुंचते-पहुंचते यह कथावस्तु देश को स्वतन्त्रता क संदेश देने, उसे मुक्त करा कर स्वयं बलिदान हो जाने वाले महात्मा गाँधी के त्याग और बलिदान की कहानी ही बन जाती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कथावस्तु के विकास में काल्पनिक और सत्य दोनों प्रकार के तत्त्व सहायक हुए हैं। कथानक का आरम्भिक भाव पूर्णतया कल्पित हैं। वहाँ जिस प्रकार वन जाने और वहाँ पथिक की पत्नी के बाद योगीराज से मिलने आदि की घटनाओं का वर्णन दिया गया है। नितान्त कल्पित होने के कारण वह सब स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। परन्तु जिस आदर्श-भाव से कवि संचालित है, उस आदर्श के लोक में सभी कुछ सम्भव हो सकता है। कथावस्तु के मध्य भाग को यथार्थ पर आधारित कहा जा सकता है। पथिक सारे देश में भ्रमण करके जो दीन-हीन दशा देखता है और काव्य में जिसका वर्णन काफी विस्तार में किया गया है, उसकी सत्यता से इनकार नहीं किया जा सकता कथावस्तु की अन्तिम योजना में फिर एक प्रकार कल्पना-मिश्रित नाटकीयता आ जाती है। यद्यपि इस अन्तिम भाग में ईसामसीह और गाँधी जैसे महापुरुषों के त्याग और बलिदान की झलक तो अवश्य मिल जाती है, पर फिर भी आधुनिक प्रबुद्ध पाठक उसकी नाटकीयता से उतना प्रभावित नहीं हो पाता। फिर भी एक प्रभाव पाठक के मन में अवश्य पड़ता है। उसमें एक स्वातन्त्र्य-मानवीय-चेतना अवश्य ही जाग्रत होने लगती है।

काव्य में वर्णनात्मकता ही अधिक है। कथावस्तु में वस्तु-गणना-पद्धति और वर्णनात्मकता को ही अधिक प्रश्रय मिला है। लगता है वहाँ कवि का ध्यान वस्तु विकास की ओर उतना नहीं जाता, जितना कि वर्णन की ओर। प्रकृति वर्णन में कवि का मन खूब रमा है। वस्तु योजना में आदर्श के अनुकूल ही पात्रों के चरित्र-चित्रण हुए हैं। देश-काल और वातावरण का चित्र निश्चय ही सबल ढंग से पाठक के मन में उभर आता है। सभी कुछ सहज सरल भाषा और शैली में कहा गया है। सामान्य जिज्ञासा और उत्सुकता का भाव भी अन्त तक बना रहता है। वस्तु-योजना में वास्तव में कथा के तत्त्व कम और आदर्श के अनुरूप चरित्र-चित्रण के तत्त्व अधिक हैं।

अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि वस्तु-योजना का आधार चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, एक सामयिक राष्ट्रीय चेतना उसमें अवश्य कूट-कूट

कर भरी है और हमारे विचार में उसकी सफलता का एकमात्र यह कारण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उद्देश्य आदि की दृष्टि से कथावस्तु की योजना और विकास को स्वाभाविक और सार्थक ही कहा जायगा।

प्रश्न २ - श्री रामनरेश त्रिपाठी के काव्य 'पथिक' के उद्देश्य और सन्देश पर सोदाहरण संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

उत्तर:—श्री रामनरेश त्रिपाठी एक ओर तो प्रकृति के प्रेमी और दूसरी ओर राष्ट्रीय विचारधारा से सम्पन्न कवि माने जाते हैं। द्विवेदी युग के कवियों में इनका अपना अलग-थलग महत्त्व इसी कारण स्वीकारा जाता है कि इन्होंने घिसे-पिटे आदर्शों के पालन की लीक से हटकर सामयिक चेतनाओं के अनुरूप काव्यों का सृजन किया। इनके 'स्वप्न' और 'पथिक' जैसे काव्यों का महत्त्व भी दो कारणों से ही अधिक माना जाता है। वे दो कारण क्रमश: प्रकृति-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना ही है। राष्ट्रीयता, सदाचरण या अन्य बातों को यदि सीधे ढंग से या विशुद्ध उपदेशात्मक ढंग से प्रगट किया जाय, तो बहुत संभव है कि आज के जागरूक मन-मस्तिष्क पर उसका सीधा और अच्छा प्रभाव न पड़े। उपदेशानुसार व्यक्ति प्रतिक्रियावादी भी हो सकता है। इसी कारण त्रिपाठी जी ने अपने काव्यों में इस प्रकार के कथानकों की कल्पना की है कि जो मनोरंजक ढंग से अपनी राष्ट्रीयता आदि की उपदेशात्मक बातें भी कह सकें और उसकी विरोधी प्रतिक्रिया भी जागृत न हो 'पथिक' इसी प्रकार का कथात्मक काव्य है, जिसका मूल उद्देश्य निरन्तर कर्म-पथ पर अग्रसर रहने का उपदेश और प्रेरणा देना है और सन्देश है—राष्ट्रीयता की, त्याग, बलिदान, सत्य, प्रेम और अहिंसा की भावनाओं से संयत आत्म-बल का उदय करना। ताकि देश, जाति और समाज की हित-साधना के साथ-साथ सद्गुणों से समन्वित समूची मानवता का हित-साधित हो सके।

कवि जीवन में रहकर उचित मानवीय कर्त्तव्य-कर्मों के अनवरत पालन से अधिक जीवन का अन्य कोई भी उच्चतम लक्ष्य नहीं मानता। इसी कारण उसने अपने कथा-नायक 'पथिक' के संसार-त्याग करने पर योगीराज के मुख से उसकी भर्त्सना करवाई है। कवि के विचार में—यह ठीक है कि संसार अनेक प्रकार की विपत्तियों, दु:ख-दर्दों, माया-मोह और विडम्बनाओं का घर

है, फिर भी संसार से बाहर मानव-जीवन की कोई गति नहीं। जंगल के एकांत वास में रहकर प्राप्त की गई मुक्ति वास्तव में एक प्रकार की स्वार्थ-साधना ही है। क्योंकि उस प्रकार की मुक्ति व्यक्ति के हित का साधन तो कर सकती है, समष्टि के हित का नहीं, जो कि मानव जीवन का परम पावन लक्ष्य है और होना चाहिए। जीवन में रहकर विरक्ति और विराग की, निवृत्ति की भावनाएँ न तो मानव-जीवन और संसार के विकास में ही सहायक हो सकती हैं और न ही ऐसे लोगों वाले राष्ट्र और जाति के हित ही सुरक्षित रह जाते हैं। तब देश दासता की बेड़ियों में जकड़ा जाता है और दासता संसार में सब से बड़ा दु:ख है, क्योंकि वह अनेक प्रकार के दु:खों की जननी है। अत: प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य-कर्म यही होना चाहिए कि वह अपने प्रत्येक कार्य और कर्म से देश, जाति और राष्ट्र को हर प्रकार से सुखी तथा समृद्ध बनाने का प्रयत्न करे। त्याग और बलिदान के रास्ते पर चले। सच्ची स्वाधीनता के सुख का स्वयं भी अनुभव करे और देशवासियों को भी करादे। उद्देश्य एवं सन्देश की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य-सर्जना के मूल में ही इन्हीं समस्त भावनाओं और विचारों की प्रेरणा काव्य के अध्ययन से स्पष्ट सुन पड़ती है। राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की भावना तथा प्रेरणा काव्य में निश्चित रूप में सर्वोच्च है, यह काव्य का सातवाँ पद्य पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है। गृह-त्यागी पथिक की पत्नी उसे खोजते हुए सघन वन में पहुँचकर अन्त में उसको पा लेती है। तब उसकी प्रसन्नता का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

> "जो सुख पर पद-दलित देश को स्वाधिकार पाने से।
> जो सुख बुझती दीप-शिखा में स्नेह-धार आने से।
> जो सुख होता है प्रवास-पश्चात् देख निज घर को।
> उससे अधिक हुआ सुख उसको पाकर निज प्रियवर को॥"

बस, यहीं से काव्य की आत्मा और मूल स्वर अपने मूल उद्देश्य और सन्देश की ओर अग्रसर होने लगता है। वह मूल उद्देश्य और सन्देश है, 'पर पद-दलित देश को स्वाधिकार पाने का।' वह स्वाधिकार जीवन और उसके कर्त्तव्य कर्मों से मुँह मोड़कर नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसी कारण कवि ने समयोचित कर्म करने पर विशेष बल दिया है। योगीराज के मुख से

उसने पथिक को कर्म का उपदेश इसी नीयत से ही दिलवाया है। संसार-त्याग कर वन में शान्ति की खोज को योगीराज अज्ञान की उपज मानकर कहते हैं :

"अपनी अद्भुत शक्ति भूल अज्ञानी-सा वन-वन में।
फिरते हो तुम चकित विमोहित प्रकृति-रूप-दर्शन में ।।"

क्योंकि जीवन की सार्थकता विरक्ति, निवृत्ति या संसार त्याग में नहीं, वल्कि कर्त्तव्य-कर्म के पालन में है। ईश्वर ने सभी के कर्म निर्धारित कर दिये हैं और वे अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म के पालन में निरत हैं :

"जग में सचर-अचर जितने हैं सारे कर्म निरत हैं।
धुन है एक न एक सभी को सबके निश्चित व्रत हैं।
जीवन भर आतप सह वसुधा पर छाया करता है।
तुच्छ पत्र की भी स्वकर्म में कैसी तत्परता है ।।"

जब 'तुच्छ पत्र' तक अपने कर्म में तत्पर हैं, तो फिर एक अच्छा-भला मनुष्य कर्मक्षेत्र त्याग कर शान्ति और मुक्ति की खोज में, वन-वन में मारा-मारा फिरे, यह लज्जा की बात नहीं है क्या ? सारी प्रकृति के कर्म-निरत होने की बात कहकर योगीराज पथिक को कर्म-मार्ग पर अग्रसर होकर जीवन को सफल बनाने की बात कहता है :

"रवि जग में शोभा सरसाता, सोम सुधा बरसाता।
सब हैं लोग कर्म में कोई निष्क्रिय दृष्टि न आता।
है उद्देश्य नितान्त तुच्छ तृण के भी लघु जीवन का।
उसी पूर्ति में वह करता है अन्त कर्ममय तन का ।।"

और कर्मशील व्यक्ति के जीवन का पहला उद्देश्य है अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता, उन्नति और विकास की चिन्ता करना। तभी तो योगीराज कर्मों और कर्त्तव्यों का मार्ग बताते हुए सबसे पहले मातृभूमि की ही चर्चा करते हुए कहता है :

"जिस पर गिरकर उदर-दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न, सुधा-सम नीर-समीर दिया है।

—

वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है ?"

इसके बाद कवि ने इस 'माता-तुल्य' मही पर रहने वाले समस्त श्रम-जीवियों, दीन-दुखियों, असहायों और निर्बलों के नाम गिनाए हैं और वताया है कि—क्योंकि वे सब भी अपने कार्यों से व्यक्ति पर कोई न कोई ऋण चढ़ा देते हैं, अतः कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने कार्यों से उनके ऋण को भी उतारने की चेष्टा करे। उनके दुःख-दर्दों के कारणों को समझ करके उन्हें दूर करने की चेष्टा करके ही उनके ऋण से उऋण हुआ जा सकता है। इसी कारण घर-संसार से उदासीन पथिक को सन्देश देते हुए योगीराज कहता है :

"तुम्हें उचित था, तुम उदार बनकर घर-घर में जाते।
अमित प्रेम-निधि एक-एक प्राणी को मुफ्त लुटाते।
किन्तु कृपण बन सब समेट सानन्द स्वयं रहते हो।
इस पर भी तुम स्वार्थ-ग्रसित मुक्तित जग को कहते हो।।"

अपने लिए जीने वाला व्यक्ति घोर स्वार्थी होता है। जिसका मस्तक जातीयता के गौरव से कभी ऊँचा नहीं होता, उसका जीवन व्यर्थ है। अतः अपनी शक्तियों को जागृत करने की प्रेरणा देते हुए योगीराज के मुख से कवि ने कहलवाया है :

"तुम में अद्भुत शक्ति अलोकिक अतिशय अधिक प्रकृति से।
कर सकते हो चकित प्रकृति को निज साधारण कृति से।।"

फिर सच्चा सुख वन में नहीं, संसार में ही रहकर, अपने उचित मानवीय कर्त्तव्यों का पालन करके प्राप्त किया जा सकता है। अतः व्यक्ति को बुद्धिमत्ता से अपने आत्मबल और कर्म-शक्ति को जागृत करके ऐसा आदर्श वन जाना चाहिए कि अन्य लोग भी कुछ प्रेरणा प्राप्त कर सकें। कवि ने काले-गोरे, छोटे-बड़े के भेद-भाव को त्याग करके सभी के प्रति समान भाव से कर्त्तव्य पालने, सभी के जीवन को सुखी बनाने के लिए कर्म-रत होने की प्रेरणा प्रदान की है। कवि का सन्देश है कि :

"दुख में बन्धु, वैद्य पीड़ा में, साथी घोर विपद में।
दुसह दीनता में आश्रय, उत्साह निराशा-नद में।
भ्रम में ज्योति, सुमति सम्पत्ति में, दृढ़ निश्चय संशय में।
छल में क्रान्ति, न्याय प्रभुता में, अटल धैर्य बन भय में।

जनता के विश्वास, कर्म, मन, ध्यान, श्रवण, भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में ।।"

देश-जाति के प्रति अपने उत्तरदायित्त्वों का निभाव ही व्यक्ति का सर्वप्रथम एवं प्रमुख कर्त्तव्य है। उसका निभाव निरन्तर निष्काम-कर्म से ही हो सकता है। कर्म के मार्ग में अनेक प्रकार की कठिनाईयाँ आकर व्यक्ति को विचलित कर सकती हैं, किन्तु दृढ चरित्र वाले कभी किसी भी स्थिति में विचलित नहीं हुआ करते। अतः उपरोक्त विवेचन के आधार पर प्रमुखतः यही कहा जा सकता है कि कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करना — वह भी राष्ट्रीयता के कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में, ही इस काव्य का प्रमुख उद्देश्य और सन्देश है। योगीराज समस्त बातों के बाद अन्त में पथिक से फिर कहता है :

"फिर कहता हूं डरो न दुःख से कार्य-मार्ग सम्मुख है।
प्रेम-पन्थ है कठिन, यहाँ दुख ही प्रेमी का सुख है।
कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो, कर्म तुम्हारी भाषा।
हो सत्कर्म ही मृत्यु तुम्हारे जीवन की अभिलाषा।"

इस प्रकार काव्य का दूसरा सर्ग उद्देश्य और सन्देश की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। काव्य के शेष सर्गों में तो प्रकृति-दर्शन, देश-दर्शन, आदि के माध्यम से कथानक को ही उद्देश्य के अनुकूल विकसित करने का प्रयास किया गया है। कर्म क्यों आवश्यक है, इसका उत्तर कवि ने देश की दीन-हीन दशा का वर्णन करके दिया है। दीन-हीन दशा वाले देश के निवासी यदि कर्म से विमुख होकर वैयक्तिक मुक्ति की साधना में निकल पड़ेंगे, तो निश्चय ही वह देश, वहाँ की राष्ट्रीयता और जाति सभी रसातल को चले जायँगे। इसी कारण कर्म का राष्ट्रीयता-संयत महत्त्व प्रगट हो जाने के बाद कथा-नायक 'पथिक' जन-जागरण के कर्म में अनवरत निरत हो जाता है। उसी में वह अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देता है। क्योंकि पराधीनता के शोक और दुःख को केवल पशु ही सहन कर सकता है, सचेतन प्राणी नहीं! एक घड़ी की पराधीनता करोड़ों नरकों के समान और एक पल की स्वाधीनता करोड़ों स्वर्गों की प्राप्ति के समान महत्त्वपूर्ण हुआ करती है! अतः कर्म करके हमने एक ऐसे नव-राष्ट्र का निर्माण करना है कि जहाँ!

"निज उन्नति का जहाँ सभी जन को समान अवसर हो।
शान्ति दायिनी निशा और आनन्द भरा वासर हो।
उसी सुखी स्वाधीन देश में मित्रो ! जीवन धारो।
अपने चारु चरित से जग में प्राप्त करो फल चारों।"

इन मुख्य बातों के साथ-साथ कवि ने गान्धीवादी आदर्शों के अनुरूप सत्य, अहिंसा, आत्मपीड़न, प्रेम, भाईचारे, क्रोध और हिंसा-भाव के त्याग करने की बातें भी कही हैं। क्योंकि ये समस्त बातें मानव-शक्तियों का अपव्यय करती हैं। कुल मिलाकर निष्काम कर्म का सन्देश देना ही 'पथिक' काव्य का मूल उद्देश्य है। हम कवि के इन शब्दों के साथ प्रश्न का समापन करते हैं।

"यह प्रत्येक देशवासी का सत्कर्त्तव्य अटल है।
करे देश-सेवा में अर्पण उसमें जितना बल है।
किन्तु न बदले में जनता से मान-सुभीता चाहे।
स्वार्थ-भाव को छोड़ उसे है उचित स्वधर्म निबाहे।"

प्रश्न ३—"पथिक' काव्य के काव्य-रूप के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुए, इसके काव्य-रूप का निर्धारण कीजिए।

उत्तर :—काव्य-रचना कवि की आन्तरिक अनुभूतियों की गहनता की एक सबसे सुन्दर और भावुक प्रक्रिया है। कवि जब किसी विशेष दृश्य, भाव या विचार से अत्यधिक प्रभावित होकर अपने अन्तर्मन में विलीन हो जाता है, तब भावों एवं आवेगों का एक अविरल तूफान-सा उसकी अन्तरात्मा में अंगड़ा-इयाँ लेने लगता है। उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति ही वास्तव में काव्य कह-लाती है। यह अभिव्यक्ति कुछ पंक्तियों में भी सम्भव हो सकती है और अनेक पंक्तियों में भी। उसका कथ्य कोई कोमल-कान्त भाव या विचार मात्र भी हो सकता है और किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तित्व की चेतना पर आधारित कोई कथानक भी। तात्पर्य सभी प्रकार से एक शसक्त एवं कुशल अभिव्यक्ति ही होता है। भावों की अभिव्यक्ति गद्यमय भी हो सकती है और ताल-लया-श्रित भी। इसी ढंग को गद्य और पद्य कहा जाता है। पद्यात्मक या ताल-लया-त्मक अभिव्यक्तियों के भी स्वरूप विधान की दृष्टि से अनेक भेद होते हैं। उनमें से प्राथमिक और मुख्य भेद हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्धात्मक रच-

नाओं का आधार कोई न कोई कल्पित या प्रसिद्ध कथानक रहता है, जबकि मुक्तक में केवल भाव या विचार ही अभिव्यक्ति प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार प्रत्येक काव्य का रूप प्राथमिक दृष्टियों से इन्हीं दो भेदों में से ही किसी एक के अन्तर्गत आता है।

आगे चलकर प्रवन्ध काव्य के प्रमुख दो भेद हो जाते हैं—एक महाकाव्य और दूसरा खण्डकाव्य। महाकाव्य का कथ्य और कथानक विस्तृत होता है और प्राय: समूचे जीवन एवं युग-परिवेश को अपने भीतर संजोये रहता है। इसके विपरीत खण्ड-काव्य का आयाम सीमित होता है। उसमें जीवन का खण्ड—अर्थात एक ही प्रभावी भाग का चित्रण किया जाता है। चरित्र-चित्रण, परिवेश-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, कथ्य-विभाजन, उद्देश्य आदि दोनों में प्राय: समान ही रहते हैं। विचारों की गहनता और सन्देश की भावना का होना भी दोनों में प्राय: अनिवार्य होती है।

इसी प्रकार मुक्तक काव्य के भी प्रायः दो भेद किये जाते हैं—एक प्रगीत या गेय मुक्तक और दूसरा पाठ्य या सुपाठ्य मुक्तक। पहली विधा में किसी तरलायित भावना का गेय रूप में चित्रण किया जाता है, उसमें वैयक्तिकता और संक्षिप्तता आदि के गुण भी रहते हैं। दूसरी विधा में किसी उपयोगी विचार को संक्षिप्त रूप से पल्लवित किया जाता है। वहाँ पद्यात्मक और तुक् आदि का ध्यान तो अनिवार्यत: रखा जाता है, पर ताल-लय या गेयता आदि की कोई अनिवार्यता नहीं रहती।

काव्य के उपरोक्त विधात्मक रूपों और स्वरूपों में से हमारी आलोच्य-पुस्तक 'पथिक' काव्य किस विधा के अन्तर्गत आता है, या इसे प्रयत्न करके रखा जा सकता है—इस वात का निर्णय कर पाना बहुत ही कठिन कार्य है। क्योंकि इस काव्य में भाव भी है, विचार भी है, गेयता भी है, तुक् भी है और सबसे बढ़कर कवि ने विचार या भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक कल्पित-से कथानक का आश्रय लिया है अब यह तो स्पष्ट है कि 'पथिक' काव्य को मुक्तक काव्य की किसी भी विधा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। क्योंकि इसमें कथानक विद्यमान है और उसका पूर्ण विकास दिखा-कर चरम परिणति भी होते हुए दिखाई गई है। एक गीत-काव्य में अवश्य

आता है, पर उसी के कारण इसे हम गीत-काव्य या प्रगीत-मुक्तक नहीं कह सकते। यों प्रकृत्ति का चित्रण करते समय कवि की अनेक तरलायित भावनाओं के दर्शन भी होते हैं और इसका अर्थ है भाव की प्रधानता। पर इसी कारण से 'पथिक' को प्रगीत-मुक्तक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भावों के साथ-साथ इसमें विचार और नीति से सम्बन्धित उपदेश भी हैं। पर उन नीत्योपदेशों के कारग ही इसे सुपाठ्य मुक्तक-विधा के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता। इसका कारण हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इसमें एक देश-काल से प्रभावित कल्पित कथानक की स्पष्ट योजना की गई है।

अब तनिक प्रवन्धात्मकता की दृष्टि से भी विचार कर लिया जाये। ऊपर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रवन्ध-काव्यों का कथ्य किसी कल्पित या प्रसिद्ध कथानक पर आधारित रहता है। उसका परिवेश देश-काल की सीमाओं में परिव्याप्त रहते हुए भी उससे कहीं आगे बढ़कर जीवन के चिरन्तन सत्यों और शाश्वत रूपों को अपने भीतर समेटे रहता है। काव्य-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टिओं से प्रवन्ध काव्यों के कुछ अन्य प्रमुख लक्षण भी स्वीकारे जाते हैं। प्रवन्ध काव्य के दो भेद ऊपर बताए जा चुके हैं—एक महाकाव्य और दूसरा खण्ड काव्य। इनमें सामान्य और प्रमुख अन्तर भी स्पष्ट किया जा चुका है। इन दोनों में जीवन के समग्र-चित्रण और खण्ड-चित्रण की दृष्टि से ही प्रमुख भेद हैं। बाकी सभी लक्षण प्रायः समान होते हैं। प्रमुख लक्षण हैं—इनका कथानक कम से कम आठ (काव्य शास्त्रीय दृष्टि से) या सात (जैसा कि आम और उपलब्ध प्रवन्ध-काव्यों में पाया जाता है) सर्गों में विभाजित रहना चाहिए। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग होना चाहिए और वह छन्द सर्ग के अन्त में अगले आने वाले सर्ग के छन्द-रूप में परिवर्तित हो जाना चाहिए। काव्य में एक रस की प्रधानता होनी चाहिए। वर्ण्य-विषय की व्यापकता, गहनता और आवश्यकता के अनुरूप पात्रों की योजना हो और उनके चरित्र-चित्रण आदि पर यथासाध्य पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। सम्वादों की योजना भी अनिवार्य है। सम्वाद संक्षिप्त, सरल, भावपूर्ण और प्रभावी होने चाहिएँ। उनमें नाटकीयता भी अनिवार्य तत्त्व है। इन वातों के अतिरिक्त देश-काल और वातावरण का चित्रण, प्रकृति-चित्रण,

उत्सव-त्योहार, नदी, रात्रि, मध्याह्न, दोपहर, अभियान आदि अन्य अनेक बातों का चित्रण भी प्रायः अनिवार्य माना जाता है। अब देखना यह है कि क्या 'पथिक' के काव्य-रूप पर उपरोक्त सभी लक्षण पूर्ण या आँशिक रूप में घटित होते हैं।

सबसे प्रथम प्रश्न उठता है काव्य के आधार-तत्त्व का और 'पथिक' काव्य का आधार-तत्त्व है एक कल्पित-सा कथानक। कथानक का यह तत्त्व निश्चय ही इसे प्रबन्ध-काव्यों की श्रेणी में ले आता है। पर उसी क्षण जब हम कथानक के विभाजन—अर्थात् सर्ग-योजना और उसके बाद छन्द-योजना आदि के नियमों पर विचार करते हैं, तो 'पथिक' काव्य का प्रबम्धात्मक स्वरूप स्पष्टतः खिसकता हुआ दिखाई देता है। क्योंकि इसमें सर्ग-विभाजन के काव्य शास्त्रीय या उपलब्ध व्यावहारिक किसी भी नियम का पालन नहीं किया गया। इसी प्रकार पाँच सर्गों में विभाजित इस काव्य में छन्द-परिवर्त्तन के नियम का निर्वाह भी कतई नहीं हो पाया। केवल पहले सर्ग में मूल छन्द के साथ एक गीत योजना हुई है, परन्तु नियम की दृष्टि से वह योजना दोष ही अधिक है, गुण नहीं। अतः कथानक-योजना और सर्ग-छन्द-विभाजन आदि की दृष्टि से 'पथिक" काव्य को हम प्रबन्धात्मक विधाओं के अन्तर्गत नहीं रख सकते।

उसके बाद प्रश्न उठता है कथानक को और उसमें योजित पात्रों के चरित्र चित्रण को भी स्वाभाविक रूप देने के लिए संवादों की योजना को सम्वाद-योजना के नाम पर भी 'पथिक, काव्य में आपको कुछ भी नहीं मिलेगा। यों पथिक, उसकी पत्नी, योगीराज, युवक-समुदाय और राजा तथा उसके कर्मचारियों को अलग-अलग बोलते, अवश्य दिखाया गया है, पर उसके बोलने में बस बोलना ही है। विचार और भावों की अभिव्यक्ति तो अवश्य हो जाती है, पर सम्वादात्मकता नहीं आ पाती। उनका कोई सहज-सरल नाटकीय रूप भी नहीं उभर पाता। अतः यह स्थिति भी प्रबन्धात्मक काव्य-विधाओं के प्रतिकूल पड़ती हैं।

जहाँ तक चरित्र-चित्रण का प्रश्न है। पथिक, उसकी पत्नी, योगीराज, राज्य-कर्मचारी और राजा आदि के चरित्र—इनमें से कुछ के अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी अपने समूचे रूप और व्यक्तित्व को लेकर हमारे सामने स्पष्ट हो

जाते हैं। अतः चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह काव्य प्रबन्धात्मक रूपों की श्रेणी में सामान्यतः अवश्य ही आ जाता है। इसी प्रकार काव्य का उद्देश्य भी उदात्त, उदार और महान है। उसमें एक सार्वकालिक संदेश भी अवश्य ही अन्तर्नित है। काव्य वास्तव में आदर्श-संयत होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को एक अद्भुत प्रेरणा देने वाला है। किसी भी विचारधारा वाला व्यक्ति क्यों न हो, यह पंक्तियाँ सभी के लिए ग्राह्य हो सकती हैं:

"फिर कहता हूं डरो न दुख से कर्म-मार्ग सम्मुख है।
प्रेम-पंथ है कठिन, यहाँ दुख ही प्रेमी का सुख है।
कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो, कर्म तुम्हारी भाषा।
हो सकर्म ही मृत्यु तुम्हारे जीवन की अभिलाषा॥"

अतः कहा जा सकता है कि उद्देश्य और सन्देश की दृष्टियों से 'पथिक' काव्य में समूची प्रबन्धात्मकता की सम्भावनाएँ अवश्य विद्यमान हैं। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण की दृष्टियों से भी कहा जा सकता है कि उसमें महाकाव्यात्मक औदात्य देखा जा सकता है। अन्य अनेक मानवीय विचारों और भावनाओं का औदात्य भी अवश्य ही काव्य में विद्यमान है। देश-काल और वातावरण की अभिव्यक्ति भी निश्चय ही व्यापक और सशक्त रूप में हुई है इसका — प्रकृति-चित्रण से संयत देश-काल और वातावरण के चित्रण का एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा सकता है:

"कदली-वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती।
क्यों नहीं यह गाँव वालों के जी की जलन मिटाती।
गेहूँ-चने, मटर जौ के हैं खेत खड़े लहराते।
क्या कारण है जो यहमन का कुछ न विषाद मिटाते॥

परन्तु इन तत्त्वों के अतिरिक्त प्रबन्धात्मक काव्यों में जिन अन्य तत्त्वों की अनिवार्यता मानी गई है, या जो व्यावहारिक दृष्टियों से स्वीकारे गए हैं, उनका यहाँ निश्चय ही अभाव है। उनमें से अनेक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अन्यों का सांकेतिक उल्लेख ही पर्याप्त है। अतः निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि महाकाव्यत्त्व या खण्ड काव्यत्त्व के कुछ तत्त्वों का समावेश और स्पष्ट आभास रहते हुए भी 'पथिक' काव्य को प्रबन्ध-काव्यों के

ऊपरोक्त किसी रूप के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

तो फिर इसका काव्य-रूप है क्या ?—स्वाभाविक प्रश्न उठता है। वास्तव में यह एक विचारणीय प्रश्न है। उत्तर पाना भी कोई सहज कार्य नहीं है। विचार-काव्य भी होते हैं, पर इसे बिचार-काव्यों की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता। क्योंकि यहाँ आदर्शात्मक भावनाएँ और भावुकता अधिक है। कथात्मकता होने के कारण यह केवल नीति-काव्य भी नहीं है। वीरता इसमें अवश्य है, पर वह करुण और शान्त में अधिक संयत एवं रक्षित है, अतः वीर-काव्य भी 'पथिक' को नहीं कहा जा सकता। एक स्वाभाविक कथा का निर्वाह होने के कारण इसे कथात्मक-काव्य सहज ही कहा जा सकता है। पर मुसीबत यह है कि कवि का उद्देश्य मात्र कथाकहना तो है नहीं। वह तो एक निश्चित उद्देश्य से परिचालित है। वह हमें राष्ट्रीयता की भावनाओं से संयत सन्देश देना चाहता है। सन्देश का भाव यहाँ सर्वाधिक स्पष्ट है और प्रमुख भी है। तो क्या हम 'पथिक' को कथात्मक-सन्देश-काव्य नहीं कह सकते ?

हमारे विचार में 'पथिक' को कथात्मक-सन्देश-काव्य कहना ही अधिक उचित एवं समीचीन है। क्योंकि कवि ने अपने भाव और विचार-लोक आदि के सभी क्षेत्रों में उत्तर का कोई न कोई सन्देश देने का ही सतत और स्पष्ट प्रयत्न किया है। काव्य के आरम्भ में हमें कवि कामन प्रकृति के सुरम्य-शान्त रूपों के वर्णनों में रमादिखाई देता है। वहाँ वह इस प्राकृतिक जीवन को अपनाने का ही सन्देश देता है। एक उदाहरण देखिये:

रत्नाकर गर्जन करता है, मलयानिल बहता है।
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये ! भरा रहता है।
इस विशाल, विस्तृत, महिमामय रत्नाकर के घर के।
कोने-कोने में लहरी पर बैठ फिरूँ जी भर के।।

इसी प्रकार कहीं वह इस असत्य, पाखण्ड, दीनता और पराधीनता से भी संसार को त्यागने का सन्देश देता है तो कहीं वह (योगीराज के उपदेश के बाद) जीवन के व्यापक परिवेश में आ गई। हीनताओं का परिदर्शन करके उनको यथासाध्य कर्म मार्ग पर चलकर दूर करने का सन्देश देता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

"केवल अपने लिए सोचते मौज भरे गाते हो।
पीते-खाते, सोते-जगते, हँसते, सुख पाते हो।
जग से दूर स्वार्थ-साधन ही सतत तुम्हारा यश है।
सोचो तुम्हीं, कौन अग जग में तुम-सा स्वार्थ-विवश है।।

ये सारी बातें 'पथिक' को सन्देश-काव्य ही प्रमाणित करती हैं। लेकिन उसमें सन्देश एक कथा के माध्यम से दिया गया है, अतः उसे 'कथात्मक-सन्देश-काव्य' कहना चाहिए। काव्य का यह सन्देश ही उसमें आद्यान्त मुखरित हुआ है:

"निज उन्नति का जहाँ सभी जन को समान अवसर हो।
शान्तिदायिनी निशा और आनन्द भरा वासर हो।
उसी सुखी स्वाधीन देश में मित्रो! जीवन धारो।
अपने चारु, चरित से जन में प्राप्त करो फल चारो।।

निष्कर्ष स्वरूप, उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम 'पथिक' के काव्य-रूप को 'कथात्मक-सन्देश-काव्य, ही कहना उचित मानते हैं। इसमें प्रबन्धात्मकता, भाव, विचार, नीति और उपदेश आदि के सामान्य रूप भी विद्यमान हैं अवश्य, पर सन्देश देने का भाव ही प्रमुख है।

—o—

प्रश्न ४:—'पथिक' एक प्रकृति-चित्रण-प्रधान काव्य है, इस बात को स्पष्ट करते हुए काव्य में वर्णित प्रकृति-सम्बन्धी कवि के विचारों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर :—श्री रामनरेश त्रिपाठी की गणना उन कवियों में की जाती है कि जिन्होंने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक काव्य-चेतना के प्रति विद्रोह करके नयी काव्य सारणी का मार्ग प्रशस्त किया था, वह मार्ग था स्वच्छन्दतावादी दृष्टियों से प्रकृति का चित्रण करना। इसी कारण अनेक समालोचकों का विचार है कि द्विवेदी-युग के बाद काव्य-रचना के क्षेत्र में जिस छायावादी काव्य प्रकृति का उदय हुआ था, उसकी पूर्व सम्भावनाएँ श्री रामनरेश त्रिपाठी और श्री श्रीधर पाठक की कविताओं में पूर्णतया विद्यमान थीं। यह युक्ति किसी भी रूप में अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं कही जा सकती। वास्तव में त्रिपाठी जी की

'स्वर्गीय वीणा' और 'काश्मीर-सुषमा' वर्णन जैसी कविताएँ छायावादी काव्य प्रवृत्तियों की समस्त सम्भावनाएँ अपने में छिपाए हुए हैं। इसी कारण त्रिपाठी जी को एक युग का प्रकृति का सुकुमार कवि और उनके काव्यों को प्रकृति प्रधान काव्य कहा जाता है।

श्री रामनरेश त्रिपाठी की प्रस्तुत सर्जना 'पथिक' यद्यपि अपने व्यापक अन्तराल में राष्ट्रीयता, कर्म परायणता, अहिंसा, सत्य, प्रेम, भाईचारे आदि के सन्देश छिपाए हुए है, फिर भी इसमें प्रकृति-चित्रण को विशेष महत्त्व मिला है—इस तथ्य में तनिक भी सन्देह नहीं है। इसी दृष्टि से काव्य को प्रकृति-प्रधान भी कहा जा सकता है। एक तो प्रकृति-चित्रणों में कवि का मन यों भी खूब रमा है, दूसरे आदि से अन्त तक किसी भी स्थिति में प्रकृति ने कवि का साथ नहीं छोड़ा है। साँसारिक वैषम्यों की तुलना में कवि ने सर्वत्र प्रकृति के सुखद-शान्त वातावरण को आद्यान्त प्रश्रय दिया है। वह प्रकृति को ईश्वर का रूप मानता है, इसी कारण उसे प्रकृति स्वर्गीय सन्देश रहस्यमय ढंग से देती हुई प्रतीत होती है। वह उन सुन्दर रहस्यमय तत्त्वों और दृश्यों में खो जाना चाहता है। इस खोने में ही वह जीवन की सार्थकता और मुक्ति मानता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख करके ही 'पथिक' काव्य में वर्णित कवि के प्रकृति-सम्बन्धी विचारों का सही रूप से मूल्याँकन किया जा सकता है।

प्रायः कवि प्रकृति का चित्रण तीन रूपों में किया करते हैं। वे रूप हैं—आलम्बन, उद्दीपन और सहज-स्वाभाविक। इस अन्तिम रूप को हम सामान्य प्रकृति-चित्रण भी कह सकते हैं। क्योंकि मित्रार विभोरता और नैसर्गिक आनन्द के इस प्रकार के वर्णन का अन्य कोई भी उद्देश्य नहीं हुआ करता। जहाँ तक 'पथिक' काव्य में श्री त्रिपाठी के प्रकृति-चित्रण का प्रश्न है, उपरोक्त तीनों रूप इस काव्य में मुक्त भाव से पाये जाते हैं। कवि प्रकृति को कुशल भावाभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम मानता है। कवि ने प्रकृति का आलंकारिक वर्णन भी किया है। काव्य के कथा-तत्त्व को अग्रसर करने के लिए भी प्रकृति-चित्रण का सहारा लिया है। इस प्रकार के चित्रणों का एक उदाहरण देखिए :

"उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन सीवामा।
कवि के स्वप्न समान, विश्वके विस्मय की अभिरामा॥

सिन्धु-गोद में लयसे पहले तरंगिता सरिता-सी।
आकर चकित हुई तट पर प्रियतम दर्शन की प्यासी।।

इतना ही नहीं, मनोभावों के प्रकृति के माध्यम से चित्रण करने में भी कवि निस्सन्देह कुशल है। जैसे :

"घुसा विषाद-कीट था कई उसके हृदय सुमन में।
मुख ऊपर दुख की छाया थी सन्ध्या सा उपवन में।।"

इसके वाद कवि प्रकृति के सहज स्वाभाविक और आनन्द दायक सौन्दर्य वर्णन में पूर्णतया रम जाता है। उसके इस वर्णन को हम आलम्वन-उद्दीपन कुछ भी नहीं कह सकते। क्योंकि यह सारा वर्णन केवल नैसर्गिक सौन्दर्य के चरित्र ही हमारे सामने उभरते हैं और पाठक का मन स्वतः ही उनकी ओर आकर्षित होता जाता है। वल्कि पाठक का मन यह भी चाहने लगता है कि वह स्वयं भी प्रकृति के इन शाश्वत सुन्दर और आनन्दमय रूपों का एक अंग वन जाए! इस प्रकार के वर्णनों का एक उदाहरण देखिये :

"प्रतिक्षण नूतन वेश वना कर रंग-विरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है।।"

तल्लीनता और आकांक्षाओं की इस गहनता में कवि प्रकृति के विभिन्न उपादानों में ईश्वरीय सत्ता का रहस्यमय ढंग से आभास पाने लगता है। उसे एक अनिन्द्य-सा स्वर्गीय संगीत सुनाई देने लगता है। और वह विभोर होकर गा उठता है।

"जब गँभीर तम अर्द्ध-निशामें जग को ढक लेता है।
अंतरिक्ष की छत पर तारों को छिटका देता है।
सस्मित वदन जगत का स्वामी मृदु गति से आता है।
तट पर खड़ा गगन-गंगा के मधुर गीत गाता है।।"

उस स्वर्गीय गीत की झंकार सुनकर, जगत के स्वामी के स्वर्गीय स्वरूप के दर्शन करके सारी प्रकृति जैसे मुस्करा करके खिल उठती है। सारी प्रकृति सजग-सी तन्मय दिखाई देने लगती है। कवि के शब्दों में :

"उस से ही विमुग्ध हो नभ में चंद्र विहंस देता है।
वृक्ष विविध पत्तों पुष्प से तन को सज लेता है।
पक्षी हर्ष सम्हाल न सकते मुग्ध चहक उठते है।
फूल सांस लेकर सुख की सानन्द महक उठते हैं॥"

प्रकृति के इस नैसर्गिक और संगीतमय का पान करके कवि की आत्मा में एक विचित्र-सी हलचल मच जाती है। उसके सामने उसे साँसारिक बातें और सौन्दर्य तुच्छ-से प्रतीत होने लगते हैं। वह सारे संसार का आह्वान करने लगता है कि आओ! और इस अनिंद्य सौन्दर्य-सुषमा में खो जाओ:

"वन, उपवन, गिरि, सानु, कुंज में मेघ बरस पड़ते हैं।
मेरा आत्म प्रलय होता है, नयन नीर झड़ते हैं।
पढ़ो, लहर, तट, तृण, तरु, गिरि, नभ, किरन जलद पर प्यारी।
लिखी हुई यह मधुर कहानी विश्व विमोहन कारी।

प्रकृति के प्राङ्गण में ही कवि जीवन के सच्चे प्रेम की कहानी के दर्शन करता है, अत: वह सारे जीवन के भौतिक रूपों को त्याग कर वह सभी को प्रकृति की गोद में आकर बसने और चिर शान्ति पाने का सन्देश देता है।

प्रकृति के इन स्वच्छन्द और मुक्त रूपों के अतिरिक्त कवि ने आलम्वन और उद्दीपन रूपों का भी काव्य में यथास्थल वर्णन किया है। आलम्बन रूप का एक उदाहरण देखें:

"कहते थे तुम-कोमलता नीरज की, ज्योति रतन की।
मोहकता शशि की, गुलाब की सुरभि शाँति सज्जन की।
रति का रूप, रंग कंचन का, लेकर स्वाद सुधा का।
विरचा है विधि ने मुख तेरा सुख लेकर वसुधा का॥"

इसी प्रकार प्रकृति के आलम्बन-रूप वर्णन के भी कुछ रूप हमें 'पथिक' काव्य में देखने को मिल जाते हैं। वहाँ कवि ने प्रकृति के कोमल और शान्त स्वरूप को ही अधिक प्रश्रय दिया है। इस प्रकार के दो उदाहरण देखें:

"रेणु, स्वर्ण-कण-सहस देखकर तट पर ललचाती हैं।
बड़ी दूर से चल कर लहरें मौज भरी आती हैं।
चूम-चूम निज देश-चरण वह नाच-नाच गाती हैं।
यह सोभा! यह हर्ष! कहाँ और वे जग में पाती हैं॥

क्योंकि इस प्रकार की शोभा और उसमें प्राप्त होने वाले सुख जग में कहीं भी विद्यमान नहीं है, अतः प्रकृति के इस वैभव के सामने संसार के समस्त वैभव हेय और त्याज्य हैं :

"परिमल प्रचुर समेट पार कर केलों की हरियाली।
सुन कर तार, खजूर, नारियल में स्वागत की ताली।
शीतल मन्द पवन आता है, जहाँ प्रतिक्षण प्यारी।
ताप तप्त जग कहाँ यहाँ से बढ़कर है सुखकारी॥"

अतः कवि नदी-नालों का रूप धारण करके, मलयज यवनका रूप धारण करके अर्थात प्रकृति काही एक सूक्ष्म-दृश्य रूप बनकर सदा-सर्वदा के लिए उसी में रम जाना चाहता है। वह गुलों को हंसाना, बुलबुलों को रुलाना, लता-मण्डपों को छोड़ना और बादलों की अविरल धारा में सभी को नहला देना चाहता है। तात्पर्य यह कि वह मानव-जीवन को प्रकृति के समान ही मुग्ध सुन्दर, शयाश्वत नम, करुण, प्रेममय आदि रूपों स्नात और विभोर देखना चाहता है।

यहाँ तक कवि के प्रकृति के सुरम्य एवँ प्रेरणादायक रूपों का ही वर्णन किया है उस में सभी दृष्टियों में मुक्त भाव ही प्रमुख है। पर आगे चल कर काव्य के तीसरे सर्ग में कवि ने देश-दशा के वर्णन के लिए प्रकृति को अपना आधार भी बनाया है। वास्तव में ऐसा कर के कवि यही स्पष्ट करना चाहता है कि प्रकृति के सौन्दर्य का मान वही व्यक्ति कर सकता है कि जो सभी प्रकार से स्वतंत्र है। प्रकृति के विविध रूप उसी के लिए प्रेरणादायक और जीवन के प्रेम-सैन्दर्य के अभिभावक हो सकते हैं कि जिसके मन में किसी भी प्रकार की दुश्चिन्ता और हीनता की भावना विद्यमान नहीं है। जिस देश की दशा दीन-हीन और सभी दृष्टियों से पराधीन हो, वहाँ के निवासी प्रकृति के सैन्दर्य का मान कर के कैसे सुखी और सन्तुष्ट हो सकते हैं? अतः देश-दशा का वर्णन करते समय कविको प्रकृति के वही रूप जो पहले सुन्दर प्रतीत होते थे, अब वे फीके और व्यर्थ से लगने लगते हैं। उनमें कोई ज्ञान-रूप दिखाई नहीं देता :

"छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जलवाला।
बहता है अविराम निरन्तर कल-कल स्वर से नाला॥

अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि-माला ।
किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द-उजाला ।।

प्रकृति का यह मनोरम रसिकों की नकारात्मकता का संकेत वन जाता है उसमें कोई रस-रमणीयता नहीं दिखाई देती । प्रकृति के स्वरूप और सौन्दर्य भाव में कहीं कोई कम भी नहीं है । पर जब जीवन ही अभावों की दलदल बन कर रह गया हो तो प्रकृति भी क्या कर सकती है :

"घेर रही है जिसे पल्लवित लता सुगन्धित झाड़ी ।
छाया-शपित सघन आच्छादित कुंचित पंथ पहाड़ी ।।
सर्वोपरि उन्नत मन की सी लक्षित अचल उँचाई ।
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई ।।

कवि का मन चिन्तित हो उठता है प्रकृति के सारे सुरम्य दृश्य क्यों नहीं किसी को आकर्पित कर पाते ? क्यों प्रकृति के ये रूप विस्मृत और तिरस्कृत होकर रह गए हैं :

"नालों का संयोग, साँझ का समय घना जंगल है ।
ऊँचे-नीचे खोहे कगारे निर्जन बीहड़ थल हैं ।
रह-रह कर सौरभ समीर में हैं वन पुष्प उड़ाते ।
ताप तप्त जन यहाँ न क्यों आकर एक क्षण जुड़ते ।।"

उपरोक्त विवेचन एवं प्रदत्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'पथिक' काव्य के कवि ने प्रकृति के सभी प्रकार के रूपों का मुक्त भाव से वर्णन किया है । उस वर्णन में प्रायः स्वाभाविकता के तत्त्व सर्वत्र विद्यमान हैं । परन्तु कहीं-कहीं कवि ने वस्तु-गणना-पद्धति को भी अपना लिया है, जिस कारण प्रकृति-चित्रण की स्वाभाविकता, उसका सौन्दर्य और उससे प्राप्त होने वाले आनन्द के भाव स्खलित होते हुए-से दिखाई देने लगते हैं । इस प्रकार का एक ही उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर देना पर्याप्त होगा :

"पंकज, रम्भा, मदन, मल्लिका, पोस्त, गुलाब-मुकुल का ।
रक्तक, कुन्द-कली, पिक, किंशुक, नरगिस, मधुकर-कुल का ।
संग्रह है चम्पक, शिरीषका धर्म-सुरभिमय नारी ।
मानो फूल रही है सुन्दर घर-घर में फुलवारी ।।"

इस प्रकार के वर्णनों से एक बात अवश्य ही स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि कवि को प्रकृत्ति के विभिन्न रूपों और उपादानों के नामों से निकट का परिचय है। उसने प्रकृति के उन सभी रूपों को अति निकट से देखा है। तभी वह इन सब का वर्णन इतनी कुशलता और अपनत्व के साथ कर सका है।

विरह-वर्णन के लिए भी 'पथिक' काव्य में सामान्यतया प्रकृति को आधार बनाया है। ऋतु-वर्णन या बारह मासा आदि के वर्णनों की प्रणाली यहाँ नहीं मिलती ! जैसे—'देता है सूचना पपीहा, हवा किवाड़ बजाती' और :

"रिमझिम बरस रहे सावन-घन उमड़-उमड़ अलबेले।
तारुतल कहीं भीगते होंगे मेरे पथिक अकेले।"

जैसे वर्णन विरह-भाव से संयत हैं। इस सारे विवेचन के आधार पर अन्त में यही कहा जा सकता है कि कवि में प्रकृति निरीक्षण और सजीव वर्णन की अद्‌भुत शक्ति विद्यमान है। वह सभी प्रकार के भावों को अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को माध्यम रूप से अपनाने में विशेष सिद्धहस्त है। वह प्रकृति के सुरम्य वातावरण में विचर कर मुक्त आनन्द लेना भी जानता है और उसके आधार पर जीवन के विविध आयामों और भावों के चित्रण में भी सशक्त है। अतः 'पथिक' काव्य का प्रकृति-चित्रण सभी दृष्टियों से सजीव सशक्त और ग्राह्य ही कहा जायगा।

—०—

प्रश्न ५:—'पथिक' काव्य के आधार पर देश-काल की परिस्थितियों का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

उत्तर :—श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' काव्य की रचना सन् १९२० के आस-पास की थी। उस समय हमारा देश सभी दृष्टियों से पराधीन था। स्वतंत्र होने की भावना और आन्दोलन अभी अपनी शैशवी अवस्था में ही थे। देश का जागरूक और बुद्धिजीवी वर्ग अपने-अपने ढंग से देशवासियों के मन में स्वतंत्रता की चेतना जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न कर रहा था। उस समय मुख्य आवश्यकता थी देश की उन परिस्थितियों के अध्ययन की, कि जिन्होंने सामान्य जनों को पददलित और अनेक प्रकार की शोषित परिस्थितियों

में डाल रखा था। क्योंकि देश की सही दशा का ज्ञान प्राप्त करके ही विषमताओं से संघर्ष छेड़ा जा सकता था और देश को सभी प्रकार की स्वतंत्रता के मार्ग पर अग्रसर किया जा सकता था। देश की दशा वास्तव में अत्यधिक दीन-हीन थी और यह भी एक वास्तविकता है कि उसे जान कर जन-हित की भावना से कर्म करने वालों का भी देश में अभाव था। परिणामस्वरूप चारों ओर निराशा का वातावरण छा रहा था। यदि कोई व्यक्ति साहस करके देश की विषमताओं, दुर्दशा और शोषणों के विरुद्ध आवाज उठाने का प्रयत्न करता भी था, तो ब्रिटिश सरकार का दमन-चक्र उसे कुचल करके रख देता था। ऐसे आतंक और विषमतापूर्ण युग में 'पथिक' जैसे प्रेरणादायक काव्य की रचना करना, फिर उसमें देश की दयनीय परिस्थितियों का यथातथ्य वर्णन करना वास्तव में अत्यधिक साहस और सूझ-बूझ का काम था। कविवर श्री रामनरेश त्रिपाठी ने वास्तव में, इस दिशा में कदम बढ़ा कर कवि और साहित्यकार के दायित्व का निर्वाह बड़ी कुशलता से किया, इस कारण हिन्दी साहित्य और देश उनका चिर ऋणी रहेगा।

देश काल की परिस्थितियों के अध्ययन की दृष्टियों से 'पथिक' काव्य का तीसरा सर्ग विशेष महत्त्वपूर्ण है। इससे पहले उपदेश देकर उसके मन में कर्मण्यता और राष्ट्र-सेवा की भावना पूर्णतया जगा देते हैं। उसी से अनुप्राणित होकर पथिक अपना कार्य आरम्भ करने के लिए पहले समूचे देश का भ्रमण करता है। भ्रमण के दौरान वह देश के जिस रूप का दर्शन करता है, वही वास्तव में देश-काल की परिस्थितियों का दर्शन है और उसका चित्रण काव्य में निश्चय ही बड़े सजीव तथा सबल रूप से हुआ है। देश-काल और परिस्थितियों का चित्रण कवि ने राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-वन्दना से आरम्भ किया है :

"फिर उसने विस्तृत स्वदेश की ओर दृष्टि निज फेरी।
कहा—अहा ? कैसी सुन्दर है जन्मभूमि यह मेरी।
भक्ति, प्रेम, श्रद्धा से उसका तन पुलकित हो आया।
रोम-रोम में सेवा-व्रत का परमानन्द समाया।।"

परन्तु 'सेवा व्रत का परमानन्द' प्राप्त करने से पूर्व देश-दर्शन आवश्यक था। इस लिए :

"अतः निरन्तर एक वर्ष तक दृढ़ निश्चय कर मन में।
लगा रहा वह प्रान्त-प्रान्त में देश-दशा-दर्शन में।"

देश की दशा का वर्णन करने के लिए कवि ने पहले जन-जीवन के अन्तराल में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। पथिक देखता है कि वाह्य रूप से देश में किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। चारों ओर प्रकृति के निभृत सौन्दर्य का एकान्त राज्य है। नदियाँ, झरने, हरियाली, अनाज क्या नहीं है। इस देश में फिर भी लोगों के मन में बुझे-बुझे से, उदास और निराश हैं! वह ग्रामों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है :

"छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जल वाला।
बहता है अविराम निरन्तर कल-कल स्वर में नाला।
अतनि दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि-माला।
किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द उजाला॥"

हो सकता है कि जीने योग्य पदार्थों के अभाव के कारण प्रकृति के अनेक प्रकार के सुरम्य रूप जन-मानस में आनन्द उजाला भर पाने में असमर्थ हो रहे हों! पर ऐसी बात भी तो नहीं थी। क्यों कि इन वस्तुओं का अभाव जीवन में कहीं भी नहीं था। कवि के शब्दों में पथिक देखता है कि :

कदली वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती।
क्यों नहीं यह गाँव वालों के जी की जलन मिटाती।
गेहूं, चने, मटर, जौ, के हैं खड़े खेत लहराते।
क्या कारण है जो ये मन का कुछ न विषाद मिटाते।

स्पष्ट है कि देश में अभाव नहीं था, फिर भी यहाँ अभाव जैसी स्थिति बनी हुई थी। तभी तो ग्राम्य जनों के मन किसी प्रकार के सुख का अनुभव न कर निराशा की अतल गहराइयों में डुबे हुए थे। उधर प्रकृति के रंग—ढंग भी अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ पूरे यौवन पर थे। कोयल के अलाप, पपीहे की विरहाकुल वाणी, तोता-मैना के विवाद, मधुर गीत गाकर खेतों में काम कर रही तरुणियां, चित्र-विचित्र कुसुम, लतिका लिङ्गित वृक्ष, दर्पण से चमकते सलिलाशय, क्या नहीं था यहां! पर जाने क्यां, यह सब जन-मन में आ गए अभाव को नहीं भर पा रहा था! अतः कवि आश्चर्य से भर

कर कह उठता है :

प्रातःकाल ममत्वहीन वे कहाँ-कहाँ उड़ जाते।
जग को है अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते।
यह सब देखा नहीं क्यों मन में उत्तम भाव समाते ?
लोग वहाँ पर बैठ घड़ी-भर क्यों न सीख कुछ पाते ।।"

देश दर्शन के इस प्रसंग में कवि की चेतना में कुछ धार्मिक रहस्यमता के भाव भी उभर आते हैं। वह सोचता है देश की सारी प्रकृति में, कण-कण में एक ईश्वरी सत्ता का आभास मिलता है। पर जाने क्यों लोगों का ध्यान इस ओर क्यों नहीं जाता ? ईश्वरी सत्ता के दर्शन से जो आनन्द प्राप्त हो सकता है। आज देश की मनोचेतना उससे भी क्यों कर वंचित होकर के रह गई है :

"एक मधुर संगीत हो रहा है ब्रह्माण्ड-भवन में।
उसकी एक ध्वनि गूँज रही है अणु, परमाणु, गगन में।
+ + +
एक-एक तृण बतलाता जगदीश्वर की सत्ता।
व्यापक हैं लघु से लघु में भी उसकी विपुल महत्ता।
अब विश्वास रहा क्या उसकी महिमा पर न किसी को।
भूल गए अपने से पहले क्या, सब लोग उसी को ।।"

योगी, साधु संन्यासी तो इसी संगीत को सुन कर, इसी अलक्षित सत्ता के दर्शन करके संसार के समस्त बन्धनों से ही मुक्ति पा लेते हैं, फिर हम लोग जीवन में भर आई इस निराशा से ही मुक्ति क्यों कर नहीं प्राप्त कर पाने में समर्थ हो पा रहे हैं ? समाज के, देश के वाह्य रूपों से निराशा और उदासीनता के आन्तरिक भावों का दर्शन करने के बाद में पथिक ने ही एकदम जन जीवन में रह कर उसकी दशा और परिस्थितियों के अध्ययन का निश्चय किया। लेकिन वहाँ भी उसके हाथ निराशा ही लगी :

"उसने बाहर से स्वदेश को अति विषादमय पाया।
तब भीतर की दशा देखने वह समाज में आया।
जब उसने सर्वत्र दुखी के भीषण द्रश्य अवलोके।
उसका हृदय विदीर्ण हो गया, आँसू रुके न रोके ।।

उसने समाज के भीतर प्रवेश करके जो विषमता और विषादपूर्ण दृश्य देखे, वे अत्यधिक,चौंका देने वाले थे। देश की परिस्थितियाँ वास्तव में बड़ी ही भयानक थीं :

धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर-घर में।
माँस नहीं है, निरी साँस है, शेष अस्थि-पंजर में।
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं हैं रहने का ना ठिकाना।
कोई नहीं किसी का साथी अपना और बिगाना॥"

कितनी विषम स्थिति थी देश की! जहाँ सब कुछ था, वहां इतना अभाव और उत्पीड़न कि लोग भूखे, नंगे और ला-मकान कर अत्यधिक पीड़ित हो रहे हैं। करोड़ों लोग अपने ही पेट के भूख की आग में जल कर मर रहे हैं। रात-दिन में एक वार भी तो भर-पेट भोजन आम लोगों को नहीं मिलता। लोग कठिन परिश्रम करके भी अपने अभावों को नहीं भर पाते! उनकी परिश्रम करने के बाद भी वास्तविक स्थिति यह है कि :

"खाते हैं गम और आँसुओं से ही प्यास बुझाते हैं।
लेकर आयु विवध रोगों की हैं दिन-रात बिताते।
फटे पुराने चिथड़ों से ही ढके किसी विधि तन हैं।
कैसे सियें, सुई-तागे से भी नितान्त निर्धन हैं॥"

तब उसे इन सब विषमताओं के मूल कारणों को खोजने के लिए विवश होना पड़ा। कारण खोजने पर पता चला कि इन सब के मूल में राजनीतिक विषमताएँ और पराधीनता ही मुख्य हैं! वही सब कुछ छीन कर देश वासियों को दाने-दाने के लिए मुहताज और स्वतन्त्र कर रही हैं :

"शासक-दल असहाय प्रजा को घोर कष्ट देता है।
रक्षक से भक्षक बनता है सरबस हर लेता है।
अटल दीनता का चंगुल है, साथी कौन किधर है।
हरदम सिर पर मौत खड़ी है, आठों पहर ईश्वर है॥

परिणाम स्वरूप चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही है। दीनता ने लोगों के समस्त सदगुणों को नष्ट कर दिया है। दुर्गणों में प्रवृति बढ़ती ही जाती है। झूठ, दम्भ, विश्वासघात, छल-कपट, अनीति, अन्याय का आलम्बन ही उन्नति

सफल प्रयत्न करता है कि अन्त में राजनीति के लुटेरों को इस देश से विदा हो जाना पड़ता है। कवि ने देश की परिस्थितियों का वर्णन करने के बाद बहुत पहले जो अपने काव्य में देश को स्वाधीन और प्रजातान्त्रिक ढाँचे में ढलते हुए दिखाया है उसकी कामना और भविष्यवाणी आज पूर्ण हो चुकी है। देश की परिस्थितियों का वर्णन करके उसके देश के भविष्य की कल्पना भी अपने कथा के नायक के मुख से करवाई है। पथिक कहता है कि हमें ऐसे देश का निर्माण करना है कि :

> "निज उन्नति का जहाँ सभी जन को समान अवसर हो ॥
> शान्तिदायिनों निशा और आनन्द-भरा वासर हो।
> उसी सुखी स्वाधीन देश में मित्रो! जीवन धारों!
> अपने चारु चरित से जग में प्राप्त करो फल चारों।

इस प्रकार, उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि 'पथिक' काव्य में देश-काल की परिस्थितियों का बड़ा ही सशक्त और सजीव वर्णन हुआ है। हमारे व्यक्तिगत विचार में काव्य का सर्वाधिक उज्जवल और सफल पहलू यह देश-दर्शन ही है। क्यों कि उसके बाद ही कवि ने अपने उद्देश्य के अनुरूप सन्देश भी दिया है और 'पथिक' सच्चे अर्थों में एक 'सन्देश-काव्य' बन पाया है।

आवश्यक व्याख्या-स्थल

१. राग-रथी, रवि-राग-पथी..............आकर धीरे-धीरे। (पृष्ठ-१७)

शब्दार्थ :—राग-रथी—राग अर्थात् लाल रथ वाला। रवि-राग-पथी लालिमा के पथ का पथिक, सूर्य। अविराग—अनुराग। अति मुदित—अत्यन्त प्रसन्न। उदधि—समुद्र। वीचि-विचुम्बित—लहरों का स्पर्श। तीरे—किनारे पर। प्राची से—पूर्व दिशा से।

प्रसंग—यह पद्य श्री रामनरेश त्रिपाठी के काव्य 'पथिक' के पहले सर्ग का पहला पद्य है। इसमें कवि ने काव्य का आरम्भ करने के लिए प्रातःकाल-सूर्योदय के दृश्य का वर्णन किया है। सूर्य की लालिमा के चारों ओर छा जाने के दृश्य का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :

का साधन बन कर रह गया है। पेट की भूख इस सीमा तक व्यापक हो गई कि उन्नति एवं विकास का कोई अच्छा मार्ग दिखाई ही नहीं देता। सत्य, धीरता, विश्वास, सुजनता, पौरुष आदि सभी कुछ पैसे के नाम पर बिकने लगा है। कहीं न्याय भी नहीं मिलता। अपराधी स्वतन्त्र घूमते हैं और निरप-राध दण्डित किये जाते हैं अतः :

''समझ लिया तत्काल पथिक ने कारण इस दुर्गति का।
है सिद्धान्त प्रजा की उन्नति के प्रतिकूल नृपति का।
राजकार्य संचालनार्थ ही कुछ शिक्षा प्रचलित है।
कठिन व्याधि है विसुध प्रजा का अधःपतन निश्चित है।

शिक्षा का उद्देश्य शासन चलाने के लिये क्लर्क पैदा करना और लोगों को चरित्रहीन बनाना रह गया है। राजा या शासकों की नीति ही यही है कि जन-मानस को विकसित न होने दिया जाय, ताकि उसे हमेशा गुलाम बनाए रख कर अनीति सहन के लिए तत्पर रखा जाय। पथिक का ध्यान इस ओर भी जाता है कि हमारे देश में कुछ सजग विचारधारा वाले लोग अवश्य हैं, किन्तु वे भी अपने स्वार्थों में लीन हैं! उनके मन भी कलुषित वासनाओं के शिकार हैं। कुछ लोग कोरी 'वाह-वाह' के ही इच्छुक बन कर जन-हित के नाम पर अपने स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं! कइयों ने तो देश-प्रेम और सेवा-कार्य को भी धन कमाने का साधन-मात्र बना लिया है। अपने स्वार्थों की पूर्ति की इच्छा में प्रजा का वास्तविक हित-चिन्तक कोई भी कहीं दिखाई नहीं देता ऐसी स्थिति में।

''आन्दोलित अनेक लहरों से भ्रमित, न एक सहारा।
पा सकती स्वदेश की नौका नहीं अभीष्ट किनारा।।

इस प्रकार देश-दशा का दर्शन करा कर कविने यह प्रेरणा दी है कि देश के जागरुक बुद्धिजीवियों को आगे मैदान में आकर देश की उन्नति के कार्यों में दत्तचित्त हो जाना चाहिए इसी कारण कवि अपने कथा-नायक 'पथिक' को जन सेवा के कार्यों में, जन-जागृति के कार्यों में अनवरत तत्पर कर देता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के पास जा कर उन्हें उनके मानवीय अधिकारों से अलग करता है। उन्हें एक ऐसे शान्त और अहिंसक आन्दोलन के लिए तैयार करने का

व्याख्या—लालिमामय रथ वाला और उज्वज्ल लालिमा के पथ की ही यात्रा करने वाला सूर्य अपने अनुराग से आनन्दित करने वाला एक बसेरा है। अर्थात् प्रातःकाल के सूर्य की लालिमा सारे संसार को आनन्द का आधार प्रदान करने वाली है ! एक दिन अत्यन्त अनुराग और आनन्द के समुद्र के किनारे, जिसे उठने वाली लहरें चूम रही थीं—अर्थात् लहरें किनारों का स्पर्श कर रही थीं, जिस प्रकार अचानक सुख प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे पूर्व दिशा को सुखी बनाने के लिए सूर्य मिला, अर्थात् प्रातःकाल सूर्योदय हुआ।

भाव यह है कि प्रातःकाल सूर्योदय हुआ और उस की उजली लालिमा ने चारों ओर आनन्द और उल्लास का वातावरण छा दिया।

विशेष :—पद्य में अनुप्रास, उपमान, रूपक और वीप्सा आदि अलंकारों की छटा स्पष्ट देखी जा सकती है।

११. कामना और नहीं कुछ मेरी................कुछ मेरी। (पृष्ठ-१९)

शब्दार्थ :—कामना—इच्छा। अविरल—लगातार। ताप तप्त—दुखों से पीड़ित। यातना—पीड़ा। उच्छ्वास-तरंग—आह रूपी लहर ! ध्वनित करे—गुंजित करे। भूतल—पृथ्वी।

प्रसंग :—'पथिक' काव्य के कथानक के अनुसार नायिका का पति अचानक घर त्याग कर जंगल में निकल जाता है। तब नायिका भी उसे खोजती हुई घने जंगल में पहुंच अपने पति को प्रकृति के सौन्दर्य में खोया हुआ देखती है। उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वह गाने लगती है :—

व्याख्या :—अपने पति के दर्शन पाकर आज मेरा जीवन धन्य हो गया है। इसके बाद अब मेरे जीवन में अन्य किसी भी प्रकार के सुख की कामना नहीं रह गई है। अतः हे मेरे प्रभु ! मेरे इन नयनों से इस आनन्द की धारा निरन्तर इसी प्रकार से प्रवाहित होती रहने दो। ताकि मेरे आंसुओं की यह करुणा-धारा संसार के दुःखों से पीड़ित लोगों के द्वार को सिंचित करके हमेशा से उन्हें सुखों की शीतलता प्रदान कर पाने में समर्थ होती रह सके। कठोर पीड़ाओं के कारण मेरे हृदय से निकलने वाली आहें एका एक उछल पड़ने वाली लहरें बन जायँ। इन लहरों को मेरा हृदय चीर कर इसी प्रकार से हमेशा प्रवाहित होती रहने दो और मैं नहीं चाहती कि संसार के दुखिया लोगों के दुःखों से कभी मेरा साथ छूटे मेरा हाहाकार प्रत्येक क्षण सारे संसार में

गूँजता रहे। ताकि उसके परिणामस्वरूप सारे संसार के समस्त प्राणियों के हृदयों में दया का संचार होता रहे। बस, इससे बढ़कर जीवन में मेरी अन्य कोई कामना नहीं है।

भाव यह है कि दुःख और पीड़ा का भाव ही व्यक्तियों को संसार के अन्य लोगों के साथ सम्बन्धित करके दया और करुणा का संचार कर सकता है। इसी में ही जीवन की सार्थकता है।

विश्वास :—'उच्छ्वास-तरंग' आदि पदों में रूपक की योजना हुई है। 'अविरल धार' और 'ताप-तप्त' आदि पदों में अनुप्रास की स्पष्ट योजना हुई है। करुणा की भावना यहाँ प्रमुख है।

१५, १६. प्रतिक्षण नूतन वेश………………जी भर के। (पृष्ठ-१९-२०)

शब्दार्थ :—वारिद माला—बादलों की पँक्तियाँ। घन पर—बादलों पर। बिचरूँ—भ्रमण करूँ। रत्नाकर—समुद्र। मलयानिल—प्रातःकाल का सुगन्धित पवन।

प्रसंग :—पथिक की पत्नी उससे घर वापिस लौट चलने का आग्रह करती है। परन्तु पथिक का मन प्राकृतिक सौन्दर्य में ईश्वर की लीलाओं के दर्शन करके कुछ इस सीमा तक रम चुका है कि वह घर वापिस जाने से इनकार कर देता है। अपनी पत्नी के सामने प्राकृतिक शोभा के आकर्षण और अपनी इच्छाओं का वर्णन करते हुए पथिक कर रहा है :

व्याख्या :—हे प्रिये ! देखो, बादलों की पँक्तियाँ प्रत्येक क्षण नये वेष-भूषे में सज-धजकर यहाँ सूर्य के सामने एक नर्तकी के समान नाचती-थिरकती रहती हैं। यहाँ नीचे तो नीले रंग का आभास देने वाला गहरा समुद्र हमेशा लहराता रहता है जो कि मन की गहराई और ईश्वर के रहस्यों की गहराई के समान भी गहरा है। ऊपर नीला आकाश हैं, जो कि आत्मा और परमात्मा के तत्त्वों के समान ही ऊँचा, गहरा और रहस्यमय है। अतः मेरा मन तो अब यही चाहता है कि मैं और सब कुछ छोड़-छाड़ कर, बादल के किसी टुकड़े पर बैठ कर समुद्र और आकाश के बीच हमेशा विचरण करता रहूं। अर्थात् प्रकृति के इस प्राकृतिक सौन्दर्य का हमेशा अनुभव करता रहूं।

देखो प्रिये ! ईश्वरीय महिमा का गान करने के लिए समुद्र हमेशा गम्भीर स्वरों में गर्जता रहता है। सुगन्धित प्रातःकालीन पवन हमेशा प्रवाहित होकर

आनन्दित करता रहता है। यह सब देखकर मेरे मन में हमेशा यह उत्साह-सा भरा रहता है कि मैं इस महिमामय और दूर-दूर तक फैले हुए विशाल समुद्र की लहरों पर हमेशा तैरता रहूँ। प्रकृति के कोने-कोने में जाकर इसके अनिन्द्य सौन्दर्य का मूल भाव से हमेशा पान करता रहूं।

भाव यह है कि ईश्वरीय गरिमा और रूप की झलक देने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य के सामने मेरे लिए साँसारिक सुखों और भोगों का कोई भी महत्त्व नहीं है!

विशेष:—पद्य-खण्डों में अनुप्रास, उल्लेख, वीप्सा आदि कई अलंकारों की सहज छटा दर्शनीय है। यहाँ कवि का उद्देश्य प्रकृति का चित्रण करना भी प्रतीत होता है!

१७, १८. निकल रहा है जलनिधि.........भरी कल्याणी। (पृष्ठ-२०)

शब्दार्थ:—जलनिधि-तल पर—सागर की सतह पर। दिनकर बिम्ब-सूर्य का प्रतिबिम्ब, गोला। कमला=लक्ष्मी। कंचन मन्दिर=सोने का मन्दिर। कांत=सुन्दर। कंगूरा=बुर्ज। रत्नाकर=समुद्र। अनुराग भरी=प्रेम से पूरित। कल्याणी=कल्याण चाहने या करने वाली।

प्रसंग:—अपनी पत्नी के सामने प्राकृतिक सौन्दर्य और सूर्योदय के दृश्य का आलंकारिक भाषा में वर्णन करते हुए पथिक कह रहा है:—

व्याख्या:—देखो प्रिये! समुद्र की सतह से सूर्य का अधूरा बिम्ब निकल कर प्रकाशित होने लगा है। इस अधूरे निकले सूर्य को देखकर लगता है कि मानों यह सागर-कन्या लक्ष्मी के सुनहले मन्दिर का कोई बुर्ज है कि जो सहसा पानी की सतह पर उभर आया है। अथवा सूर्य के इस अधूरे बिम्ब को देखकर प्रतीत होता है कि अपनी इस पवित्र भारत-भूमि पर धन की देवी लक्ष्मी की सवारी को लाने के लिए समुद्र ने सोने की बहुत ही प्यारी लगने वाली कोई सड़क बना दी हो।

देखो प्रिये! समुद्र कितनी निडरता, दृढ़ता और गम्भीरता की भावना से गरज रहा है। एक के बाद एक लहर का मचलना देखने में कितना सुन्दर-अति सुन्दर प्रतीत हो रहा है। यह सब देख-सुन कर अब तुम ही बताओ कि जो सुख प्रकृति की इस सुषमा है, वह प्राणी को अन्यत्र कहाँ सुलभ हो सकता है! हे कल्याणी! हे प्रेममयी! तुम भी मेरे समान प्राकृतिक सौन्दर्य से

प्राप्त होने वाले सच्चे सुख का अनुभव करने की चेष्टा करो। तव तुम्हें भी इस सब की तुलना में संसार का सुख निरर्थक-सा प्रतीत होने लगेगा।

भाव यह है कि प्रकृति अनिन्द्य सुन्दरी है और उसका दर्शन तथा सहचर्य वास्तविक सुखों का विधायक है। इसकी तुलना में साँसारिक सुखों का कोई महत्त्व और मूल्य नहीं है।

विशेष:—पहली चार पंक्तियों में क्रमशः उत्प्रेक्षा, उल्लेख, वर्णन और सन्देह आदि अलंकार हैं। आगे वाली दो पंक्तियों में उल्लेख अलंकार है। अनुप्रास की छटा सर्वत्र विद्यमान है।

१६, २०. जब गम्भीरतम अर्द्ध निशा····· महक उठते हैं। (पृष्ठ-२०)

शब्दार्थ:—गम्भीरतम=गहरा अन्धेरा। अर्द्ध निशा में=आधी रात में। अन्तरिक्ष की छत पर=आकाश पर। सम्मित-वदन=मुस्कराता मुख। मृदु गति से=मन्द चाल से, धीरे-धीरे। विमुग्ध=विभोर, मस्त। विविध=अनेकों।

प्रसंग:—रात्रि के बाद प्रातःकाल होने और प्रकृति के समस्त वातावरण के खिलकर हलचलमय हो जाने के दृश्य का वर्णन करते हुए पथिक अपनी पत्नी से कह रहा है:—

व्याख्या:—जब रात्रि का गहरा अन्धेरा आधी रात के समय छा कर सारे संसार को अन्धकारमय बना देता है, और उसके बाद आकाश पर जगमगाते हुए तारे छिटककर छा जाते हैं, उन मौन और शान्त क्षणों में सारे संसार का मालिक मन्द गति से आकर आकाश-गंगा के किनारे खड़ा हुआ मुझे कोई मधुर गीत गाता हुआ सुनाई तथा दिखाई देता है। उसके गीत की मधुर ध्वनियों से मस्त-विभोर होकर तब आकाश पर चाँद हँसने लगता है—अर्थात् चाँद की चान्दनी प्रकाशित होकर के सभी को जगमगा कर मस्त-मुग्ध कर देती है। तब वृक्ष भी अनेक प्रकार के पत्तों और पुष्पों से जैसे अपने शरीर को सजा लेते हैं—अर्थात् प्रातःकाल हो जाता है। उस सौन्दर्य को देख कर जैसे पक्षी अपनी प्रसन्नता को सम्हाल नहीं पाते और मस्त होकर चहकने लगते हैं। इस सारे सुन्दर दृष्य से मुग्ध होकर फूल भी सुख की साँस लेते हुए आनन्दपूर्वक महक उठते हैं—अर्थात् फूलों के खिलने से चारों ओर का वातावरण सुगन्धित हो जाता है।

भाव यह है कि प्रकृति का जो सुन्दर विकास-क्रम है, वह हमें अपने प्रत्येक कार्य में ईश्वरीय सत्ता और शक्ति का आभास देता है। उसके आगे संसार के सुख-सौन्दर्य स्वतः ही फीके पड़ जाते हैं।

विशेष:—दोनों पद्य-खण्डों में प्रकृति के विकास-क्रम का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण यहाँ स्वाभावोक्ति अलंकार है। अनुप्रास अलंकार की छटा सर्वत्र विद्यमान है।

२१, २२. वन, उपवन, गिरि, सानु····अतिशय सुन्दर है। (पृ० २०-२१)

शब्दार्थ:—गिरि=पर्वत। सानु—पहाड़ों की चोटियाँ। मेघ=बादल। आत्म-प्रलय=आत्मा में हलचल होना। नीर=पानी, आँसू। तृण=घास। तरू=वृक्ष। जलद=वादल। विश्व-विमोहनहारी=संसार को मोहित करने वाले। अतिशय=अत्यधिक।

प्रसंग:—प्राकृतिक सौन्दर्य का क्रमशः वर्णन करने के वाद पथिक अपनी पत्नी से कहता है कि मेरा जी तो अव यही चाहता है कि मैं इसी का एक अंग वनकर जीवन भर यहीं रहूं। अतः मेरे घर लौटने का अव प्रश्न ही नहीं उठता। पथिक कह रहा है:

व्याख्या:—प्रकृति के ये विभिन्न उपकरण—वन, उपवन, पर्वत और उनकी ऊँची चोटियाँ, घने वृक्षों के कुँज, इन सब पर जब बादल वरसते हैं तो इनका रूप-रंग और भी अधिक निखर पड़ता है। यह सब दृश्य देखकर मेरी आत्मा में तो एक अकथनीय हलचल मच जाती है और मेरी आँखों में अनन्त आनन्द के आँसू झरने लगते हैं। अतः हे प्यारी। तुम भी लहरों नदियों के किनारों, घास-वृक्षों और पत्तों, पहाड़ों, आकाश, किरणें और वादलों में जो सौन्दर्य और रहस्य छुपा है उसे पढ़ने-अर्थात् समझने का प्रयत्न करो। इन सब के कण-कण पर सारे संसार को मोहित करने वाली एक अत्यन्त मधुर कहानी लिखी हुई है। अर्थात् ये सब सौन्दर्य के स्रोत हैं और अनन्त आनन्द का सन्देश देते हैं।

प्रकृति के प्रेम की यह कहानी कितनी उज्ज्वल, मनोहर और अनुराग-मयी है। मेरे जी में तो आता है कि मैं स्वयं इस प्रेम-कहानी के वर्णन का एक अक्षर बन जाऊँ और सारे संसार की वाणी में गूँजने लगूँ। अर्थात् मेरे प्रकृति-प्रेम का यह भाव सारे संसार का भाव बन जाय। प्रकृति-प्रेम का यह

रूप पवित्र होने के साथ-साथ हमेशा रहने वाला है। यह आनन्द का रूप और भाव हमेशा प्रवाहित अर्थात् गतिशील रहने वाला है। इसी में चिरसुख और शान्ति की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। आहा! मेरे प्रकृति-प्रेम का यह राज्य वास्तव में सुन्दर है! अत्यधिक सुन्दर और मोहक है।

भाव यह है कि इस संसार में सच्चे सुख-शान्ति की प्राप्ति यदि कहीं सम्भव हो सकती है, तो केवल प्रकृति के साम्राज्य में ही रूपों की प्रकृति शाश्वत है और ईश्वरीय सत्ता का आभास कराती है।

४७, ४८. शारीरिक वासना-तृप्त.........कहाँ है जन का। (पृ०-२५)

प्रसंग:—पथिक उसे लौटाने के लिए आई अपनी पत्नी के सामने प्राकृतिक-सौन्दर्य और प्रेम का वर्णन करता है। उस पर भी पत्नी उसे अपने सुख-सुहाग का वास्ता देकर वापिस लौट चलने की प्रेरणा देती है। तब प्रेम के वासनामय रूप की निन्दा और स्वाभाविक रूप की प्रशंसा करते हुए पथिक अपनी पत्नी से कहता है :

व्याख्या:—हे प्रिये! जब प्रेम केवल शारीरिक वासनाओं की पूर्ति का साधन मात्र बनकर रह जाता है, जब केवल चतुराईपूर्ण कहे गए शब्द ही सत्य प्रतीत होने लगते हैं, तो समझ लो कि तब व्यक्ति के किसी भी निर्णय की स्थिति भ्रमोत्पादकता से अधिक कुछ नहीं होती। जिस संसार के प्रत्येक प्राणी के हृदय में परस्पर हिंसा-प्रतिहिंसा का द्वन्द्व और संघर्ष हमेशा चलता रहता है, जहाँ मित्र अपने मित्र से विश्वासघात करता है और नम्रता के आवरण में छल-कपट की भावनाएँ छिपी रहती हैं। जिस संसार में अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए लोग अन्यायियों से भी प्रेम करते हैं, जहाँ स्वार्थों के लिए सगा भाई अपने दूसरे भाई का शत्रु बन जाता है। जिस संसार में सत्य-बोलना, स्नेह करना, सद्गुणों का प्रदर्शन करना आदि सभी बातें केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही हुआ करती हैं, उस संसार में रह कर भला किसी मनुष्य का कल्याण कैसे सम्भव हो सकता है।

भाव यह है कि इस संसार में जो कुछ भी होता है, वह सब व्यक्ति के स्वार्थों की साधना के लिए ही हुआ करता है। अतः संसार में रहकर किसी भी व्यक्ति का कल्याण सम्भव नहीं हो सकता।

विशेष:—संसार की विषमताओं का अनेक प्रकार से वर्णन होने के

कारण यहाँ उल्लेख अलंकार हो सकता है।

४६. पुण्य-चरित सज्जन से··· ··· ······ जगती से।

शब्दार्थ:—पुण्य-चरित=पवित्र चरित्र वाले ! कल्मष=पाप। वंचक=धोखेबाज, ठग। दाता=दानी। कृपण=कंजूस। श्रमी=परिश्रम करने वाले, मजदूर। क्रयी-विक्रयी=खरीदने वेचने वाले।

प्रसंग :—आडम्बरों पाखण्डों और विषमताओं से भरे संसार की तुलना में वन में वास करने को श्रेष्ठ वताते हुए पथिक अपनी पत्नी से कह रहा है :

व्याख्या :—इस संसार में पवित्र चरित्र वालों की तुलना में विषय वासनाओं में फंसे विलासी और पापी अधिक सुखी हैं। यहाँ न्याय करने वालों की तुलना में ठग और धोखेवाज अधिक सुख-सम्मान से रहते हैं। दुनिया की तुलना में कंजूसों का जीवन अधिक सुखी और समृद्ध है। इस संसार में परिश्रम करके जीने वालों की तुलना में खरीदने-वेचने वालों अर्थात् सौदे वाजी करने वाले हमेशा चैन की वंशी वजाया करते हैं। सती नारियों की तुलना में इस संसार में वेश्याओं का जीवन अधिक सुखी और सम्पन्न है। इस प्रकार के त्याग से रहित संसार में रहने के स्थान पर मेरे विचार में तो इस सूने वन में निवास करना कहीं अधिक उचित और सुखदायक है।

भाव यह है कि इस संसार में क्योंकि अच्छाइयों और न्याय चाहने वालों का कोई आदर सम्मान नहीं है, अतः यह दुनिया सज्जनों के रहने के योग्य नहीं है।

विशेष :—संसार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाने के कारण इस पद्य में तुलना अलंकार है।

५०-५१ चोरी, जारी, छल·········वहाँ जाना है। (पृष्ठ-२५)

शब्दार्थ :—जारी=परस्त्रीगमन। पर-पीड़न=दूसरों को कष्ट देना, शोषण करना। ओत-प्रोत=परिपूरित। मद=अहँकार। मत्सर=ईर्ष्या-द्वेष मूढ़=मूर्ख। तज=त्याग कर। आर्त्तनाद=चीख पुकार। प्रलय=नाश। विग्रह=कलह, लड़ाई-झगड़े। वृहत्=बहुत बड़ा। अतुलित=अतुलनीय, अनुपम। आत्म संघात=आत्म हत्या।

प्रसंग :—छल, कपट, व्यभिचार और अनेक प्रकार के आडम्बरों से पूर्ण संसार की तुलना में अनेक प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्यों से सम्पन्न वन के वास को श्रेष्ठ बताते हुए पथिक कहता है :

व्याख्या :—संसार के जिस आडम्बरपूर्ण वातावरण में मनुष्य का मन और जीवन चोरी, परस्त्री गमन, दूसरों का शोषण करना, छल-कपट, अहँकार और ईर्ष्या-द्वेष से पूर्ण है, जिस संसार के निवासी एक प्रकार डंका बजाकर पाप-कर्म करते हैं। और उस पर भी पश्चाताप न करके अनवरत मुस्कराते रहते हैं, रात-दिन पाप करते हुए मनुष्य बिना उसके अन्तिम फल की चिन्ता किए विनाश की ओर निरन्तर दौड़े जाते हैं—इस प्रकार का यह संसार सभी तरह के भयानक हाहाकारों की लीला भूमि है और विनाश का खुला क्षेत्र है। यह संसार वास्तव में परस्पर कलह और लड़ाई-झगड़ों का ही घर है, यहां का शासन और प्रत्येक कार्य अनेक प्रकार से सन्देहों से पूर्ण है। इस प्रकार यह संसार बड़े-बड़े पापों का कारखाना है अर्थात् जन्म देने वाला है। इस प्रकार के संसार को छोड़कर, फिर उसमें वापिस जाना अनेक प्रकार के पश्चातापों में पड़ना तो है ही सही, आत्महत्या करने के समान भी है।

भाव यह है कि जो व्यक्ति इस खुराइयों से भरे संसार की वास्तविकता को समझ लेने के बाद भी उसके मोह-ममता का त्याग नहीं कर पाता, वह आत्महत्या ही करता है।

दूसरा सर्ग

१. मध्य निशा, निर्मल निरभ्र·········कमल में (पृष्ठ-२८)

शब्दार्थ :—मध्य निशा=आधी रात। निरभ्र नभ=बादलों से रहित स्वच्छ आकाश। विराव-विहीन=निःशब्द, शब्द रहित, मौन विला-सित था। चमक रहा था, विहार कर रहा था। अम्बर के उपर=आकाश के मध्य। नगीना=चमकता नग, चाँद। विशद प्रभा=विस्तृत ज्योति। सर=सरोवर निर्झर=झरने। तृण=घास। द्रुम-दल=पेड़ों के पत्तों या समूह में। परम अभिराम=अत्यधिक सुन्दर। निशीथ=आधी रात।

प्रसंग :—यह पद्य 'पथिक' काव्य के दूसरे सर्ग से लिया गया सर्व प्रथम पद्य है। इस पद्य में आधी-चांदनी रात के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या :—आधी रात का समय था। बादलों से रहित पूर्ण स्वच्छ आकाश चमक रहा था। सभी दिशाएँ नि:शब्द अर्थात् एकदम मौन और शान्त थीं। उस शान्त वातावरण में एक नगीने के समान चमकता हुआ चन्द्रमा आकाश के मध्य में विचरण कर रहा था। चारों ओर विद्यमान सरोवरों, झरनों, लताओं, वृक्षों के पत्तों और समूहों में, रात्रि रूपी खिले कमल में चन्द्रमा की निर्मल और चारों ओर भोली चांदनी मानो शान्त भाव से विश्राम कर रही थी।

भाव यह है कि चांदनी रात होने के कारण प्रकृति का कण-कण जगमगा रहा था और सारा वातावरण बहुत ही अधिक मोहक तथा शान्तिदायक था।

विशेष :—'निशीथ-कमल में' पद में रूपक अलंकार है। यों समूचे पद्य में स्वभावोक्ति अलंकार है। अनुप्रास की छटा भी है।

२. या अनन्त के वातायन·········प्रवाह पवन का। (पृष्ट-२८)

शब्दार्थ :—अनन्त=आकाश। वातायन=झरोखा, खिड़की। स्वर्गिक=स्वर्ग के समान। विपुल=अत्यधिक। विमलता=स्वच्छता। धरा-धाम=धरती रूपी घर। धवलता=सफेदी, उज्जवलता। सुखद=सुख देने वाला। सुशीतल=ठण्डा।

प्रसंग :—चाँदनी रात के प्राकृतिक सौन्दर्य का अलंकारिक भाषा में, प्रभावशाली ढंग से वर्णन करते हुए कवि कह रहा है।

व्याख्या :—उस चांदनी रात की निर्मल शुभ्रता को देखकर लगता था कि आकाश रूपी झरोखे से स्वर्गीय अत्यधिक स्वच्छता इस धरती-रूपी धाम को धोने के लिये प्रवाहित होकर झलक रही हो। उस शुभ्र और शान्त चाँदनी के कारण वन का तिनका-तिनका मानो सुख की नींद में मग्न हो रहा था। और तो चारों ओर पूर्णतया शान्ति थी, बस सुख देने वाली शीतल पवन धीरे-धीरे प्रवाहित हो रही थी। केवल उसी का मधुर और मन्द शब्द सुनाई दे रहा था।

भाव यह है कि स्निग्ध चाँदनी की शीतलता और प्रकृति का मौन-शान्त वातावरण मन को भी स्निग्धता और शीतल शान्ति से भर देता था।

विशेष :—पद्य में सन्देह, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि विभिन्न अलंकारों की छटा विशेष दर्शनीय है! 'एक-एक' और 'सन्-सन्' शब्द में वीप्सा अलंकार है।

३. या निर्भय कर्त्तव्य परायण.........चन्द्र-चुम्बन को। (पृष्ठ-२८)

शब्दार्थ :—निर्भय=निडर स्वभाव वाला। सिंधु-संतरी=समुद्र रूपी पहरेदार। अगणित=असंख्यों। ऊर्मि-अधर से=लहर रूपी होठों से। वीचि लहर। मरीचि-वसन=किरण रूपी वस्त्र। चारू=सुन्दर।

प्रसंग :—चाँदनी रात में गरजती जल धारा की सम्भावना एक सजग पहरेदार में प्रगट कर, प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण आलंकारिक भाषा में करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या :—समुन्द्र के गरजने की आवाज और सन्-सन् करते पवन की आवाज को सुन कर लगता था—कोई निडर और कर्त्तव्य परायण वीर—समुद्र रूपी पहरेदार अनेक लहर रूपी होठों को हिला कर अत्यधिक प्रभावित करने वाले स्वरों से सावधान रहने और करने के लिए बार-बार गरज रहा था सागर की चंचल लहरें किरण रूपी सजीले वस्त्रों से सज-धज कर के अपने नीले शरीर को झलकाती हुई जैसे सुन्दर चन्द्रमाँ के मुख को चूमने के लिए आपस में होड़ लगा कर उछल रही थी।

भाव यह है कि चाँदनी रात में उछलती हुई सागर की लहरों ने प्रकृति के सुन्दर और मुखरित वातावरण को और भी अधिक सुन्दर तथा मुखरित बना रखा था।

विशेष :—पद्य में क्रमशः सन्देह, रूपक और उपमा आदि अलंकारों की छटा विशेष दर्शनीय है।

१६. जग में सचर अचर..........तत्परता है। (पृष्ठ-३०)

शब्दार्थ :—सचर=चेतना। अचर=जड़। कर्म-निरत=काम करने में लगे हुए। धुन=लगन। व्रत—कर्म, कर्त्तव्य। आतप=धूप। वसुधा=पृथ्वी। तुच्छ पत्र=साधारण पत्ता। स्वकर्म=अपना काम। तत्परता=उन्मुक्तता या लगन।

प्रसंग :—पथिक और उसकी पत्नी में जो वार्तालाप हुआ था, उसे वन में रहने वाले एक परम योगी ने सुना था। योगी जंगल में निकम्मे पड़े रहने की तुलना में संसार में रहकर कर्म करने को अधिक महत्व देता था। अतः वह रात के एकान्त क्षणों में पथिक के पास आया और उसने पथिक को कर्म में ही जीवन की सार्थकना है, यह उपदेश दिया। संसार का तुच्छ से तुच्छ प्राणी

और पदार्थ भी कर्म करने में अपने जीवन की सार्थकता मानता है, वृक्षों के पत्ते का उदारण देकर, इस बात को स्पष्ट करते हुए योगी कह रहा है :

व्याख्या—संसार में छोटे-बड़े जड़ और चेतन जितने भी प्रकार के प्राणी तथा पदार्थ हैं, सब अपने-अपने कर्मों में अनवरत लगे हुए हैं। सभी की कोई न कोई लगन है, और सभी प्राणियों तथा पदार्थों का कोई न कोई कर्त्तव्य भी निश्चित है। जिस प्रकार वृक्ष का एक पत्ता कितना छोटा और साधारण होता है, पर वह स्वयं तो जीवन भर धूप सहन करता और दुनिया वालों को छाया प्रदान करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक तुच्छ कहे जाने वाले पात्र के जीवन में भी प्राकृतिक नियम के अनुसार अपना कर्म और कर्त्तव्य करने के लिए कितना उत्साह भरा है।

भाव यह है कि सामान्य या विशेष सभी प्रकार के प्राणियों और पदार्थों के जीवन की सार्थकता कर्म करने में ही है।

१७,१८ सिन्धु-विहंग तरंग......... कर्म मय तन का (पृष्ठ-३१)

शब्दार्थ— सिन्धु-विहंग— समुद्र रूपी पक्षी। तरंग-पंख—लहर रूपी पंख। भूमि-अण्ड—भूमि रूपी अण्डा। मलयपवन=प्रातःकाल सुगन्धित वायु। सुरभि= सुगन्धी। शस्य=अनाज। घन=बादल जीवन=पानी। सरसाता= बढ़ाता सोम=चाँद : सुधा=अमृत। निष्क्रिय=कर्महीन, बेकार नितान्न= एकदम।

प्रसंग:—प्रकृति के विभिन्न रूपों और पदार्थों का उदाहरण देकर कर्म के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए योगी पथिक से कह रहा है:

व्याख्या:—सागर रूपी पक्षी अपनी लहरें रूपी पंखों को फड़फड़ा कर इस धरती रूपी अण्डे को सेन और रक्षा करने में हमेशा तत्पर रहता है। कोमल प्रात: कालीन वायु भी नित्य प्रति बहकर घर-घर में सुगन्धित बाँट आता है। और इस प्रकार अपने कर्त्तव्य-कर्म की ही पूर्ति करता है। उसी प्रकार बादल भी अपने में पानी भरकर धरती के अनाजों आदि को सींचने के लिए बरसते हैं और अपने कर्त्तव्य-कर्मों का ही पालन करते हैं।

इसी प्रकार सूर्य प्रतिदिन उगकर संसार की शोभा बढ़ाता है और प्रति रात चन्द्रमाँ उदय होकर धरती पर अमृत की वर्षा करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति के सभी चेतन और जड़ पदार्थ अपने-अपने कर्म करने में लगे हुए

हैं। कहीं कोई हमें बेकार दिखाई नहीं देता है। संसार में एकदम तुच्छ माने जाने वाले छोटे-से तिनके के जीवन धारण करने का भी एक निश्चित उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही वह अपने कर्म करता हुआ अपने शरीर और अस्तित्त्व का अन्त कर देता है।

भाव यह है कि संसार में सभी के जीवन का निश्चित कर्म और उद्देश्य है। उसके निर्वाह में ही उसके जीवन की सार्थकता है। कर्म-हीन जीवन और उसकी सारी साधनाएँ व्यर्थ हैं।

३५. यह संसार मनुष्य के लिए······ मेधा-बल से। (पृष्ठ—३४)

शब्दार्थ—विकल=बेचैन। स्वात्म-बल—आत्मिक शक्ति। विज्ञ—समझदार। सत्पुरुष—सज्जन लोग। अटकल से—बुद्धि से। अखिल=निरन्तर। मेधा-बल से=बुद्धि के बल से।

प्रसंग—परीक्षा स्थल का रूपक बाँध कर संसार के कर्मों और कठिनाइयों के हल करने की प्रेरणा देते हुए योगी पथिक से कह रहा है:

व्याख्या—प्रत्येक मनुष्य के लिए यह संसार एक परीक्षा-स्थल के समान है। जिस प्रकार परीक्षा-स्थल पर जम कर विद्यार्थी को कठिन प्रश्न पत्र को हल करना पड़ता है, उसी प्रकार संसार में आने वाली कठिनाइयाँ एक कठिन प्रश्न-पत्र के समान ही हैं, जिन्हें देख कर व्यक्ति की बुद्धि विद्यार्थी के समान ही व्याकुल हो जाती है! किन्तु सज्जन समझदार और बुद्धिमान लोग अपनी सूझ और बुद्धि से प्रश्न पत्र रूपी कठिनाइयों की गहराई में जा कर उनके समाधान का कोई न कोई हल निकाल लेते हैं।

भाव यह है कि कठिनाइयों से घबरा कर व्यक्ति को हार कर बैठ नहीं जाना चाहिए, बल्कि बुद्धि और आत्म-बल से काम लेकर उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए।

विशेष—पद्य में साङ्ग रूपक अलंकार है।

३७,३८. दुःख में बन्धु, वैद्य······प्रति पग में। (पृष्ठ-३४)

शब्दार्थ—बन्धु=मित्र या भाई। विपद=मुसीबत। दुसह=कठिन। निराशा=नद में=निराशारूपी सागर में! प्रभुता=अधिकार। श्रवण=सुनना विशृंखला=अस्त-व्यस्त।

प्रसंग—दीन-दुखियों की पूर्ण आत्मविश्वास के साथ सहयाता करने की

प्रेरणा पथिक को देते हुए योगी कह रहा है:

व्याख्या—दुःखी लोगों के दुःखों में मित्र या भाई क समय पर काम आना। रोगियों के लिए वैद्य वन जाना। विपत्तियों में फंसे लोगों का सच्चा मित्र और साथी बनकर सहायता करना। जो लोग असहनीय दीनता काशिकार हो रहे हो, उनको अपने कार्यों से हर प्रकार की सहायता पहुँचाना। जो लोग निराशा के सागर में डूव रहे हों, उन्हें आश्रय वन कर सहारा देना। जो लोग किसी प्रकार के भ्रम में उलझें हुए हों उन्हें ज्ञान का प्रकाश दिखाना ! सम्पत्ति प्राप्त होने पर भी सद्बुद्धि का साथ छोड़ना। जब कोई सन्देह की स्थिति आकर मन को आक्रान्त कर ले, तो उससे छुटकारा पाने के लिए दृढ़ निश्चय से आगे बढ़ना। छल और कपट का व्यवहार करने वालों का अन्त करने के लिए क्रान्तिकारी वन जाना। अधिकार प्राप्त होने पर न्याय का रास्ता कभी न छोड़ना या अधिकारियों को न्याय का मार्ग सिखाना। भय की स्थिति में दृढ़ता और धैर्य का पाठ पढ़ाना। इस प्रकार ऐसे कार्य करना कि जनता, कर्म, मन, ध्यान सुनना और भाषण आदि सभी दृष्टियों से तुम्हारा विश्वास करे। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में जनता के साथ रहकर, उसका विश्वास प्राप्त करके तुम जीवन के संग्राम में विजेता वनो। यह संसार जो अनेक प्रकार की अशान्तियों का शिकार है, इस कारण दुःख भोग रहा है। इसमें तुम क्रान्ति का उपासक बनकर रहना अपनी आत्मिक-शक्ति पर हमेशा विश्वास रखना और प्रत्येक कदम पर दृढ़ निश्चय का दामन थामे रहना।

भाव यह है कि दृढ़ता, आत्मवल और बुद्धिमत्ता से काम लेकर प्रत्येक स्थिति का सामना करने वाला व्यक्ति ही जीवन में सफल हो सकता है। कर्म-क्षेत्र में हर स्थिति में डटे रहकर संसार का भला करने में ही जीवन की सार्थकता है।

३९, ४०. जग की विषम आन्धियों···प्राण तक त्यागे। (पृष्ठ-३४)

शब्दार्थ:—विषम=भयानक। उदार=दयालु। सच्चरित=अच्छे चरित्र वाले। पर-दुख=पराया दुख। संरक्षण में=रक्षा करने में ! मुदित=प्रसन्नता।

प्रसंग:—अपने चरित्र को उदार, महान, आदर्श और दूसरों के लिए एक उदाहरण बनाने की प्रेरणा देते हुए योगी पथिक से कह रहा है :

व्याख्या:—हे पथिक ! तुम्हें सब कुछ त्याग कर यों वन में आकर वेकार बैठे रहना शोभा नहीं देता। अतः संसार के कर्मक्षेत्र में जाओ ! संसार में भयानक विपत्तियों की चाहे आन्धियाँ भी क्यों न आवें, सामने डटकर उन सब का मुकाविला करना। जिस प्रकार व्यक्ति का उद्देश्य स्थिर रहता है, उसी प्रकार तुम भी स्थिर रहना और जैसे व्यक्ति के विश्वास दृढ़ होते हैं, उसी प्रकार तुम्हीं दृढ़ता का परिचय ही प्रत्येक परिस्थिति में देना। जिस प्रकार सज्जनों के हृदयों में उदारता की भावना हमेशा जागृत रहती है, उसी प्रकार तुम भी अपने हृदय की मानवीय उदारता की भावना को कभी भी सोने मत देना। जिस प्रकार अन्धेरे में प्रगट होकर चन्द्रमा सब कुछ जगमगा देता है, उसी प्रकार तुम्हारे कर्म भी निराशा में आशा का प्रकाश वने होने चाहिएँ। जिस प्रकार ध्रुव नामक तारा अपने स्थान पर अटल रहता है, उसी प्रकार तुम भी प्रत्येक भयपूर्ण स्थिति में भी अपने मानवीय निश्चय पर अटल रहना !

अपने चरित्र को ऐसा आदर्श वनाओ, कि तुम्हारा स्मरण करते ही लोगों के मन में उदारता, संयम और सच्चरित्रता के भाव जाग उठें। लोगों के मन में दूसरों के दुखों को देखकर तुम्हारा स्मरण करते ही उन्हें दूर करने के लिए उत्सुक हो उठे। तुम्हारा नाम सुनकर सभी के मन में समान भाव से सज्जनता का उदय हो जाय। तुम्हारे आदर्श चरित्र से प्रेरणा पा करके सारी मानवता सत्य, न्याय आदि महान गुणों की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक की वाजी लगा दे।

भाव यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र और कर्म ऐसे होने चाहिएँ कि वे दूसरों के लिए एक आदर्श उदाहरण वन सकें।

विशेष:—दूसरे पद्य-खण्ड में उपमा अलंकार है। अनुप्रास की योजना सर्वत्र विद्यमान है। दोनों पद्य काव्य के उद्देश्य को भी स्पष्ट करने वाले हैं।

४१, ४२. जग में सुख की प्राप्ति····· अधिक इतना ही। (पृष्ठ-३५)

शब्दार्थ—गोर=गौरा। श्याम=काला। जघन्य=नीच। कुत्सित=बुरा। निज=अपना। पर=पराया। अकिंचन=साधारण, सामान्य।

प्रसंग—सब प्रकार के भेद-भावों से ऊपर उठकर सभी के प्रति समानता,

उदारता, भलाई और भाईचारे का उपदेश पथिक को देते हुए योगीराज कह रहा है :

व्याख्या:—दु:ख सह करके ही इस संसार में कोई व्यक्ति सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है। दु:खों में पड़ करके ही व्यक्ति के अच्छे गुण और काम करने की शक्तियाँ जागा करती हैं और जब ये बातें आ जाती हैं तो सुख भी स्वयं ही प्राप्त हो जाया करता है। अत: संसार में तुम्हें जहां कहीं भी विघ्न-बाधाएँ, विपत्तियां और कठिनाईयाँ सुनाई दें, वहीं पर तुम जा पहुंचना और निडरता पूर्वक उनका, सामना करना। दु:खों से घबराना नहीं, बल्कि उन्हें गले लगाकर सुख के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होने का प्रयत्न करना।

मेरी यह बात हमेशा याद रखना कि तुमने सभी को निर्मल प्रेम का दान करना है। यह भी याद रखना कि प्रेम के संसार में काले या गोरे, ऊँच या नीच, सुन्दर और असुन्दर आदि का कोई भेद-भाव नहीं रहता। प्रेम-लोक में सभी समान होते हैं। बल्कि संसार में अगर कोई व्यक्ति अधिक धृणित, अछूत और त्याज्य माना जा रहा है, तो तुम्हें उससे उतना ही अधिक प्रेम-पूर्ण व्यवहार करना है !

भाव यह है कि कठिन दु:ख सहकर और सभी के साथ समान रूप से प्रेमपूर्वक व्यवहार करके ही जीवन को सुखी और पूर्ण समृद्ध बनाया जा सकता है।

४३. सदा लोक-सौन्दर्य····· भ्रान्ति विषय है।

शब्दार्थ:—कवि-सम=कवियों की भावना के समान। प्रतिभा से=बुद्धिमानी से। भीषण भ्रम=भयानक छलावा। भ्रान्ति विषय=कठोर भ्रम।

प्रसंग:—संसार को सब प्रकार के विकारों से रहित और सुन्दर-सुखी बनाने की प्रेरणा देते हुए योगीराज पथिक से कह रहा है :

व्याख्या:—जिस प्रकार कवि लोग अपनी कविताओं को सुन्दर से सुन्दर भावनाओं से सजाने की कल्पना में मग्न रहा करते हैं, उसी प्रकार तुमने भी सोच-विचार करके संसार को सभी प्रकार से सुन्दर बनाना है। कैसी भी सुख-दु:ख की परिस्थिति क्यों न आवे, किसी भी मनोविकार के वशीभूत होकर के अपने पथ से भ्रष्ट मत होना। हमेशा सोच-विचार कर उचित मार्ग

पर अपने कदम बढ़ाते ही जाना। तुम जो संसार को झूठा, अस्थायी और मोह-माया का भ्रम मात्र ही मानते हो, वास्तव में वह तुम्हारी एक कठोर भ्रान्ति और भूल है।

भाव यह है कि संसार को नित्य, सत्य और शाश्वत मान करके ही इसे सुखी-समृद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

४४. जगन्नियन्ता की इच्छा से ....कर धोना। (पृष्ठ-३५)

शब्दार्थ:—जगन्नियन्ता=संसार बनाने वाला, ईश्वर। क्रीड़ा=खेल। रूपक=नाटक। कर्मच्युत होना=कर्म से गिरना।

प्रसंग:—संसार को ईश्वर की रचना मानकर निरन्तर कर्म करते रहने की प्रेरणा देते हुए योगीराज पथिक से कह रहे हैं :

व्याख्या:—यह संसार झूठा, असत्य और अनित्य नहीं है। इसकी रचना तो ईश्वर की अपनी इच्छा से ही हुई है। संसार ने समस्त पदार्थों के जो अनेक रूप हैं, यह सब ईश्वर द्वारा खेले जाने वाले नाटक के ही भिन्न रूप हैं। यह संसार ईश्वर द्वारा बनाए गए समस्त जीवों की कर्मभूमि है। अतः जो भी प्राणी यहाँ कर्म से भ्रष्ट हो जाता है—अर्थात् अपने कर्म का पालन नहीं करता है, वह धोखे में पड़कर अपने बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ में ही गंवा देता है।

भाव यह है कि संसार को असत्य मानकर यदि मनुष्य कर्म नहीं करता तो वह बड़ी कठिनता से मिलने वाला मनुष्य-जन्म यों ही गंवा देता है।

४५, ४६. एक अनन्त शक्ति.........समस्त प्रगति है। (पृष्ठ-३५)

शब्दार्थ:—वसुधा=पृथ्वी। लय=नाश, प्रलय। उद्भव=उत्पन्न, निर्माण। ग्रह=चाँद, सूर्य आदि गृहमण्डल। नियमित=नियमपूर्वक। कक्षा में=आकाश मण्डल में। केतु=धूमकेतु, पुच्छल तारे।

प्रसंग:—जीवन में सभी-कुछ ईश्वरेच्छा से होता है। अतः सब कर्मों को उसी के निमित्त करने की प्रेरणा देते हुए योगी पथिक से कहते हैं :

व्याख्या:—उस एक ही ईश्वर की अनन्त शक्ति से सारे संसार का संचालन होता है। उसी की स्वतन्त्र इच्छा से सृष्टि का निर्माण, पालन और अन्त में नाश भी हुआ करता है। चाँद, सूर्य आदि समस्त गृह उसी की इच्छा से आकाश-मण्डल में रात-दिन के नियम से निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं।

आकाश के सूने को चीर कर धूम केतु भी उसी की इच्छा से ही निकल जाया करते हैं।

बादलों से बरसने वाली मृत-समान पानी की बूँदें भी उस ईश्वर की इच्छा से ही झरा करती हैं। चीखता हुआ बज्र (विजली) भी ईश्वर की इच्छा और शक्ति से ही धरती पर गिरकर विनाश का दृश्य उपस्थित किया करता है ! हमारी आत्मा में जो कुछ भी करने के विचार आया करते हैं, वह उस ईश्वरीय शक्ति की सुखदायक प्रेरणा से ही आया करते हैं। अतः यह सोचकर कि संसार में जो भी विकास का क्रम चल रहा है, वह ईश्वरेच्छा से ही चल रहा है। सारे कर्म यही सोच करके ही करते चलो।

भाव यह है कि मनुष्य को यह मानकर अपने-आप को कर्त्तव्य कर्मों के पालन में लगा देना चाहिए कि जो कुछ भी होता है या होगा, वह सब ईश्वरेच्छा का ही परिणाम है या होगा !

५३. फिर कहता हूँ डरो न दुख..............अभिलाषा। (पृष्ठ-३७)

शब्दार्थ:—सम्मुख है=सामने है। अटल=निश्चित, दृढ़। सकर्म-कर्त्तव्य=कर्म का पालन करते हुए।

प्रसंग:—कर्म करते हुए प्राप्त होने वाली मृत्यु को ही जीवन की सार्थकता बताते हुए योगी राज पथिक से कहते हैं :

व्याख्या—मैं तुम्हें एक बार फिर यह कहना चाहता हूँ कि एक विस्तृत कार्य का क्षेत्र तुम्हारे सामने है। उसके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों की परवाह किए बिना कर्म के मार्ग पर निरन्तर बढ़ते चलो। कर्म का रास्ता ही वास्तव में प्रेम का रास्ता है और प्रेम की राह बड़ी ही कठिन हुआ करती है। प्रेम-मार्ग पर चलते हुए प्राप्त होने वाले दुःखों में ही सच्चे प्रेमी सुख का अनुभव किया करते हैं। कर्म करना ही तुम्हारा पक्का धर्म होना चाहिए और कर्म ही तुम्हारी भाषा भी होनी चाहिए। तुम्हारे जीवन की अन्तिम अभिलाषा यही होनी चाहिए कि हमारी मृत्यु भी हो तो अपने कर्तव्य-कर्मों का पालन करते हुए ही हो।

भाव यह है कि कर्ममय मृत्यु में ही जीवन की सफलता और सार्थकता है।

छन्द अलंकार

प्रश्न—१—शब्द-शक्ति से क्या तात्पर्य है? इसके भेदोपभेदों का संक्षप्ति परिचय दीजिये।

उत्तर—शब्द-शक्ति—शब्द का अर्थ और बोध कराने वाली शक्ति ही शब्द-शक्ति है। शब्द-शक्तियां तीन प्रकार की होतीं हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

१. अभिधा—जिस शक्ति से शब्द अपने स्वाभाविक साधारण बोलचाल के प्रसिद्ध अर्थ को बताता है, उसे अभिधा कहते हैं।

जिस शब्द से मुख्यार्य का या स्वाभाविक अर्थ का बोध हो, उसे वाचक कहते हैं तथा उससे निकलने वाला मुख्यार्य वाच्यार्थ होता है। जैसे 'गाय घास चर रही है।' इस वाक्य में 'गाय', "घास' आदि शब्द अभिधा-शक्ति से अपने स्वाभाविक, साधारण अर्थ को प्रकट करते हैं। अतः ये वाचक हैं और 'गो', 'तृण' आदि इनके वाच्यार्थ हैं।

२. लक्षणा—जहाँ पर वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध न हो, परन्तु रूढ़ि या प्रयोजन के सहारे उससे सम्बन्धित अन्य का बोध कराने वाली शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं। इस प्रकार यहाँ पर तीन बातें याद रखनी चाहिए।

१. वाच्यार्थ का स्पष्ट न होना।

२. रूढ़ि या प्रयोजन के सहारे;

३. उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ का निकलना।

यथा—"देवदत्त सदा अपने काम में चौकन्ना रहता है।" यहाँ 'चौकन्ना' शब्द का वाच्यार्थ 'चार कानों वाला' है। परन्तु इस अर्थ से न तो वक्ता का तात्पर्य है और न ही यह अर्थ यहाँ पर संगत है। इस प्रकार लक्षणा शक्ति

के द्वारा इस शब्द का अर्थ 'सावधान' होता है। रूढ़ि के द्वारा 'चौकन्ना' शब्द का अर्थ 'सावधान' ही सदैव प्रयुक्त होता है। अतः यहाँ पर रूढ़ि लक्षणा है।

'गंगा पर आश्रम है।' इसका वाच्यर्थ तो यह है कि गंगा नदी में आश्रम बना हुआ है, जो कि नितान्त असंगत प्रतीत होता है। परन्तु प्रयोजन विशेष के द्वारा यह अर्थ निकलता है कि गंगा के किनारे पर आश्रम है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

लक्षणा के भेद—लक्षणा दो प्रकार की होती है— शुद्धा लक्षणा और गौणी लक्षणा।

शुद्धा लक्षणा—यहाँ वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सादृश्य सम्बन्ध न हो, वरन् कोई और सम्बन्ध हो वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। यथा—'आप आप ही है।'

इस वाक्य में सादृश्य से अर्थ की प्रतीत नहीं होती वरन् 'सामान्य विशेष भाव' सम्बन्ध से अर्थ की प्रतीति होती है।

गौणी लक्षणा—जहाँ वाच्यार्थ का लक्ष्वार्थ के साथ सादृश्य सम्बन्ध हो, वहाँ गौणी लक्षणा होती है। इस लक्षणा में उपमा, रूपक जैसे अलंकारों की विशेषता आ जाती है। यथा—

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग।
बिकसे सन्त सरोज सब, हरषे लोचन भृंग॥

यहाँ पर मंच को उदयाचल, राम को सूर्य कहना, वाच्यार्थ को बोधित करना है। परन्तु रूप और गुण के सादृश्य से ही अर्थ की संगति होती है। अतः यहाँ पर गौणी लक्षणा है।

(३) **व्यंजना**—जो अर्थ अभिधा और लक्षणा से नहीं बताया जाता, उसको बताने वाली शक्ति का नाम व्यंजना है। ऐसे शब्द को 'व्यंजक' और अर्थ को व्यंग्य कहा जाता है।

यह व्यंजना शक्ति दो प्रकार की होती है—अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना।

अभिधामूला व्यंजना—अभिधा शक्ति द्वारा अनेकार्थी शब्दों में एक अर्थ निश्चित हो जाने पर, जिस शक्ति के द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है उसे

अभिधामूला व्यंजना कहते । यथा—

> चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर।
> को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

यहाँ पर 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के वीर' का अभिधा से राधा और कृष्ण का अर्थ निश्चित हो जाता है। इसके बाद जो अर्थ निकलता है वह यह है कि जोड़ी एक-दूसरे के उपयुक्त है। यह व्यंजना शक्ति का व्यापार है। अतः यहाँ अभिधामूला व्यंजना है।

लक्षणामूल व्यंजना—लक्षणा की सहायता से व्यंग्यार्थ को बोधित करने वाली शक्ति का नाम लक्षणा-मूला व्यंजना-शक्ति है।

> फली सकल मन कामना, लूट्यो पयमित चैन।
> आजु अचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

यहाँ पर 'फली' 'लूट्यो 'अचै' लक्षणा से अर्थ निकलता है। परन्तु पूरे का व्यंग्यार्थ हुआ कि दर्शन से हमें बड़ा आनन्द मिला। अतः यहां पर लक्षणा-मूला व्यंजना है।

प्रश्न २—स्थायी भाव, विभाव और अनुभावों के अवान्तर भेदों का संक्षेप् में परिचय देकर उनकी शास्त्रीय व्याख्या करो।

उत्तर—काव्य का मुख्य प्रयोजन पाठक अथवा प्रेक्षक को रसानुभूति कराना है। रस, विभाव और व्यभिचारी भाव—इन तीनों के स्वरूप और अवान्तर भेदों का परिचय देकर उनकी शास्त्रीय व्याख्या की जाती है।

स्थायी भाव—जो भाव वासना रूप से सामाजिक के हृदय में रहते हैं वे स्थायीभाव कहलाते हैं। इनकी संख्या नौ है—रति, शोक, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद।

स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रेमरूप चित्तवृत्ति का नाम रति है। यह शृंगार रस का स्थायी भाव है। पुत्र आदि इष्ट वस्तु के विनाश के कारण चित्त में होने वाली व्याकुलता को शोक कहते हैं। यह करुण रस का स्थायी भाव है। विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टाओं को देखकर जिसकी उत्पत्ति हो, वह

चित्तवृत्ति को हास कहते हैं। यह हास्य रस का स्थायी भाव है। गुरु-वध, बन्धु-वध आदि भीषण अपराधों के कारण जिस चित्तवृत्ति की उत्पत्ति होती है, उसे क्रोध कहते हैं। यह रौद्र रस का स्थायी भाव है। शत्रु के पराक्रम तथा किसी की दान आदि उत्कृष्ट कर्मों के स्मरण से जिसकी उत्पत्ति हो, उसे उत्साह कहते हैं। यह वीर रस का स्थायी भाव है। किसी भी भयानक वस्तु के देखने से जिसकी उत्पत्ति होती है और जिसके होने से किसी भीषण अनिष्ट की अशंका हो, ऐसी चित्तवृत्ति को भय कहते हैं। यह भयानक रस का स्थायी भाव है। किसी घृणित वस्तु को देखकर चित्त में जो एक प्रकार की घृणा उत्पन्न होती है, उसे जुगुप्सा कहते हैं। यह वीभत्स रस का स्थायी भाव है। किसी विचित्र वस्तु के देखने आदि से उत्पन्न होने वाली आश्चर्य नामक चित्तवृत्ति को विस्मय कहते हैं। यह अद्भुत रस का स्थायी भाव है। वेदान्तादि शास्त्र द्वारा नित्य-अनित्य वस्तुओं का विचार करने से चित्त में विषयों की ओर से जो विराग उत्पन्न होता है, उसे निर्वेद कहते हैं। यह शान्त रस का स्थायी भाव है।

स्थायी भाव हृदय में स्थायी रूप से वर्तमान रहते हैं, इसलिए इन्हें स्थायी भाव कहते हैं और ये ही विभावादि से परिपुष्ट होकर रस रूप को होते हैं।

२. विभाव—स्थायी भावों के कारणों को विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जिसके सहारे रति और स्थायी भाव उत्पन्न हों अथवा जो रति आदि स्थायी भावों की उत्पत्ति का कारण हो, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। जैसे—नायक को देखकर नायिका के हृदय में और नायिका को देखकर नायक के हृदय में रति भाव उत्पन्न हो जाता है तो वे दोनों एक दूसरे के आलम्बन विभाव हुए। आलम्बन विभाव से उत्पन्न रति आदि भावों को उद्दीप्त करने वाले विभाव उद्दीपन कहलाते हैं। जैसे—चाँदनी रात, एकान्त वातावरण, फूलों की माला, नदी का तट आदि।

३. अनुभाव—रति आदि के अंकुरित और उद्दीप्त होने के पश्चात् जो भाव उत्पन्न होते हैं। उन्हें अनुभाव कहते हैं। जैसे पसीना आना, काँपना,

उछलना आदि। इनका काम अनुभाव इसलिए रखा गया है कि ये स्थायी भावों के पीछे उत्पन्न होते है और उत्पन्न होकर स्थायी भावों का अनुभव कराते हैं। अनुभाव दो प्रकार के होते हैं—वाचिक और आंगिक। शब्दों के द्वारा स्थायी भाव को प्रकट करना वाचिक अनुभव और अंगों—चेष्टा, संकेत आदि—के द्वारा प्रकट करना आंगिक अनुभाव कहलाता है।

अवान्तर भेद—अब देखना यह है कि इसमें अवान्तर भेद क्या है? जैसे कि ऊपर बताया जा चुका है स्थायीभाव स्थायी रूप से वासना रूप में सामाजिक के हृदय में स्थित रहते हैं, ठीक उसी तरह जैसे पृथ्वी में गंध छिपी रहती है और जिस प्रकार जल के छींटे पड़ने से पृथ्वी की छिपी हुई गंध प्रकट हो जाती है, उसी तरह विभाव के द्वारा ये स्थायी भाव उद्बुद्ध हो जाते हैं। जैसे—राम ने सीता को देखा तो सीता को देखने से राम के हृदय में स्थित रति भाव उद्बुद्ध हो उठा। इसके बाद राम को लज्जा का अनुभव हुआ और उन्होंने अपनी आँखें नीचे को झुका लीं। आँखों का यह नीचे की ओर झुकना अनुभाव है।

शास्त्रीय व्याख्या—यहाँ एक उदाहरण देकर स्थायी भाव, विभाव और अनुभावों की शास्त्रीय व्याख्या करना भी अपेक्षित है। जैसे—

ललन चलन सुनि पलन में, आइ गयो बहु नीर।
अधखण्डित बीरी रही, पीरो पर्‌यो सरीर॥

यह विप्रलम्भ-शृंगार-रस का उदाहरण है। नायक परदेश जा रहा है। नायिका को जब उसके चलने का समाचार ज्ञात होता है तो उसकी आँखों में ढेर-सा पानी आ जाता है। मुँह में डाली हुई पान की बीड़ी आधी चबाई हुई ही रह जाती है और उसका शरीर पीला पड़ जाता है।

इस दोहे की शास्त्रीय व्याख्या इस प्रकार है—

स्थायी भाव—रति।

विभाव—परदेश में यात्रा का समाचार (उद्दीपन विभाव)

अनुभाव—आँखों में पानी भरना, बीड़ी का आधी चबाई रह जाना और शरीर का पीला पड़ जाना।

प्रश्न २—रस कितने होते हैं? प्रत्येक का सम्यक् विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्यों ने रसों की संख्या दस मानी है—शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वत्सल।

(१) शृंगार—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से होने वाली रति स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था का नाम शृंगार रस है।

स्थायी—रति।

आश्रय—नायक या नायिका।

आलंबन विभाव—नायक या नायिका।

[नायक आश्रय होगा तो नायिका आलम्बन होगी और नायिका के आश्रय होने पर नायक आलम्बन होगा।]

उद्दीपन विभाव—नायिका के हाव, भाव, शोभा, कांति आदि, चन्द्रमा की शीतल चाँदनी, सुखद पवन, उपवन, एकांत स्थान आदि।

अनुभाव--एक दूसरे को सतृष्ण दृष्टि से देखना, छेड़ छाड़, हास्य-विनोद मिलन-चेष्टायें, विरह-चेष्टायें आदि।

संचारी भाव—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा के अतिरिक्त शेष सब शृंगार के दो भेद होते हैं। नीचे उनके उदाहरण दिए हैं—

(क) संयोग शृंगार—

कोई सचिव, सको न करि, सफल मनोरथ मञ्जु।
निरखति कछु मींचे नयन, प्यारी पिय मुख कञ्जु॥

नायिका की अभिलाषा पूर्ण न होने के कारण वह अपने नेत्रों को कुछ बन्द करके प्रियतम के मुख की ओर देख रही। अतः संयोग शृंगार हैं।

(ख) वियोग शृंगार (विप्रलम्भ शृंगार)—

ललन चलन सुनि पलन मैं, आइ गयो बहुनीर।
अनखंडित बीरी रही, पीरी परी सरीर॥

नायक के जाने का समाचार पाकर नायिका के नेत्रों में अश्रु आ गए। मुख में डाली हुई पान की बीड़ी भी दांतों तले अधचबी रह गई और उसका सारा शरीर पीला पड़ गया।

(२) करुण (मध्यमा १९६६)—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों

के संयोग से होने वाले शोक स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था का नाम करुण रस है।

स्थायी भाव—शोक। आलम्बन विभाव—विनष्ट प्रिय वस्तु या व्यक्ति। उद्दीपन विभाव—आलम्बन का दाह कर्म, उससे सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुएं, उसकी कथा आदि। अनुभाव—भूमि-पतन, रोना, उच्छ्वास, विलाप, मूर्च्छा छाती पीटना आदि। संचारी भाव—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, विषाद, उन्माद, दैन्य आदि।

> हाय पुत्र, तुम कहां जनिम जग में सुख पायौ।
> कीह्यौ कहा विलास कहा खेल्यौ अरु खायौ॥

(३) हास्य—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से होने वाली हास स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था का नाम हास्य रस है।

स्थायी भाव—हास्य आलम्बन विभाव—विचित्र या भद्दी आकृति, अथवा विभिन्न स्वभाव वाला व्यक्ति या वस्तु। उद्दीपन विभाव—आलम्बन की विचित्र वेश-भूषा, उसकी चेष्टायें, उसके साथ छेड़-छाड़। अनुभाव—हँसी, नेत्रों का मिलना आदि। संचारी भाव—हर्ष, चपलता आदि।

(४) रौद्र—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से होने वाली क्रोध स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था का नाम रौद्र रस है।

स्थायी भाव—क्रोध। आलम्बन विभाव—शत्रु, विपक्षी, धृष्ट व्यक्ति, देश-द्रोही आदि। उद्दीपन विभाव—आलम्बन द्वारा किया गया अपराध, गर्वोक्ति आदि। अनुभाव—आँखों और चेहरे का लाल होना, भौंहें चढ़ जाना, शरीर काँपना, भुजायें फड़कना, अपने पुरुषार्थ का वर्णन, शत्रु-नाश की प्रतिज्ञा, शस्त्र-संचालन, प्रहार आदि। संचारी भाव—आलम्बन के अपराधी की स्मृति उद्वेग, विकलता, गर्व. अमर्श, चपलता आदि।

> अधर चव्व गहि गव्व अति, गहि रावण को काल।
> दृग कराल मुख लाल करि, दोरेउ दशरथ लाल॥

(५) वीर—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से होने वाली उत्साह स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था नाम वीर रस है।

स्थायी भाव—उत्साह । आलम्बन विभाव—शत्रु आदि जिससे उत्साह की उत्पत्ति हो । उद्दीपन विभाव—शत्रु की चेष्टा, सेना का सिंहनाद, लड़ाई का बाजा आदि । अनुभाव—अंगों का फड़कना युद्ध के सहायक (धनुष, बाण, आदि) को ढूंढ़ना, शत्रु को तुच्छ समझना । संचारी भाव—गर्व, असूया, शौर्य रोमांच आदि ।

वीर रस चार प्रकार का होता है—

(क) **युद्धवीर**—जहां युद्ध सम्बन्धी उत्साह व्यंजित हो यथा—

धनुष चढ़ावत ये तबहिं, लखि रिपुकृत अपमान ।
हुलसि गात रघुनाथ को, बखतर में न समान ।।

(ख) **दयावीर**—जहाँ दया-विषयक उत्साह व्यंजित हो । यथा—

सुनि सेवक दुख दीन दयाल, फरकि उठे दोउ भुजा विशाला ।
सुनु सुग्रीव में मारि हौं, बालिहिं एकहिं बान ।
ब्रह्मा रुद्र सरनागत, भयउ न उबरहिं प्रान ।।

(ग) **दानवीर**—जहां दान-सम्बन्धी उत्साह व्यंजित हो । यथा—

जेहि पाली इछ्वाकु सों अब लौं रघुकुल राज ।
ताहि देत हरिचन्द नृप, विश्वामित्रहिं आज ।।

(घ) **धर्मवीर**—जहां धर्म-सम्बन्धी उत्साह व्यंजित हो । यथा—

धारि जटा भलकत भरत गन्यो न दुख तजि राज ।
ते पूजत प्रभु पावकन, परम धरम के काज ।।

(६) **भयानक**—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से होने वाली भय स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था का नाम भयानक रस है ।

स्थायी भाव—भय आलम्बन विभाव—भयंकर दृश्य, भयपूर्ण स्थान (उमड़ती हुई नदी, सुनसान जंगल आदि), भयानक जन्तु, भयानक पुरुष, पिशाच आदि । उद्दीपन विभाव—भयंकर दृश्य, जीव आदि की चेष्टायें, निर्जनता, अन्धकार आदि । अनुभाव—कंप, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, स्वर-भंग, पलायन, मूर्च्छा इधर-उधर ताकना, भौंचक्का हो जाना, चीत्कार आदि । संचारी भाव—संभ्रम, आवेग, शंका, दैन्य, चिन्ता, मरण आदि ।

नभ ते झटपट बाज लखि, भूल्यो सकल प्रपंच ।
कंपित तन व्याकुल नयन, लावक हिल्यो न रंच ।

(७) वीभत्स—विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से होने वाली जुगुप्सा स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था का नाम वीभत्स रस है ।

स्थायी भाव—जुगुप्सा (घृणा) । आलम्बन विभाव । घृणास्पद व्यक्ति, पदार्थ, स्थान आदि । उद्दीपन विभाव—आलम्बन की चेष्टायें, घृणोत्पादक शब्द, दुर्गन्ध आदि । अनुभाव—नाक सिकोड़ना, थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मींचना आदि । संचारी भाव—मूर्च्छा, मोह, आवेग, व्याधि अपस्मार आदि ।

कहीं धक धक चितायें जल रही थीं,
धुआं मुँह से उगल बेकल रही थीं ।
कहीं शव अधजला कोई पड़ा था,
निठुरता काल की दिखला रहा था ॥

(८) अद्भुत—विभाव अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से होने वाले विस्मय स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था का नाम अद्भुत रस है ।

स्थायी भाव—विस्मय । आलम्बन विभाव—आश्चर्यजनक वस्तु, कर्म, स्थान या व्यक्ति । उद्दीपन विभाव—आलम्बन का अतिरंजित कार्य देखना या सुनना । अनुभाव—मुँह खोलकर रह जाना, वाह-वाह करना, दांतों तले अँगुली दबाना, आँखें फाड़कर रह जाना, स्वर-भंग, स्वेद, स्तंभ आदि संचारी भाव—वितर्क, भ्रांति, हर्ष, आवेग आदि ।

अखिल भुवन चर अचर सब, हरि मुख में लखि मातु ।
चकित भई गद्गद् वचन, विकसित दृग पुलकातु ।

(९) शान्त—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों को संयोग से होने वाले निर्वेद स्थायी भाव की परिपक्व अवस्था नाम शान्त रस है ।

स्थायी भाव—निर्वेद । आलम्बन विभाव । ईश्वर, महात्मा, पुण्य स्थान आदि । उद्दीपन विभाव—ऋषियों के आश्रय. तीर्थ-स्थान, हरि-चर्चा, साधु-सत्संग, उपदेश, शास्त्रानुशीलन, संसार की कटुताओं या असारता का अनुभव । अनुभाव—चुपचाप बैठे रहना, हरिभजन, ईश-प्रेम में मग्न होकर हँसने लगना, आप ही आप बातें करना, नाचना, गाना, रोमांच, पुलक, अश्रु-विसर्जन

आदि । संचारी भाव—धृति, मरि, हर्ष, स्मरण, विबोध आदि ।

मलय अनिल अरु गुरु गरल, तिय-कुन्तल, अहि देह ।
सुपचार विधि को भेद तजि, मम थिति भई अछेह ॥

(१०) वत्सल रस—मात-पिता का सन्तान के प्रति जो स्नेह होता है, उसी से वत्सल रस की उत्पत्ति होती है ।

स्थायी भाव—स्नेह । उद्दीपन विभाव—आलम्बन शिशु की चेष्टाएँ (तोतली बोली, गिरते-पड़ते चलना, हठ करना आदि) उसकी शूरता, विद्या, उसकी वस्तुएँ, उसके कार्य आदि । अनुभाव—हँसना रोना, पुलकित होना, तिनके तोड़ना, एकटक देखना, चूमना, गोद में लेना, पालने में झुलाना, बातें करना, खेलना, आहें भरना, विलाप करना, बलैंया लेना आदि। संचारी भाव—हर्ष आवेग, जड़ता, मोह, शंका, चिन्ता, विषाद, गर्व, उन्माद, स्मृति आदि ।

प्रमुख अलंकारों की लक्षणोदाहरण सहित व्याख्या

शब्दालंकार

(१) अनुप्रास—जब एक वाक्य में एक या अनेक व्यंजन वर्ण एक से अधिक वार आयें तब 'अनुप्रास' अलंकार होता है । यथा—

क्या आर्य वीर विपक्ष-वैभव देखकरडरते कहीं ?

उक्त वाक्य में 'वीर', 'विपक्ष' और 'वैभव' शब्दों में 'व' व्यंजन की आवृत्ति हुई है, अतः अनुप्रास अलंकार है ।

विशेष—अनुप्रास अलंकार में व्यंजन वर्णों की आवृत्ति आवश्यक है । यह आवश्यक नहीं कि उनमें एक एक स्वर का संयोग हो ।

अनुप्रास के निम्नलिखित पाँच भेद हैं :—

(क) छेकानुप्रास—इसमें एक या अनेक वर्णों की एक ही वार आवृत्ति होती है । यथा—

वह नव वधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ ! हा" कहती हुई ।

उक्त उदाहरण में 'वह' 'वधू' में 'व' की; 'फिर' और 'गिर' में 'र' की आवृत्ति एक ही बार हुई है, अतः छेकानुप्रास है ।

(ख) वृत्त्यनुप्रास (नवम्बर १९१९)—वृत्यनुप्रास में एक या अनेक वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति होती है। यथा—

संसार में सब विधि हमारे सर्व-साधन हो तुम्हीं।

यहाँ पर 'स' की आवृत्ति एक से अधिक बार हुई हैं, अतः वृत्यनुप्रास है।

श्रुत्यानुप्रास—इसमें एक ही स्थान से उच्चारण किए जाने वाले विभिन्न वर्णों का श्रवण होता है। यथा—

धन्य जन्म जगतीतल तासू,
पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू।

इसमें तालव्य, दन्त्य और ओष्ठ्य अक्षरों का श्रुत्यानुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास—इसमें पद्य के चारों पदों के या कुछ के अन्त्य के सस्वर व्यंजन समान होते हैं। यथा—

ये सब सुर तेरे याचक हैं, गति इनकी कुण्ठित सारी।
हैं तीनों लोकों का मन्मथ ! कार्य महा मंगलकारी॥
तव धन्वा के लिए काम यह, नहींनिपट घातक भारी।
तेरे तुल्य न वीर और हैं, अहो विचित्र वीर्यधारी॥

उक्त पद्य के चारों पदों के अन्त में 'आरी' का प्रयोग हुआ है, अब अन्त्यनुप्रास है।

शब्दानुप्रास या लाटानुप्रास—इसमें ऐसे शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति होती है जिनका अर्थ तो एक ही होता है किन्तु अन्वय करने से तात्पर्य भिन्न हो जाता है। यथा—

पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक तां हेतु॥

यहाँ पर केवल अल्प-विरामों के द्वारा अन्वय करने से दोनों पंक्तियों का का अर्थ पृथक हो जाता है। प्रथम पंक्ति का अर्थ है—जो मनुष्य पराधीन हैं उसके लिए स्वर्ग नहीं है केवल नरक ही है। दूसरी पंक्ति का अर्थ है—जो मनुष्य पराधीन नहीं है उसके लिए नरक भी स्वर्ग हो जाता है।

यमक—जब किसी शब्द या शब्द-समूह का एकसे अधिक बार प्रयोग हो और

प्रत्येक बार उसका भिन्न अर्थं अपेक्षित हो तब अलंकार होता हैं यथा—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ।

इसमें 'कनक' का दो बार प्रयोग हुआ है। पहले 'कनक' का अर्थ है 'सोना' 'सोना' और दूसरे का 'धतूरा', अतः यमक अलंकार है ।

(३) श्लेष--जब एक शब्द का प्रयोग एक ही बार हो, परन्तु उसके अर्थं एक से अधिक होते हो तब श्लेष अलंकार होता है। यथा—

जो रहीम गति दीप की, कुल सपूत की सोइ ।
बारे उजियारे करै, बढ़े अंनेरी होइ ॥

इसमें बारे के दो अर्थं हैं—(१) जलाने पर (२) लड़कपन में । इसी प्रकार 'बड़े के भी दो अर्थ हैं—(१) बुझ जाने पर (२) बड़ा होने पर। अतः श्लेष अलंकार है ।

श्लेष के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(क) शब्द-श्लेष और (ख) अर्थं-श्लेष ।

शब्द-श्लेष के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(क) सभंग शब्द-श्लेष—जहा पद को तोड़ मरोड़ दो अर्थ प्रतीत हो, वहाँ यह श्लेष होता है। यथा—

जो पूतनामारण में सुदक्ष ।
विपक्ष काकोदर को विलक्ष ।

'पूतनामारण' के यहाँ पर तोड़ मरोड़ कर दो अर्थ किये जाते हैं—(१) (पूतनामा+रण) अर्थात् पवित्र नाम वाले रण में सुदक्ष अर्थात् भगवान् राम, (२) (पूतना+मारण) अर्थात् पूतना (राक्षसी) को मारने वाले अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण । अतः यहाँ सभंग शब्द श्लेष अलंकार है ।

(ख) अभंग शब्द श्लेष—(जून १९६१)—जहाँ पद को तोड़ना मरोड़ना न पड़े और अर्थों की प्रतीति हो जाए, वहां पर अभंग शब्द श्लेष होता है । यथा—

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून ।
पानी गए न ऊबरे, मोती मानुस चून ॥

यहाँ पर 'पानी' के विभिन्न अर्थ है—ताव, कान्ति । अतः अभंग शब्द श्लेष अलंकार है ।

अर्थालंकार

(४) उपमा—जब वर्ण्य वस्तु की रूप, रंग या गुण में अवर्ण्य वस्तु से समानता करते हैं तब उपमा अलंकार होता है यथा—

हो क्रुद्ध उसने शक्ति छोडी एक निष्ठुर नाग-सी ।

यहाँ पर 'शक्ति' की निष्ठुरता को सुन्दरता से कहने के लिए निष्ठुरता के लिए प्रसिद्ध अवर्ण्य 'नाग' से उसकी तुलना की गई है । अतः उपमा अलंकार है ।

उपमा के चार अंग होते हैं—

(क) उपमेय—वर्ण्य या जिसका वर्णन किया जाय उसे उपमेय कहते हैं ।

(ख) उपमान—अवर्ण्य या जिससें उपमा दी जाए, उसे उपमान कहते हैं ।

(ग) साधारण धर्म—जिस विषय (रूप, रंग या गुण) में तुलना की जाए उसे साधारण धर्म कहते हैं ।

(घ) वाचक शब्द—जिस शब्द के द्वारा उपमा दी जाए उसे वाचक शब्द कहते हैं ।

राधा का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है ।

उक्त उदाहरण में 'राधा का मुख'—'उपमेय' है; 'चन्द्रमा'—उपमान है; 'सुन्दर' साधारण धर्म है और 'के समान' वाचक शब्द है ।

उपमा के निम्नलिखित दो भेद होते हैं—

पूर्णोपमा—जहाँ उपमा के चारों अंग (उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक शब्द) विद्यमान हों, वेहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है । यथा—

थी स्वयं ही वह सुवर्ण रत्न.राजि समा ।

उपमेय—वह; उपमान—रत्नाराजि; साधारण धर्म—सुवर्ण, वाचक शब्द—समान । उपमा के चारों अंगों के विद्यमान होने के कारण यहां पर पूर्णोपमा अलंकार है ।

(ख) लुप्तोपमा—उपमा के चारों अंगों में से किसी एक एक, दो या तीन के लुप्त होने पर लुप्तोपमा अलंकार होता है। यथा—

बुद्धि कुशाग्र भाग-सी उसकी शिक्षा पाने में पैठी।

यहाँ पर बुद्धि 'उपमेय' है 'कुशाग्र भाग' उपमान हैं 'सी' वाचक शब्द है, परन्तु 'तेज' साधारण धर्म लुप्त है। अतः लुप्तोपमा अलंकार है।

(५) अनन्वय—(जून ५६)—जब एक वाक्य में एक ही वस्तु उपमान भी हो और उपमेय भी हो तब 'अनन्वय' अलंकार होता है। जैसे—

गगन सदृश है गगन ही, जलधि जलधि सम जान।

यहाँ पर 'गगन' और 'जलधि, स्वयं उपमान और उपमेय दोनों है। अतः यहाँ पर 'अनन्वय' अलंकार है।

(६) असम—जहाँ पर 'उपमान' का सर्वथा निषेध कर दिया जाये, वहाँ असम अलंकार होता है जैसे—

सुकृति तुम समान जग माहीं।
भयउ न है कोउ होवउ नाहीं॥

यहाँ पर महाराज दशरथ उपमेय हैं। उनके उपमान का सर्वथा अभाव है, अतः असम अलंकार है।

(७) प्रतीप—जहाँ पर प्रसिद्ध उपमान में उपमेय की अपेक्षा अपकर्ष दिखाया जाय, वहाँ पर प्रतीप अलंकार होता है। जैसे—

कहा करति निजरूप को, गरब गहैं अविवेक।
रमा उमा शचि शारदा, तो सी तीय अनेक॥

नायिका के सौन्दर्य का खण्डन करने के लिए 'रमा' आदि उपमानों में उस का सादृश्य बताया गया है अतः यहाँ पर 'प्रतीप' अलंकार है।

प्रतीप अलंकार पाँच प्रकार का होता है—प्रथम प्रतीप, द्वितीय प्रतीप तृतीय प्रतीप, चतुर्थ प्रतीप और पंचम प्रतीप।

(८) रूपक (जून ५४, जून ५६, जून ६०)—जहाँ पर अत्यधिक समानता प्रकट करने के लिए उपमेय और उपमान में अभेद आरोप हो, वहाँ रूपक अलंकार होता है। जैसे—

'सोहत है मुख चन्द'

यहाँ मुख और चन्द्रमा में अभेद की प्रतीति होती है, अतः रूपक अलंकार है।

(९) उल्लेख—जहाँ एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया, वहाँ 'उल्लेख' होता है।

(क) प्रथम उल्लेख—जहाँ एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जाय या वर्णित की जाय, वहाँ प्रथम उल्लेख होता है। यथा—

गज रक्षक वृद्धान ने, युवतिन ने श्रीकान्त।
असुर तियन ने हरि लखे, रिसियाने नरकान्त॥

जिस समय श्रीकृष्ण जी मथुरा में आये तो बूढ़ी स्त्रियों ने उसे हाथी की रक्षा करने वाला, युवतियों ने लक्ष्मी-प्रिय, असुरों की स्त्रियों ने नरकान्त विष्णु समझा। अत. श्रीकृष्ण जी का विभिन्न से वर्ण होने के कारण प्रथम उल्लेख है।

(ख) द्वितीय उल्लेख—जहां पर एक वस्तु एक व्यक्ति द्वारा विभिन्न दृष्टि से देखी जाय या वर्णित की जाय, वहाँ द्वितीय उल्लेख होता है। जैसे—

तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।

यहाँ एक ईश्वर का कवि ने विभिन्न दृष्टि से अनेक प्रकार से वर्णन किया है, अतः यहाँ द्वितीय उल्लेख हैं।

(१०) स्मरण—जब किसी पहले देखी हुई या सुनी हुई वस्तु से मिलती-जुलती अन्य वस्तु देख कर पूर्व वस्तु की स्मृति होती है, तो वहाँ स्मरण अलकार होता है। जैसे—

तुल्य रूप शिशु देखियत, अति अद्‌भुतबलधाम।
मख-रक्षक, शरचापवर, मोहि आवतसुधि राम॥

लव को देखने पर राम की स्मृति का होना स्मरण अलंकार का द्योतक है।

(११) भ्रान्ति—अत्यधिक साम्य के कारण जब किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ लिया जाय, तो भ्रान्ति अलंकार होता है। यथा—

घनरव हरिरव जानि के, मतवारो मृगराइ।
लड़न चल्यो पाछे फिर्यो नहिं जबकोई लखाइ।।

बादल की गर्जना और सिंह-गर्जना में सादृश्य होने के कारण एक सिंह को बादल की गर्जना में दूसरे सिंह का भ्रम हुआ। अतः यहाँ भ्रान्ति अलंकार है।

(१२) सन्देह—अत्यधिक सादृश्य से कारण जहाँ "यह है कि वह है" इत्यादि सन्देह होता है, वहाँ सन्देह अलंकार होता है। जैसे—

चन्द्र कला कैं चंचला, कै चंपे की माल।
कै चामीकार को छरी, सुछबि भरी के बाल।।

यहाँ पद में नायिका के शरीर में चन्द्रकला आदि का सन्देह वर्णित किया गया है, अतः यहाँ सन्देह अलंकार।

(१क) अपह्नुति—(१९३६) जहाँ पर वास्तविक वस्तु को छुपा कर अन्य वस्तु को प्रकट किया जाये, वहाँ 'अपह्नुति' अलंकार होता है। जैसे—

नहिं सखि ! राधा वदन यह, है पूनो का चांद।

यहाँ पर 'राधा वदन' को पूर्णिमा का चन्द्रमा बताया गया है, जो कि वास्तव में है नहीं, अतः अपह्नुति अलंकार है।

इसके छः भेद होते हैं शुद्धापह्नुति हेत्वपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति और कैतवापह्नुति।

(१४) उत्प्रेक्षा (१९६६)—प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं। यथा—

लखियत राधा वदन मनु विमल सरद राकेस।

यहाँ पर प्रस्तुत राधावदन में अप्रस्तुत चन्द्रमा की अनिश्चयात्मक कल्पना की है, अतः यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार है :

(१५) अतिशयोक्ति—किसी वस्तु का बड़ा-चढ़ा कर वर्णन करना ही 'अतिशयोक्ति' है। यथा—

मृढ़ इन्दु अरबिन्द मैं कहत सुधा मधुबास।
तो मुख मंजुल अधर मैं तिन को प्रकट प्रकास।।

भाव यह कि तुम्हारे मुख का सौदर्य ही 'सुधा' है और तुम्हारे 'अधर' का रस 'मधु' है। चन्द्रमा में 'सुधा' और अरविन्द में 'मधु' तो मूर्ख व्यक्ति ही बताते हैं। यहाँ पर नायिका के सौन्दर्य का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

इसके छः भेद होते हैं—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, और अत्यन्तातिशयोक्ति।

(१६) अत्युक्ति—जहाँ किसी व्यक्ति के सौन्दर्य, शूरता आदि गुणों का अद्भुत और मिथ्या वर्णन किया जाय, वहाँ अत्युक्ति अलंकार होता है। यथा—

जब जब चढ़ति अटानि बिन चन्द्रमुखी यह बाम।
तब तब घर घर बारत हैं, दीप बारि सब गाम॥

यहाँ पर नायिका के सौन्दर्य का मिथ्या वर्णन किया गया है, अतएव 'अत्युक्ति' अलंकार है।

(१७) तुल्ययोगिता—जहाँ अनेक वस्तुओं का समान धर्म से सम्बन्ध हो, वहाँ 'तुल्ययोगिता' अलकार होता है। यथा—

जो निसि दिन सेवन करै, अरु जो करै विरोध।
तिन्हें परम पद देत प्रभु, कहौ कौन यह बोध॥

यहाँ पर भले और बुरे दोनों के साथ तुल्य व्यवहार होने से तुल्ययोगिता अलंकार है।

(१८) दीपक—जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक गुण, क्रिया, धर्म के साथ सम्बन्ध बताया जाय, वहाँ दीपक अलंकार होता है। जैसे—

सरसिज सौं सरसीं लसत नैनन सों तुव गात।

यहाँ 'गात' प्रस्तुत हैं और 'सरसी' अप्रस्तुत में 'शोभा' एक धर्म का प्रतिपादन करने वाला शब्द है 'लसत'। 'लसत' प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का उपकारक है, अतः यहाँ पर 'दीपक' अलंकार है।

(१९) दृष्टान्त—जहाँ उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य में भेद होते हुए भी उनके साधारण धर्मों में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो, वहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार होता है। जैसे—

दीन दरिद्रिन दुखिन जो, करत न प्रभु अपकार।
केहरि कबहूँकि कृमिन पै, करतल करत प्रहार॥

प्रथम पंक्ति में प्रभु, दीन, दरिद्र और दुःखी उपमेय हैं। दूसरी पंक्ति में केहरी' और 'कृमि' उपमान हैं। अपकार न करना प्रभु का और प्रहार न करना केहरी का धर्म है। इन दोनों धर्मों में परस्पर विम्ब—प्रतिबिम्ब भाव है, अतः यहाँ दृष्टांत अलंकार है।

(२०) निदर्शना—जहाँ उपमेय वाक्य के अर्थ में उपमान-वाक्य के अर्थ का अभेद आरोप किया जाय, वहाँ निदर्शना अलंकार है। यथा—

जंग जीत जे चहत हैं, तोसों बैर बढ़ाय।
जीवे की इच्छा करत, कालकूट ते खाय॥

यहाँ पर 'बैर बढ़ाकर लड़ाई में जीतने की इच्छा करना' यह उपमेय-वाक्य का अर्थ है। इसमें काल कूट खा कर जीने की इच्छा करना' इस उपमान वाक्य के अर्थ का अभेद आरोपण किया गया है, अतः यहाँ पर निदर्शना अलंकार है।

(२१) व्यतिरेक—जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में आधिक्य या उत्कर्ष बताया जाय, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। यथा —

सन्त शैल सम उच्च हैं, किन्तु प्रकृति सुकुमार।

यहाँ स्वभाव से सुकुमार होना शैलों की अपेक्षा सन्तों का उत्कर्ष है। अतः यहाँ पर व्यतिरेक अलंकार है।

(२२) समासोक्ति—जहाँ विशेषणों की समानता के कारण प्रस्तुत वृत्तांत की प्रतीति होती है, वहाँ समासोक्ति अलकार होता है। यथा —

तच्यौ आँच अति विरह की, रह्यौ प्रेम रस भीजि।
नैननि के मग जल बहे, हियो पसीजि पसीजि॥

विरहाग्नि से पसीज कर हृदय अश्रु रूप में नेत्रों के द्वारा बाहर निकल रहा है, यह प्रस्तुत वर्णन है। इससे अप्रस्तुत अर्थ निकालने की क्रिया का भान होता है, अतः यहाँ पर समासोक्ति अलकार है।

(२३) अप्रस्तुतप्रशंसा—जहाँ अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ सूचित हो तो वहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार होता है।

यह अप्रस्तुत प्रशंसा पाँच प्रकार की होती है।

१. अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति।

२. अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति।

३. अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति।

४. अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की प्रतीति।

५. अप्रस्तुत तुल्य वस्तु से प्रस्तुत तुल्य वस्तु की प्रतीति।

यथा—

लीनो राधा मुख रचन, विधि ने सार तमाम।
तिहि मग होय अकाश यह, शशि लें दीखत श्याम॥

यहाँ राधा जी के मुख का सौन्दर्य प्रस्तुत है। उसका वर्णन न करके उसके सौन्दर्य के कारण का वर्णन किया गया है। अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति होने के कारण यहाँ पहली अप्रस्तुत प्रशंसा है।

(२४) पर्यायोक्ति—(जून ५६)—जहाँ एक वस्तु एक रूप से व्यंग्य हो दूसरे रूप से वाच्य हो, वहाँ पर्यायोक्ति' अलंकार होता है।

यथा—

कत भटकत गावत न क्यों, वाही के गुन गाथ।
जाके लोचन ही किये,बिन बलयनि रति हाथ॥

यहाँ 'उत्तरार्द्ध' में 'कवि जी' जो कामदेव के शत्रु हैं—व्यंग्य है। 'अपने लोचन से रति के हाथों को ककण रहित बनाने वाला' दूसरा अर्थ वाच्य है, अतः यहाँ पर 'पर्यायोक्ति' अलंकार है।

(२५) व्याजस्तुति—जहाँ निन्दा से स्तुति की और स्तुति से निन्दा की प्रतीति हो, वहाँ व्याजस्तुति होती है। यथा—

सेमर! तेरो भाग्य यह कहा सराह्यो जाय।
पक्षी करि फल आस जो,तुहि सेवत कित आय॥

यहाँ सेमर वृक्ष की स्तुति की गई है, परन्तु स्तुति से इसकी निन्दा प्रतीत होती है क्योंकि पक्षियों की फल की आशा उससे पूरी नहीं होती—

(२६) विरोध या विरोधाभास—जहाँ विरोध न होने पर भी विरोध-सा

प्रतीत होता हो, उसे विरोध या विरोधाभास अलंकार कहते हैं। यथा

मोहि निपट मीठी लगै, यह तेरी कटु बोल।

यहाँ मिठास और कड़वापन इन दोनों गुणों का विरोध है, अतः यहाँ पर विरोध अथवा विरोधाभास अलकार है।

(२७) विभावना—इसके छः भेद होते हैं—

(क) प्रथम विभावना—कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पति बताई जाय, तब प्रथम विभावना अलंकार होता है। यथा—

काम कुसम धनु सायक ल ीन्हें। सकल भुदन अपने वस कीन्हें।
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥

(ख) दूसरी विभावना—कारण सामग्री अधूरी होने पर भी कार्य की उत्पत्ति में दूसरी विभावना होती है। यथा—.

कामदेव के धनुष-बाण फूलों के होने के कारण सामग्री अधूरी है। अतः यहाँ दूसरी विभावना है।

(ग) तीसरी विभावना—कार्य की उत्पत्ति में बाधक वस्तु के होने पर भी जहाँ कार्य की उत्पत्ति हो जाए, वहां तीसरी विभावना होती है—

लाल तिहारे नैन सर, अचरज करत अचूक।
बिन कंचुक छेदै करै, छाती छेदि छटूक॥

(च) चतुर्थ विभावना—अकारण से कार्य की उत्पत्ति होने पर चतुर्थ विभावना होती है।

(ङ) पंचम विभावना—जहाँ विरुद्ध से कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ पंचम विभावना होती है।

(च) षष्ठ विभावना—जहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति हो वहाँ षष्ठ विभावना होती है।

(२८) विशेषोक्ति—जहाँ कारण सामग्री के होते हुए भी यदि कार्य की उत्पत्ति न हो तो वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे—

नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिक नहीं, रोगजाहि हरि जान॥

यहाँ नियम, धर्म आदि करोड़ों औषधियों से भी मानव रोग से छुटकारा नहीं मिलता। अतः कारण से भी कार्य की उत्पत्ति के अभाव में विशेषोक्ति अलंकार है।

(२९) असंगति—यह तीन प्रकार की होती है।

(क) प्रथम असंगति—यदि कारण और कार्य की स्थिति विभिन्न आधारों में बताई जाय, तो असंगति अलंकार होता है। यथा—

जिन बीथिन बिहरैं सब भाई।
थकित होंहि सब लोग लुगाई॥

विहार करना थकने का कारण है। परन्तु यहां ऐसा नहीं है। यहाँ तो विहार करते हैं राम आदि चारों भाई और थकते हैं अन्य स्त्री-पुरुष। अतः यह असंगति अलंकार है।

(ख) दूसरी असंगति—जो कार्य जिस स्थान पर करने योग्य हो, उसे वहां न करके यदि अन्य स्थान पर किया जाय तो वहाँ भी असंगति अलंकार होता है।

नृप! तव अरि रमणीन के कैसे चरित लखाहिं।
नयनन ढिग कंकण धरैं, तिलक धरै कर माहिं॥

कंकण को नेत्र के समीप और तिलक को हाथ में बताया गया है। अतः यहाँ पर असंगति अलकार है।

(ग) तीसरी असंगति—जिस कार्य को करने का प्रयास हो, यदि उसके विरुद्ध कार्य किया जाय तो भी असंगति अलंकार होता है।

जैसे—

मोह मिटावन हेतु प्रभु, लीन्हों तुम अवतार।
उलटा मोहन रूप धरि, मोहीं सब ब्रज नार॥

(३०) विषम—जहाँ दो बेजोड़ वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध बताया जाय, वहाँ विषम अलंकार होता है। यथा—

कहं धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किशोरा॥

कहाँ वज्र से भी अधिक कठोर धनुष और कहाँ श्री रामचन्द्र जी का

कोमल शरीर—ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं, अतः यहां पर विषम अलंकार है।

(३१) सम—जहाँ दो अनुरूप वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध बताया जाय, वहाँ 'सम' अलंकार होता है। यथा—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न स्नेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, ये हलधर के बीर॥

यहाँ पर परस्पर अनुरूप राधा जी तथा श्रीकृष्ण जी का सम्बन्ध-वर्णन है। अतः यहां समालंकार है।

(३२) अन्योन्य—जहाँ दो पदार्थों में एक-दूसरे से एक-दूसरे का उपकार बताया जाय, वहां 'अन्योन्य' अलंकार होता है। यथा—

पतनी पति बिनु दीन अति, पति पतनी बिनु मन्द।
चन्द बिना ज्यों जामिनी, ज्यों जामिनि बिनु चन्द॥

यहाँ परस्पर एक के अभाव में दूसरे को दीन बताया गया है। दोनों एक दूसरे की प्रसन्नता के कारण हैं, अतः यहाँ अन्योन्य अलंकार है।

(३३) कारणमाला—जहाँ पहले कहा हुआ पदार्थ आगे कहे हुए पदार्थ का, या आगे कहा हुआ पदार्थ पहले कहे हुए पदार्थ का कारण हो, वहाँ 'कारण माला, अलंकार होता है। यथा—

होत लोभ ते मोह, मोह ते उपजै गरब।
गरब बढ़ावै कोह, कोह कलह, कलहहु व्यथा॥

यहाँ पर पूर्व कथित वस्तु उत्तरोत्तर पदार्थ का कारण है। अतः कारण-माला अलंकार है।

(३४) एकावली—जब बहुत से पदार्थों का शृंखलाबद्ध वर्णन किया जाए तब एकावली अलंकार होता है। यथा×

सो नहिं सर जित सरसिज नाहीं।
सरसिज नहिं जेहि अलि न लोभाहीं।
अलि नहिं जो कल गुंजन कीना।
गुंजन नाहिं जु मन हरि लीना।

यहाँ पर अनेक पदाथ ...ा शृंखलाबद्ध वर्णन किया गया है, अतः एकावली अलंकार हैं।

(३५) यथासंख्या या क्रम — जब कुछ पदार्थों का उल्लेख करके उनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों, गुण या क्रिया का उसी क्रम से वर्णन किया जाता है तब यथासंख्य या क्रम अलंकार होता है।

यथा—

> बसंत ने सौरभ ने पराग ने,
> प्रदान की थी अति कांत भाव से;
> वसुन्धरा को पिक को मिलिंद को,
> मनोज्ञता मादकता मदान्धता।

प्रथम चरण में बसन्त का वसुन्धरा से, सौरभ का पिक से और पराग का मिलिंद से क्रमशः सम्बन्ध है, अतः यहाँ यथासंख्य या क्रम अलंकार है।

(३६) परिसंख्या—जब किसी वस्तु, गुण, धर्म या जाति को अन्य सब स्थानों से हटाकर एक ही स्थान पर स्थापित किया जाता है अतः तब परिसंख्या अलंकार होता है। यथा—

> है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल-छद्म में,
> पांडित्य पर निंदा विषय में, शूरता है सद्म में।

यहाँ 'चतुरता को सब ओर से हटाकर 'चाटुकारी, में 'कुशलता' को 'छल-छद्म में, 'पांडित्य' को 'परनिन्दा' में और 'शूरता' को 'सद्म' में स्थापित किया गया है, अतः परिसंख्या अलंकार है।

(३७) काव्यलिंग—जब कवि कोई ऐसी बात कहे जिसकी पुष्टि के लिए कवि किसी कल्पित कारण की अवतारणा करे तब काव्यलिंग अलंकार होता है। यथा—

> कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाइ।
> उहि खाये बौराइ जग इहि पाये बौराइ॥

प्रथम पंक्ति में कही सोने में धतूरे से सौ गुनी मादकता का द्वितीय पंक्ति में समर्थन किया गया है, अतः काव्यलिग अलंकार है।

(३८) अर्थान्तरन्यास—जब किसी सामान्य बात का विशेष से समर्थन किया जाय या विशेष बात का सामान्य से समर्थन किया जाए, तब अर्थान्तर-न्यास अलंकार होता है यथा—

अति लघु भी सतसंग से, पाते पदवी उच्च ।
चढ़ें ईश के शीश पर, सुमन संग कृमि तुच्छ ।।

प्रथम पंक्ति में एक सामान्य बात कही गई है । फिर दूसरी पंक्ति में एक विशेष बात कह कर उसका समर्थन किया गया है ।

विशेष—जो बात किसी एक वस्तु या व्यक्ति पर लागू हो उसे विशेष बात कहते हैं और जो बात सब पर लागू हो उसे सामान्य बात कहते हैं ।

(३९) उदाहरण—जब उपमेय और उपमान सम्बन्धी दो वाक्यों में साधारण धर्म भिन्न होने पर भी वाचक शब्दों द्वारा समता दिखाई जाए तब उदाहरण अलंकार होता है । यथा—

ज्यों भेद जाता भानु का कर अंधकार समूह को,
वह पार्थ-नन्दन घुस गया त्यों भेद चक्रव्यूह को ।

'ज्यों' वाचक शब्द के द्वारा दो उपमेय और उपमान सम्बन्धी वाक्यों में साधारण धर्म भिन्न होने पर भी समता दिखाई गई है अतः उदाहरण अलंकार है ।

(४०) तद्गुण—जब कोई वस्तु अपना गुण त्याग कर पास की किसी दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण कर ले, तब तद्गुण अलंकार होता है । यथा—

अधर धरत हरि के परत,ओंठ डीठि पट ज्योति ।
हरित बांस की बांसुरी, इन्द्र धनुष रंग होति ।।

यहाँ पर हरे रंग की बांसुरी कृष्ण के अधर पर जाते ही उनके अधरों-वस्त्रों आदि के रगों को ग्रहण कर लेती है । यहां तद्गुण अलंकार है ।

(४१) अतद्गुण—जब कोई वस्तु अपने पास की किसी वस्तु का गुण ग्रहण न करे तब अतद्गुण अलंकार होता है । यथा—

चन्दन विष व्यापै नहीं,लिपटे रहत भुजंग ।

सर्पों के लिपटे रहने पर भी चन्दन अपनी शीतलता को नहीं त्यागता है और न ही उनके विष को ग्रहण करता है, अतः अतद्गुण अलंकार है।

(४२) व्याजोक्ति—जहां किसी बात का भेद प्रकट होने को हो, पर उसे किसी बहाने से छिपा लिया जाए, वहां व्याजोक्ति अलकार होता है। यथा—

ललन-चलन सुनि पलन में अंसुआ झलके आय।
भई लखान न सखिन हूँ, झूठे ही जमुहाय॥

जब नायिका ने देखा कि नायक आँखों से ओझल होने वाला है, तब वह रह न सकी और उसकी आँखों में अश्रु आ गए। परन्तु यह सोच कर कि यह भेद सखिया को न खुल जाए, वह झूठ-मूठ जम्हाई लेने लगी। वियोग से उत्पन्न अश्रुओं के भेद को झूठी जम्हाई के बहाने से छिपाने के कारण यहाँ व्याजोक्ति अलंकार है।

(४३) स्वभावोक्ति—जहां पशु, पक्षी, बालक आदि का स्वाभाविक एवं चमत्कारपूर्ण वर्णन हो, वहां स्वभावोक्ति अलंकार होता है। तथा—

भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाय।
भागि चलत किलकातमुख दधि ओदन लपटाय॥

यहां पर बालक की चपलता का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया; अतः स्वभावोक्ति अलंकार है।

उभयालंकार

(४४) संसृष्टि—जब दो अलंकार किसी उक्ति में एक-दूसरे के आश्रय के बिना स्वतन्त्र रूप में मिले रहते हैं और आसानी से पहचाने जा सकते हैं तो उनके मेल को संसृष्टि कहते हैं। तथा—

हर घड़ी हर अवसरों पर हर जगह,
हर-गुणों का गान ही है हो रहा।

'हर' शब्द की आवृत्ति के कारण पहली पंक्ति में लाटानुप्रास है। हर-गुणों में हर का अर्थ महादेव होने से यमक है। इस प्रकार यहां दो अलंकार स्वतन्त्र रूप में आए हैं। इसे संसृष्टि कहते हैं।

(४५) संकर—जहाँ एक से अधिक अलंकार इस प्रकार मिले हुए हों कि पृथक्-पृथक् न मालूम हों और एक-दूसरे पर आश्रित हों, वहाँ संकर होता है। यथा—

भिए मानों मन के सुमनों से माला एक बना लाई।
इसके मिस अपने मानस की भेंट, इन्हें देने आई॥

प्रथम पंक्ति में 'मन के सुमनों' में रूपक है और 'मानो माला एक बना लाई' में उत्प्रेक्षा है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं, दूसरी पंक्ति में 'भेंट देना' माला पर आश्रित है, यह उत्प्रेक्षा का फल है अतः अपह्नुति उत्प्रेक्षा पर और उत्प्रेक्षा अपह्नुति पर आश्रित है। इस प्रकार इस पद्य में रूपक, उत्प्रेक्षा और अपह्नुति एक दूसरे पर आश्रित हैं। अतः यह संकर अलंकार है।

विशेष—(Note)—जब किसी पद्य में एक से अधिक अलंकारों के होने का संदेह हो और यह निश्चय न हो सके कि उसमें कौन सा अलंकार है, तब भी संकर ही होता है। यथा—

मुख चन्द्र की शोभा बढ़ातीहास्य द्युति ज्योत्सना सदृश।

इसमें रूपक और उपमा दोनों का संदेह होता है, परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ रूपक है या उपमा। अतः यह भी संकर अलंकार है।

छंद-प्रकरण

प्रश्न १—काव्य में छंद-योजना तथा इसके महत्व एवं उपयोग के विषय अपना मत प्रकट कीजिए।

उत्तर—कविता में छन्दों का उपयोग निम्न दृष्टियों से किया जाता है—

१. **भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए**—भावों की अभिव्यक्ति को स्पष्टत और तीव्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए छंद कविता की भावाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। प्रत्येक भाव का एक स्वरूप होता है जो नादयुक्त होता है। जो कवि इष्टभाव के स्वरूप को पहचान कर उसे उसी के अनुरूप छंद में बाँध देता है, वही सफल है। अनुरूप छंद में बद्ध होकर भाव अधिक प्रस्फुटित होने लगता है। इसके लिए कवि का मनोवैज्ञानिक और संगीतज्ञ होना परमावश्यक है। कारण यह कि भाव के स्वरूप को पहचानने लिए मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है और उसको उसी के अनुरूप छंद में ढालने के लिए संगीत की। अतः कहा जा सकता है कि छंद भावों के सच्चे वाहक होते हैं।

२. **भावों के बिखराव में एकता स्थापित करने के लिए**—छन्द विशृंखला भावों और विचारों में एक-सूत्रता स्थापित करते हैं। कवि के भावनाकोष में अनेक भाव संस्कार रूप से निवास करते हैं। किसी बाह्य प्रेरणा से सहसा सजग होकर वे अभिव्यक्ति के लिए तड़पने लगते हैं। अतः कवि भावों को छन्दों में बाँधते समय सरलता से उसकी अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करने में समर्थ हो जाता है।

३. **कविता में सजीवता की प्रतिष्ठा करने के लिए**—छन्दों का प्राण लय है। नाद के सुसंगत और सुषमामय कम्पन को ही लय कहते हैं। नाद का यह कम्पन ही जीवन का प्रतीक है। छंद अभिव्यक्ति में इसी सुषमामय और सुसंगत नाद की प्रतिष्ठा करते हैं जिससे अभिव्यक्ति में जीवन का संचार हो जाता है। इसीलिए छन्दबद्ध अभिव्यक्ति सामान्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक प्रेरणा-विधायक होती है।

४. काव्य को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए—छंदों में वर्णन और मात्रा सम्बन्धी विशेष नियमों का अनुकरण किया जाता है। विशेष क्रम से प्रयुक्त वर्ण और मात्रा विशेष प्रकार का भाव उत्पन्न करते हैं।

५. कविता में रमणीयता और सौन्दर्य वृद्धि के लिए—छंदों का भाव के अनुकूल परिवर्तन होता रहता है। इस भावानुकूल परिवर्तन से प्रत्येक छन्द में एक नवीनता परिलक्षित होती है।

६. छन्द भावों के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं और उसके अनुकूल प्रभाव की सृष्टि करते हैं जिनके योग से रसनिष्पत्ति सरलता से हो जाती है।

७. छंद कवि और पाठक के बीच की कड़ी हैं। वे कवि के हृदय का साकार प्रतिबिम्ब हैं जो दूसरों के रहस्यों में सरलता से प्रवेश कर जाते हैं। अतएव छन्दों का उपयोग प्रेषणीयता की दृष्टि से भी अनिवार्य है।

८. कवि के व्यक्तित्त्व की व्यजना करने के लिए एवं उक्ति में एक अनिर्वचनीयता उत्पन्न करने के लिए छंदों का उपयोग काव्य में आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के छन्दों का बहुमुखी उपयोग और महत्व है। कविता की रचना में उनकी अपेक्षा उचित नहीं। उनकी उपेक्षा से काव्य में अनर्थ होने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न २—छंद का लक्षण लिखकर कविता के साथ उसका सम्बन्ध लिखिये।

उत्तर—छन्द प्रभाकर में 'छन्द' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

मत्त बरण गति यति नियम अन्तति समता बन्द।
जा पद रचना में मिले भानु मनत स्वच्छन्द॥

अर्थात् जिस कविता में मात्राओं और वर्णों के क्रम, गति और यति के नियम तथा चरणान्त की समता पाई जाती है, उसे छंदबद्ध कविता कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार छन्द के प्रमुख तत्व तीन निश्चित होते हैं—

(१) मात्राओं और वर्णों की किसी क्रम-विशेष से रचना।
(२) गति और यति के विशेष नियमों का पालन।
(३) चरणान्त की क्षमता।

(१) मात्राओं और वर्णों की रचना—छन्द में वर्णों की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। नियोजन की सुविधा के लिए वर्ण दो प्रकार के बताये गये है—लघु और गुरु। इनसे सम्बन्धित छन्द-शास्त्र में कुछ नियम निश्चित हैं। वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। इसी को काल-व्याप्ति भी कहा जाता है। लघुवर्ण के उच्चारण में जो काल प्रयुक्त होता है, उसी को एक मात्रा माना जाता है तथा गुरु वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है उसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं।

(२) गति (स्वर-साम्य-युक्त-उच्चारण-प्रवाह)—गति का सम्बन्ध लय से होता है। प्रत्येक छन्द की एक विशेष लय होती है। लय और छन्द में घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यह बात शुक्ल जी की छन्द की परिभाषा में भी स्पष्ट है। वे लिखते है—'छन्द वास्तव में बनी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचों का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। दूसरे शब्दों में नाद की सुसंगति और सुषमामय अभिव्यक्ति को लय कहते हैं। नाद को ब्रह्म का पर्यायवाची कहा गया है। नाद को ही वेद में वाक् शब्द से अभिहित किया गया है। उसी से विश्व की सृष्टि बताई गई है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि लय केवल बाह्य वस्तु नहीं है। वह हमारी आत्मा की संगीतात्मक अनुभूति है। जैसी जिसकी आत्मा होगी वैसा ही उससे अद्भुत लय का स्वरूप होगा। लय का स्वरूप प्रेरणा पर भी आधारित रहता है। बाह्य जीवन और जगत् की बहुत-सी घटनाएँ हमारी आत्मा पर सर्वथा उसके भावात्मक रूप पर कशाघात करती है जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में स्वतः एक प्रकार की लयात्मक अभिव्यक्ति अद्भुत रहती है। वह अभिव्यक्ति अभिव्यक्तिकर्ता के व्यक्तित्व का दर्पण होती हैं, अभिव्यक्ति-कर्त्ता की आत्मा, हृदय, बुद्धि आदि जितने परिष्कृत होते हैं, नाद रूपी ब्रह्म की अनुभूति मे वह जितना समर्थ होता है, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही भावपूर्ण लय को जन्म देती हैं। निष्कर्ष यह है कि छन्द का प्राण लय है। लय कवि की आत्मा की अभिव्यक्ति है।

(३) यति—छन्दों के उच्चारण में जो बीच में विराम आते हैं, उन्हें यति कहते हैं।

(४) चरणान्त समता या तुक—समस्त पदों के अन्तिम अक्षरों के मिलान को तुक कहते हैं। इसके द्वारा छन्द में सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है। आजकल इसका विशेष ध्यान नहीं रखा जाता है तथापि यहाँ-वहाँ उसका प्रयोग स्वतः हो ही जाता है। जैसे—

फलख किसको नहीं सुहाता,
कौन नहीं इसको अपनाता।

यहाँ सुहाता और अपनाता में 'तुक' है।

छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण

१—वर्णिक छन्द विद्युन्माला—म. म. ग. ग.।
मा मा गा गा विद्युन्माला

'विद्युन्माला छन्द में क्रमशः दो मगण (ऽ ऽ ऽ) और दो गुरु होते हैं। प्रत्येक पाद में आठ वर्ण रहते हैं। जैसे—

म	म	ग	ग
ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ	ऽ	ऽ
ग मा मा	ता ते री	धा	री

गंगा माता ! तेरी धारा, काटे मेरा फन्दा सारा।
विद्युन्माला जैसे सोहे, वीची माला तेरी मोहे॥

२. चम्पकमाला

इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः भगण, मगण, सगण और गुरु होते हैं। इसका दूसरा नाम रुक्मवती है।

भ	म	स	ग
ऽ ।।	ऽ ऽ ऽ	।। ऽ	ऽ

चाह नहीं तो वैभव फीका। खेल नहीं तो शैशव फीका।
मान नहीं तो जीवन फीका। रूप नहीं तो यौवन फीका॥

३. शालिनी—मा ता ता गा मिली 'शालिनी' है।

शालिनी छन्द में ग्यारह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः एक मगण दो तगण और दो गुरु होते हैं। यति चौथे वर्ण पर तथा पदान्त में होती हैं।

जैसे—

म त त ग ग
SSS SS। SS। S S

कैसी कैसी ठोकरें खा रहा है, तीखी पीड़ा चित्त में पा रहा है।

तो भी प्यारे! हाल तेरा वही है, विद्वानों की पद्धति क्या यही है।

४. 'दोधक' तीन भकार गुरु दो। (छन्दशिक्षा)

दोधक छन्द में ग्यारह वर्ण होते हैं और प्रत्येक पाद में क्रमशः तीन भगण और दो गुरु होते हैं।

भ भ भ ग ग
S।। S।। S।। S S

आरत की प्रभु आरति टारो, दीन अनाथ को प्रभु पारो ॥
थावर जग जीव जु कोऊ, सम्मुख होत कृतारथ सोऊ ॥

५. भुजंगी—

त्रि या औ लगा से भुजंगी बने।

'भुजंगी' छन्द में ग्यारह वर्ण होते हैं इसके प्रत्येक पाद में क्रमशः तीन यगण और एक लघु तथा एक गुरु होते हैं। जैसे—

य य य ल ग
।SS ।SS ।SS । S

त्रुभे! धन्य झंकार है धाम में, रहे किन्तु टंकार संग्राम में।

इसी हेतु है जन्म टंकार का, न टूटे कभी तार झंकार का ॥

६. इन्द्रवज्रा—त त ज ग ग

इन्द्रवज्रा छन्द में भी ग्यारह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः जगण, तगण, जगण और दो गुरु होते हैं। पाँचवें और छठे वर्णों पर यति होती है। जैसे—

त त ज ग ग
SS। SS। ।S। S S

मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ

भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
देखूँ उसे मैं नित बार बार।
मानो मिला मित्र मुझे पुराना ॥

७. उपेन्द्रवज्रा—

उपेन्द्रवज्रा छन्द में भी ग्यारह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमश: जगण, तगण, जगण और दो गुरु होते हैं। यति पाँचवें वर्ण तथा ग्यारहवें वर्ण पर होती है। जैसे—

ज त ज ग ग
।S। SS। ।S। S S

अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायौ, अनेकधा वेदन गीत गायो।
तिन्हें न रामानुज बन्धु जानै, सुनो सुधी केवल ब्रह्म मानै॥

८. उपजाति—

इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के संयोग से उपजाति नामक छन्द बनता है। 'उपजाति' के कुछ पाद 'इन्द्रवज्रा के होते हैं और कुछ उपेन्द्रवज्रा के इनके मेल का कोई विशेष नियम नहीं है। जिस पद्य में कुछ चरण उपेन्द्रवज्रा के हों और कुछ चरण इन्द्रवज्रा के हों, उसे 'उपजाति' कहते हैं। जैसे—

परोपकारी बन वीर! आओ, नीचे पड़े भारत को उठाओ।
हे मित्र! त्यागो मद मोह माया, नहीं रहेगी यह नित्य काया॥

९. तोटक—स स स स

इस छन्द में १२ वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में चार सगण रहते हैं। जैसे—

स स स स
।।S ।।S ।।S ।।S

मतभेद भयानक पाप रहा, बिन नेह न मेल मिलाप रहा।
अभिमान अधोमुख ठेल रहा, अधमाधम ढोंग धकेल रहा॥

१० स्रग्विणी (प्रभाकर, जून १९५३)—र र र र

इस छन्द में बारह वर्ण होते है। प्रत्येक पाद में चार रगण होते है। जैसे—

र र र र
S।S S।S S।S S।S

राम आगे चले, मध्य सीता चली,
बन्धु पीछे भए, सोभ सोभे भली।
देखि देही सबै कोटिधा के मनो,
जीव जीवेश के बीच माया मनो ॥

११. भुजंगप्रयात—य य य य।

इस छन्द में बारह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में चार यगण रहते हैं। जैसे—

य	य	य	य
।SS	।SS	।SS	।SS

निराकार आकार तेरा नहीं है,
किसी भांति का मान मेरा नहीं है।
सखा सर्व संघात से तू बड़ा है,
मुझे तुच्छता में समाना पड़ा है ॥

१२ इन्द्रवंशा—त त ज र।

इस छन्द में भी बारह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः दो तगण, एक जगण और एक रगण होते हैं। जैसे—

त	त	ज	र
SS।	SS।	।S।	S।S

यों ही बड़ा हेतु हुए बिना कहीं।
होते बड़े लोग कठोर यों नहीं ॥
वे हेतु भी यों रहते सुगुप्त हैं।
ज्यों अद्रि अम्भोनिधि में लुप्त हैं ॥

१३. द्रुतविलम्बित—न भ भ र।

इस छन्द में क्रमशः नगण, भंगण, भगण और रगण होते हैं। जैसे—

न	भ	भ	र
।।।	S।।	S।।	S।S

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा ॥

१४. वंशस्थ—ज त ज र।

इस छन्द में भी बारह अक्षर होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः जगण, तगण, जगण और रगण होते हैं। जैसे—

ज	त	ज	र
।S।	SS।	।S।	S।S

वसंत की भाव भरी विभूति सी।
मनोज की मंजुल पीठिका सभा।
लगी कपीं थी सरसा सरोजिनी।
कुमोदिनी-मानस-मोदिनी कहीं।

१५. तारक—

इस छन्द में तेरह वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक पाद में चार सगण और एक गुरु होते हैं। जैसे—

स	स	स	स	ग
।।S	।।S	।।S	।।S	।

हम वानर हैं रघुनाथ पठाए, तिनकी तरुणी अवलोकन आए।
हति मोहि महा मति भीतर जैयँ तरुणीहिं हतै कदली सुख पैए॥

१६. वसंततिलका—त भ जा ज गा गा।

इस छन्द में चौदह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु होते हैं। यति आठवें वर्ण पर तथा पादान्त में होती है जैसे :—

त	भ	ज	ज	ग	ग
SS।	S।।	।S।	।S।	S	S

बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी,
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यन्त प्यार दिखला मिलते सबों से,
वे थे सहायक बड़े दुख के दिनों में।

१७. मंजभाषिणी (प्रभाकर, जून १९६१)—

इसमें १३ वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः सगण, जगण, सगण,

जगण और एक गरु होते हैं। यति छठे तथा अन्तिम अक्षर पर होती है।
जैसे—

स ज स ज ग
।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ।ऽ। ऽ

चुप बैठि, राम सुभ नाम लीजिए,
गुण से अतीत गुणगान कीजिए।
मत वाम दाम पर चित्त दीजिए,
तजि मोह जाल हरि भक्ति कीजिए।

१८. चामर—

यह छन्द पन्द्रह अक्षरों का होता है। इसके प्रत्येक पाद में क्रमशः रगण, जगण, रगण, जगण और रगण होते हैं। जैसे—

र ज र ज र
ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।ऽ

कुञ्ज में गुपाल लाल राधिका विराजहीं।
वृन्द गोपिकान के सुराग रंग साजहीं॥
नृत्य में उमंग संग बेनु बेनु बाजहीं।
लच्छरी विलोकि पच्छ अच्छरी सुलाजहीं॥

१९. मालिनी—

इस छन्द में पन्द्रह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः दो नगण, एक मगण और दो यगण रहते हैं। यति आठवें वर्ण पर तथा पादान्त में होती है।

न न म य य
।।। ।।। ऽऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ

पल पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी।
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती॥
उर पर जिसके है सोहती मुक्त माला।
वह नव-नलिनी से नैन वाला कहाँ है॥

२०. पंचचामर—

इस छन्द में प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और गुरु होते हैं। आठवें वर्ण पर और पाद के अन्त में यति होती है। जैसे—

ज र ज र ज ग
। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ

महेश के महत्व का विवेक बार बार हो।
अखण्ड एक तत्व का अनेकधा विचार हो।
बिगाड़ के समाज के प्रबन्ध का सुधार हो।
प्रवीण पञ्चराज के प्रपञ्च का विचार हो।

२१. चंचला—'चंचला' छन्द में सोलह अक्षर रहते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः रगण, जगण, रगण, जगण, रगण और एक लघु होते हैं। यदि आठवें वर्ण पर तथा पादान्त में होती है। जैसे—

र ज र ज र ल
ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ।

पक्षिराज, यक्षराज प्रेतराज यातुधान।
देवता अदेवता, नृदेवरा जिते जहान॥
पर्वतारि अर्ब—खर्व सर्व सर्वथा बखानि।
कोटि-कोटि सूर-चन्द्र रामचन्द्र दास जानि॥

२२. मन्दाक्रान्ता—

इस छन्द में सत्रह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः एक मगण, एक भगण, एक नगण दो तगण और दो गुरु होते है। यति चार और छः और सात पर होती है। जैसे—

म भ नं त त ग ग
ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ

आई वेला हरि गमन की छा गई खिन्नता सी।
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में।
आगे सारे स्वजन करके साथ अक्रूर को ले।
धीरे धीरे सजनक कढ़े सद्म में से मुरारी।

२३. शिखरिणी—

शिखरिणी छन्द में भी सत्रह अक्षर होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, एक लघु और एक गुरु होते हैं। यति छः और ग्यारह पर होती है। जैसे—

य म न स भ ल ग
ISS SSS III IIS SII I S

मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या संभल के,
बहे आँसू होके, सखि सब उपालम्भ गल के।
उन्हें हो आई जो निरख मुझको नीरव दया,
उसी की पीड़ा का अनुभव मुझे हाय! रह गया।

२४. पृथ्वी—

इस छन्द में सत्रह वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः जगण, सगण, जगण, सगण, सगण, यगण और एक लघु तथा एक गुरु होते हैं। यति आठवें और सत्रहवें अक्षर पर होती है। जैसे—

ज स ज स य ल ग
ISI IIS ISI IIS ISS I S

निहार सखि सारिका कुछ कहे बिना शांत सी,
दिये श्रवण है यही, इधर मैं हुई भ्रांत सी,
इसे पशु न जान तू, सुन सुभाषिणी है बनी—
'धरो! खगि, किसे धरूँ? धृति लिये गये हैं धनी॥ (गुप्तजी)

२५. शार्दूलविक्रीड़ित—

इस छन्द में उन्नीस वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण दो तगण और एक गुरु होते हैं। यति बारहवें वर्ण पर तथा पादान्त में होती है। जैसे—

म स ज स त त ग
SSS IIS ISI IIS SSI SSI S

आ बैठी उर मोहजन्य जड़ता विद्या विदा हो गई।
पाई कायरता मलीन मन को हा! वीरता खो गई।

जागी दीन दशा दरिद्रता की, श्री सम्पदा सो गई।
माया शंकर की हँसाय हमको रुद्रा बनी रो गई॥

२६. गीतिका—

इस छन्द में बीस वर्ण होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः सगण, दो जगण, भगण, रगण, सगण, एक लघु और एक गुरु होते हैं। इसमें यति बारहवें वर्ण पर तथा पादान्त में होती है। जैसे—

स ज ज भ र स ल ग
।।S ।S। ।S। S।। S।S ।।S । S

दश कण्ठ रे शठ छांड़ि दे हठ, बार बार न बोलिये।
अब आज राज समाज में बल, साजु चित्त न डोलिये।
गिरिराज ते गुरु जानिये, सुरराज को धनु हाथ लैं।
सुख पाय ताहि चढ़ाय कै घर जाहि रे यश साथ लैं।।

मात्रिक छन्द

१. तोमर—

तोमर छन्द में बारह मात्राएँ होती हैं। अन्त में क्रमशः एक गुरु और एक लघु रहता है। जैसे—

ग ल
।। ।S S। ।S।

तब चले बाण करास, फुंकरत जनु बहु व्याल।
कोप्यो समर श्रीराम, चल विशिख निशित निकाम।।

२. चौपाई—

कला सोलह जहें सदा सुहाई। जाके अन्त जता नहि भाई॥
त्रिकल परँ समकल नहि आई। सम-सम विषम विषम चौपाई॥

'चौपाई' छन्द में सोलह मात्राएँ होती हैं। अन्त में जगण (।S।) अथवा तगण (SS।) नहीं होते। त्रिकल अर्थात् सम मात्राओं के समूह के पश्चात् समकल अर्थात् सम मात्राओं का समूह नहीं आता, वरन् विषमकल अर्थात् विषम मात्राओं का समूह ही आता है। चौपाई छन्द में समकल के पश्चात्

समकल और विषमकल के पश्चात् विषमकल ही आना चाहिए। जैसे—

। । । ऽ । ऽ । । । । । ऽ ऽ

लषन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥

सकल लोक सब भूप डराने। सिय हिय हरषु जनकु सकुचाने॥

३. पद्धरि—

पद्धरि छन्द में सोलह मा एँ होती हैं। यति आठ-आठ मात्राओं पर रहती है। अन्त में जगण रहना चाहिए। जैसे—

ऽ ऽ। ऽ ऽ । । ऽ। ऽ।

श्रीकृष्ण चन्द अरविंद नैनन, धरि अधर बजावत मधुर बैन।

गण ग्वाल संग आगे सुधेन, बन ते ब्रत आवत मोद देन॥

४. पादाकुलक —

इसमें सोलह मात्राएँ होती हैं जो चार चौकलों के रूप में रहती है। चौकल का अभिप्राय है चार मात्राओं का समूह। जैसे—

सुमति कुमति सबके उर रहहीं। वेद पुराने निगम अस कहहीं।

जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति माना। जहाँ कुमति तहँ विपत्ति निदाना॥

५. शक्ति—

इस छन्द में अठारह मात्राएँ होती हैं। आदि वर्ण लघु हो जाना चाहिए, पाद के अन्त में सगण, रगण अथवा नगण होना चाहिए। कुछ लेखकों के अनुसार इसमें क्रमश: पहले दो तिलक, फिर एक तिलक और अन्त में एक पंचकल होता है।

यह छन्द उर्दू के बहर नामक छन्द से मेल खाता है। जैसे—

। ऽ । । । । । ऽ । ऽ ऽ । ऽ

अरे उठ कि अब तो सवेरा हुआ, नहीं दूर तेरा अँधेरा हुआ।

बहुत दूर करना तुझे है सफर, नहीं ज्ञात है राह घर की किधर॥

६. पीयूषवर्ष—

इस छन्द में उन्नीस मात्राएँ रहती हैं। पाद के अन्त में क्रमश: एक लघु और एक गुरु रहते हैं। यति दस मात्राओं के पश्चात् तथा पादान्त में होती है। जैसे—

ल ग

ऽ। ऽ। ।ऽ। ऽ।। ऽ ।ऽ

एक ओर विशाल, दर्पण है लगा,
पार्श्व से प्रतिबिम्ब जिसमें है जगा।
मन्दिरस्था कौन, यह देवी भला ?
किस कृति के अर्थ है इसकी कला ॥

यदि 'पीयूषवर्ष' छन्द में दस और नौ पर होने वाली यति के नियम का पालन न किया जाय और पादान्त में गुरु के स्थान पर लघु आ जाय अर्थात् पादान्त में दो लघु हों तो वहाँ 'आनन्दवर्षक' होता है। जैसे—

ल ल

ऽ। ।।ऽ ऽ।ऽऽ ऽ ।।।

हाय ! हमने भी कुलीनों की तरह, जन्म पाया प्यार से पाले गए।
जो बचे फूले फले तब क्या हुआ, कीट से भी नीचतर माने गए ॥

७. हंसगति—इस छन्द में २० मात्राएँ होती हैं। यति ग्यारहवीं मात्रा पर और पादान्त में रहती है। जैसे—

होते हैं छवि देख, विलोचन विकसित,
होता है गुण देख, हृदय आनन्दित।
प्रिय पर लगता है नहीं, रूप से दुर्गुण,
कुरूपता को ढक देता है सद्गुण ॥

८. कुण्डल—इस छन्द में बाईस मात्राएँ होती हैं। यति बारह और दस मात्राओं पर रहती है। पाद के अन्त में एक यगण होता है। भानु कवि के अनुसार इसमें यति बारह, छः, चार मात्राओं पर होती है। जैसे—

य

ऽऽ ।। ऽ। ऽऽ ऽ।ऽ ।ऽऽ

मेरे मन राम नाम, दूसरो न कोई।
सन्तन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई।
अब तो बात फैलि गई, जानत सब कोई।
अंसुवन जल सींचि सींचि, प्रेम बेल बोई ॥

९. रोला—(प्रभाकर) (नव० ६० जून ६१) इस छन्द में चौबीस मात्राएँ और यति ग्यारह और तेरह मात्राओं पर रहती है। कुछ आचार्यों के

मतानुसार रोला में पाद के अन्त में दो गुरु होने चाहिए। पर ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। जैसे—

II S II S I S I S SS I I SS
सब को सुख हो कभी, नहीं कोई दुख पाये।
सब का होवे भला, किसी पर बला न आये।
कब यह सम्भव है पर है कल्पना निराली।
इसमें है रस भरा सुधा है इसमें ढाली।

१०. दिक्पाल—इस छन्द में चौबीस मात्राएँ होती हैं। हर बारह मात्राओं के पश्चात् यति पड़ती है। कुछ आचार्यों के अनुसार पाँचवीं और सत्रहवीं मात्रा का लघु होना आवश्यक है। जैसे—

S S I S I S S I I S I S I I I S
मैं ढूंढता तुझे था, जब कुन्ज और वन में।
तू खोजता मुझे था, तब दीन के वतन में॥
तू आह बन किसी की, मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता, संगीत में भजन में॥

११. हरिगीतिका—इस छन्द में अट्ठाईस मात्राएँ होती हैं। यति सोलह बारह मात्राओं पर रहनी चाहिए। पादान्त में लघु गुरु आते हैं। जैसे—

ल ग
I I SS S I I I I I S I I I I I S I I S I S
मन जाहि राचेउ मिलिहि सो वरु, सहज सुन्दर सावरो।
करुना निधानु सुजानु सील सनेहु, जानत रावरो॥
इहि भांति गौरि असीस सुनि, सिय सहित हिय हर्षित अली।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि-पुनि, मुदित मन मन्दिर चली॥

(नोट—यहां प्रथम पाद में 'चे' ह्रस्व पढ़ा जाता है। इसलिए उसकी एक मात्रा गिनी गई है।)

१२. सार—इस छन्द में अट्ठाईस मात्राएँ आती है। यति सोलह और बारह के पश्चात् होती है। पाद के अन्त में दो गुरु आते हैं। जैसे—

गँ ग
। ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ । । ऽ ऽ
जगन्नियंता की इच्छा से, यह संसार बना है।
उसकी ही क्रीड़ा का रूपक यह समस्त रचना है ।।
है यह कर्म भूमि जीवों की, यहां कर्मच्युत होना।
धोखे भ पड़ना, अलभ्य अवसर से है फर धोना ।।

१३. विधाता—इस छन्द में अट्ठाईस मात्राएँ होती हैं। चौदह-चौदह मात्राओं पर यति रहती है। पहली, आठवीं और पन्द्रहवीं मात्रा लघु होनी चाहिए। जैसे—

ल ल ल
। ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ
बड़ों के मन्त्र मानेंगे, प्रसंगों को न भूलेंगे।
कहो क्या ऊँचे ऊंचों की, ऊंचाई को न छू लेंगे ।।
बढ़ेंगे प्रेम के पौधे, दया के फूल फूलेंगे।
भरे आनन्द से चारों फलों के झाड़ झूलेंगे ।।

१४. चतुष्पदी ('चवपैया')—इस छन्द में तीस मात्राएँ होती हैं। यति दिशा (दस) वसु (आठ) और रवि (बारह) मात्राओं पर होती हैं। पाद के अन्त में एक गुरु रहता है। जैसे—

भै प्रकट कृपाला, दीनदयाला, कौशल्या हितकारी।
हर्षित महतारी, मुनि मनाहरी अद्भुत रूप निहारी ।।
लोचन अभिरामा तन घनश्यामा, निज आयुध भुज चारी।
भूषण वनमाला, नैन विसाला शोभासिन्धु खरारी ।।

१५. ताटंक—इस छन्द में तीस मात्राएँ होती हैं। यति सोलह और चौदह मात्राओं पर होती है। पाद के अन्त में मगण (ऽऽऽ) आता है। जैसे—

म
ऽ । ऽ । ऽ । । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ
आज त्रस्त मानवता पीड़ित रूढ़ अन्ध विश्वासों से,
आज व्यथित है दया भावना सतत स्वार्थ संघातों से।
आज अहिंसा लुप्त हो चुकी साम्प्रदायिक उपदेशों से,

आज प्रपीड़ित सत्य धर्म है दानव के संदेशों से।

१६. लावनी—इस छन्द में ताटंक छन्द के लक्षणों की ही भाँति लक्षण हैं। भेद केवल इतना है कि इसके अन्त में सर्वत्र मगण नहीं होता, जैसे—

S I S I I I I I I S S I I I S S S S S S S

आज विश्व-नभ-सकल धूसरित, अन्यायों की मूलों से,
अनाचार की लू है चलती दिङ्मंडल के कूलों से,
तड़प रहा है तप्त मनुज-मन आज विषमता वह्नि से,
शोषण के प्रज्वलित वदन के धधक रहे अंगारों से।

यहां तीसरे पाद के अन्त में मगण नहीं है।

१७ वीर (आल्हा)—'वीर' अथवा 'आल्हा' छन्द में इकत्तीस मात्राएँ होती हैं। भानु कवि के अनुसार यति—आठ, आठ और पन्द्रह मात्राओं पर होनी चाहिए। पाद के अन्त में क्रमशः एक एक गुरु और एक लघु होता है, जैसे—

कहते हैं—'कवि' की वाणी से होता है जग का उपकार,
उसकी सुभग कल्पना रचती सुन्दर सत्य शिवं साकार।
स्वप्न लोक को छोड़ कल्पने, उतर धरा पर हो साकार,
अमर लोक के दिव्य वर्ण से भू के चित्र रचो इस काल॥

१८. विजय दण्डक—बत्तीस मात्राओं से अधिक मात्राओं वाले छन्द मात्रा दण्ड कहलाते हैं।

विजय दण्डक में चालीस मात्राएँ होती हैं। हर दस मात्राओं के पश्चात् यति आती है। पाद के अन्त में प्रायः नगण आता है। जैसे—

I I I S S I I I S I S S I I I

प्रथम टंकोर झकि झारि संसार मद

S I S S I I S S I I I S I S

चण्ड कोदण्ड रहै मंडि नव खण्ड को।
चलि अचला अचला घालि दिग्-पाल बल
पालि ऋषिराज के वचन प्रचण्ड को।
सोधु वै ईश को, वोध जगदीश को,
कोधु उपजाय भृगु-नन्द वरिवंड को।

बाधि वर स्वर्ग को, साधि अपवर्ग धनु,
भंग को शब्द गयो, भेदि ब्रह्माण्ड को ।।

१९. बरवै—बरवै छन्द में विषम पादों में अर्थात् पहले और तीसरे पाद में बारह-बारह मात्राएँ हैं एवं सम पादों में अर्थात् दूसरे और चौथे पाद में सात-सात मात्राएँ होती हैं। सम पादों में अन्त में प्रायः जगण (।ऽ।) अथवा तगण (ऽऽ।) का प्रयोग किया जाता है, जैसे—

।।। ।ऽऽ ।।।। ऽ ।। ऽ।
अवधि शिला का उर पर, था गुरु भार
।। ।। ऽ।।ऽ ऽ।। । ।ऽ।
तिल तिल काट रही थी, दृग जलधार ।।

२०. दोहा—
इस छन्द के विषम पादों में अर्थात् पहले और तीसरे पाद में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं तथा सम पादों में अर्थात् दूसरे और चौथे पाद में ग्यारह ग्यारह। दोहा के विषम पादों के आदि में जगण (।ऽ।) नहीं रहना चाहिए और अन्त में सगण (।।ऽ), रगण (ऽ।ऽ) और नगण (।।।) में से कोई हो सकता है। सम पादों का अन्तिम वर्ण लघु होना चाहिए। समपाद तुकांत होते हैं—

ऽ। ।।। ।। ऽ।ऽ ।।। ।ऽ।।ऽ।
मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन सदा बसौ बिहारीलाल ।।

२१. सोरठा—
सोरठा छन्द दोहा छन्द का उलटा होता है। अर्थात् इसके समपादों में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं और विषमपादों में ग्यारह-ग्यारह। सोरठे के सम पादों में जगण (ऽ।ऽ) नहीं आना चाहिए। जैसे—

ऽ। ऽ।।ऽ। ऽ।। ।।।। ऽ। ।।
संकर चापु जहाजु सागर रघुवर बाहु बल।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहि मोहबस।।

विषम मात्रिक छन्द

२२ कुण्डलियां—इस विषम मात्रिक छन्द में छः पाद होते हैं। पहले दोनों पाद 'दोहा' के होते हैं और अन्तिम चारों रोला के। 'दोहा' के एक दल अर्धांश

में चौबीस मात्राएँ होती हैं और 'रोला के' प्रत्येक पाद में चौबीस मात्राएँ। दोहे के अन्तिम चरण को रोला के प्रथम चरण में आवृत्ति की जाती है। 'कुण्डलिया' का प्रथम और अन्तिम शब्द एक होना चाहिए। जैसे—

दौलत पाय न कीजिए, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को, ठाऊँ न रहत निदान॥
ठाऊँ न रहत निदान, जियत जग में जस लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सब ही की कीजै॥
कह गिरधर कविराय, अरे यह सब धन तौलत।
पाहुन निसि दिन चारि रहत सबही के दौलत।

२३. छप्पय—

रोला के पद चार, मत चौबीस धारिए।
उल्लाला पद दोय, अन्त मांही सुधारिए॥

'छप्पय छन्द के आदि में 'रोला' के चार पाद और अन्त में उल्लाला के पूर्व दल और उत्तर दल होते हैं, जैसे—

काटा हमने और, खूब पाटी मल मल कर।
पेल पेल कर तेल, निकाला तुझ से जी भर।
फिर दीपक में डाल, तनिक सा तूल मिलाया।
निर्दयता से खोद, खोदकर तुम्हें जलाया॥
हमने तो अस्तित्व तक, नष्ट तुम्हारा कर दिया।
तुमने अहा प्रकाश से, अखिल भुवन को भर दिया॥
जिसकी रज में लोट लोटकर खड़े हुए हैं।
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं॥
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये।
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाये॥
हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृ-भूमि तुमको निरख मग्न क्यों न हों मोद में॥

२४. मिलिन्दपाद—मिलिन्दपाद का शब्दार्थ है भ्रमर। उसके छः पाद होते हैं। उसी के अनुकरण पर इस छन्द का भी नामकरण किया गया हैं। कई

आचार्यों ने इसे षट्पटी कहकर पुकारा है। यदि किसी भी सममात्रिक छन्द के पाद चार के स्थान पर छः हो जाएँ तो उसे उस नाम का मिलिन्दपाद कह देते हैं।

सार मिलिन्दपाद—सार छन्द के छः चरणों से बना पद्य।

ऽ। ऽ। ऽ ऽ। ऽ। ऽ । ।।। ऽऽ ऽऽ

माथ राशि के रूप राशि के अभिनव सांचे ढाली।
नवरस मय यौवन तरंग की लेकर छटा निराली॥

मन्जु अलकारों से सज कर जगमग जगमग करती।
कोमल-कलित ललित छन्दों के नुपुर पहन थिरकती।

गजगामिनी ! अनुपम शोभा की दिव्य विभा दरसाओ।
छम छम करती हृदय कुंज में आओ कविते ! आओ॥

उपरोक्त उदाहरण से २८ मात्राएँ हैं और १६ तथा १२ मात्राओं के पश्चात् यति है। पाद के अन्त में दो गुरु हैं। इसीलिए इसमें 'सार' छन्द के लक्षण हैं, परन्तु छः पाद होने के कारण यह छन्द 'सार मिलिन्दपाद' होगा।

२५. अहीर—'अहीर' छन्द में ग्यारह मात्राएँ होती हैं और अन्त में जगण (।ऽ।) रहता है।

।। ऽ।। ।ऽ।

अति सुन्दर अनि साधु। थिर न रहत थल आधु॥
परम तपोवन मानि। दण्डधारिनी जानि॥

उपरोक्त उदाहरण में ग्यारह मात्राएँ हैं और अन्त में जगण है, इसलिए यहाँ पर 'अहीर' छन्द है।

२६. विजात—'विजात' छन्द में १४ मात्राएँ होती हैं। आदि में लघु रहता है।

।।। ऽऽ। ऽ।। ऽ

चरित है मलय जीवन का, वचन प्रतिबिम्ब है मन का।
सुयस है आयु सज्जन की, सुजनता है प्रभा घन की॥

उपरोक्त उदाहरण में चौदह मात्राएं हैं और आदि में लघु है। इसीलिए यहाँ पर 'विजात' छन्द है।

२७. सुमेरु (प्रभाकर जून १९६१)—'सुमेरु' छन्द में १९ मात्राएं होती

हैं। प्रत्येक पाद का आदिवर्ण लघु रहता है और पाद के अन्त में नगण रहता है। अन्त में तगण, मगण और जगण नहीं आने चाहियें। यति दस-नौ अथवा बारह-सात पर होती है।

भरत को मानती है पाप में क्यों! पड़ेंगे सूर्यवंशी पाप में क्यों?
हुए वे साधु तेरे पुत्र ऐसे—कि होता है कीच से हैं कंज जैसे।

(मैथिलीशरण गुप्त)

उपरोक्त उदाहरण में १६ मात्राएँ हैं। क्रमशः १२ और ७ मात्राओं के पश्चात् यति है। अन्त में यगण है। प्रत्येक पाद का आदि वर्ण लघु है।

२८. मरहठा—'मरहठा' छन्द में २६ मात्राएँ होती हैं। यति दस, आठ और ग्यारह मात्राओं पर होती है। अन्त में क्रम से गुरु और लघु आते हैं।

।।।। ।।S।। S।।S।। ।।S।।।S।
यक दिन रघुनायक सीय सहायक, रति नायक अनुहारी।
शुभ गोदावरी तट, विमल पंच बट, बैठे हुते मुरारी॥
छवि देखत ही तप मदन मथो मन, सूर्पनखा तिहि काल।
प्रति सुन्दर तन करि कुछ धीरज धरि, बोली वचन रसाल॥

(महाकवि आचार्य केशवदास)

उपरोक्त उदाहरण में २६ मात्राएँ यति दस, आठ तथा ग्यारह मात्राओं पर है। अन्त में क्रम से गुरु तथा लघु आये है। इसलिए इसमें 'मरहठा' छन्द है।

२९. उल्लाला—'उल्लाला' छन्द में विषम (प्रथम, तृतीय) पादों में १५-१५ मात्राएँ होती हैं और सम (द्वितीय, चतुर्थ) पादों में १३-१३ मात्राएँ होती हैं।

।। S। S।S S।S ।।SS।। S।S
उस मातृ भूमि की धूलि में जब पूरे सन जायेंगे।
S।। ।।S।।S। ।।S। S ।। SS
होकर भव-बन्धन-मुक्त सम आत्म रूप बन जायेंगे।

(श्री मैथिलीशरण गुप्त)

उपरोक्त उदाहरण में विषम पादों में १५-१५ मात्राएँ हैं। और सम पदों में १३-१३ मात्राएँ हैं। इसीलिए इसमें 'उल्लाला' छन्द है।

३०. गीतिका—यह मात्रिक समछन्द है। इसमें चौदह और बारह मात्राओं

की यति से छब्बीस मात्राएं सोती हैं। अन्त में लघु और गुरु होते हैं। इसका संकेत-सूत्र—'रत्न रवि यति अन्त लग हो तब बनेगा गीतिका'।

उदाहरणार्थ—

SI SS SISS SIS IISS
साधु भक्तों में सुयोगी संयेमी बढ़ने लगे।
SIS S ISS II SISIISIS
सभ्यता की सीढ़ियों पर सूरमा चढ़ने लगे।

३१. हाकिल—यह सम मात्रिक छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में तीन चौकल अर्थात् बारह मात्राएं होती हैं तथा एक गुरु होता है। अर्थात् कुल चौदह मात्राएं होती हैं। इसका स्मरण सूत्र है—'वे चौकल गुरु हाकलि।' उदाहरण के लिए—

II SII S IIII S
जग पीड़ित है अति दुःख से
II SII S IIII S
जग पीड़ित है अति सुख से

३२. सरसा—यह सममात्रिक छन्द है। इसमें २७ मात्राएं होती हैं। १६ और ११ पर यति होती है। अन्त में एक गुरु तथा लघु होता है। सूत्र है—सोलह ग्यारह यति गल में सरसी छन्द सुना जा। जैसे—

SI SI II SI SI SIISS IISI
काम क्रोध मद लोभ मोह की पंचरंगी कर दूर,
IISIII IISS SIISSI.
एक रंग तन मन बाणी में, भरले तू भर पूर

३३. त्रिभगी—यह सममात्रिक छन्द है। त्रिभंगी के प्रत्येक पाद में ३२ मात्राएं होती हैं। १०, ८, ६ पर यति होती है और अन्त में एक गुरु होता है। उदाहरणार्थ—

IISI I SS IIIISSIIIIISIS SS
मुनि शाप जु दीन्हा, अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
SIIII SII II II SIIISSIISISS
देखिउ भरि लोचन, हरि भव मोचन, इहैं लाभ शंकर जाना।

———